महान् देशों का आर्थिक विकास

(Economic Development Of Specified Countries)

[ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, सोवियत संघ तथा जापान]

सरल-अध्ययन

[राँची, मगध, मिथिला, भागलपुर, बिहार एवं पटना विश्वविद्यालय की बी० ए० त्रिवर्षीय डिग्री कोर्स (ऑनर्स) की कक्षाओं तथा अन्य विश्वविद्यालयों की स्नातकोत्तर कक्षाओं के नवीनतम् पाठ्यक्रमानुसार परीक्षा प्रश्नों की परिवर्तित नवीन शैली के आधार पर आगामी परीक्षा की दृष्टि से सम्भावित प्रश्न तथा उनके उत्तर]

लेखक :

प्रो० रमेश चन्द्र शर्मा,

एम० ए०,

(अर्थशास्त्र एवं वाणिज्य की अनेक श्रेष्ठ पुस्तकों के सुविख्यात लेखक)

महान् राष्ट्रों की समीचीन नवीन आर्थिक नीतियों, विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के सम्पूर्ण आलोचनात्मक विवरण तथा विषय की नवीनतम् सूचनाओं और अधुनातम् आंकड़ों सहित वैज्ञानिक विवेचना से परिपूर्ण एक अद्वितीय पुस्तक

प्रकाशक :

रांची, मगध, मिथिला, भागलपुर, बिहार एवं पटना विश्वविद्यालय की बी० ए० त्रिवर्षीय डिग्री कोर्स (पास एवं ऑनर्स) की कक्षाओं के लिये हमारे अन्य लोकप्रिय सरल-अध्ययन

○ प्रकाशक :
राजीव प्रकाशन,
लालकुर्ती, मेरठ कैन्ट—250001
☎ 72251, 75427

○ प्रथम संस्करण 1989–90

○ मूल्य : रु० 26·80 मात्र
○ मुद्रक : विजय एण्ड विजय प्रिन्टर्स, मेरठ।

विषय-क्रम

खण्ड—1

आर्थिक विकास की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि
(Theoretical Background of Economic Development)

खण्ड—2

ग्रेट-ब्रिटेन का आर्थिक विकास
(Economic Development of Great Britain)

खण्ड—4

सोवियत संघ का आर्थिक विकास
(Economic Development of Soviet Union)

आर्थिक विकास की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि
(Theoretical Background of Economic Development)

1. आर्थिक विकास की प्रकृति एवं माप
2. आर्थिक विकास के निर्धारक
3. आर्थिक विकास की अवस्थायें
4. राज्य एवं आर्थिक विकास
5. कृषिजन्य बनाम औद्योगिक विकास
6. 19वीं शताब्दी का आर्थिक विकास

स्मरणीय वाक्य

1. "आर्थिक विकास ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी अर्थव्यवस्था की वास्तविक राष्ट्रीय आय में दीर्घकाल तक वृद्धि होती है।"
—मेयर और बाल्डविन

2. "आर्थिक विकास का अभिप्राय वस्तुओं और सेवाओं के बढ़ते हुए प्रवाह के रूप में परिलक्षित भौतिक कल्याण की स्थिर एवं अनन्त वृद्धि से है।"
—ओकुन एवं रिचर्डसन

3. "विकास असम्भव होगा, यदि यह देशवासियों के मस्तिष्क में घर न कर जाए।" —केयर्नक्रॉस

4. "सरकार का व्यवहार आर्थिक क्रियाओं को हतोत्साहित या प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कोई भी राष्ट्र योग्य सरकार के बिना आर्थिक प्रगति नहीं कर सका है।" —आर्थर लुईस

5. "आर्थिक विकास मानवीय गुणों, सामाजिक अभिरुचियों, राजनीतिक दशाओं तथा ऐतिहासिक घटनाओं से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है।" —रागनर नर्क्से

6. "आर्थिक विकास की गति पूँजी-स्टॉक (व्यावहारिक ज्ञान के भण्डार सहित) तथा श्रमशक्ति के आकार में परिवर्तन का फल है।" —रोस्टोव

7. "प्राकृतिक संसाधन आर्थिक विकास का मार्ग निर्धारित करते हैं तथा वह चुनौती स्थापित करते हैं जिसे मानव-मस्तिष्क द्वारा स्वीकारा या नकारा जा सकता है।" —आर्थर लुईस

8. "पूँजी प्राकृतिक संसाधन, विदेशी सहायता तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सामान्यतः आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण अंशदान करते हैं, किन्तु जनशक्ति की बराबरी कोई नहीं कर सकता।" —हार्बिसन

9. "19वीं शताब्दी के आर्थिक विकास का इतिहास मध्य एवं पूर्वी यूरोप के सामन्तवादी कृषि-प्रधान देशों पर इंगलैण्ड और फ्रांस दो महान राष्ट्रों के आविष्कारों एवं विचारों के प्रयोग का इतिहास है।" —नोल्स

10. "प्रत्येक प्रगतिशील अर्थव्यवस्था में रोजगार एवं निवेश का प्राथमिक क्रियाओं से द्वितीयक क्रियाओं की ओर तथा उनसे भी अधिक तृतीयक क्रियाओं की ओर सतत् हस्तान्तरण होता है।" — ए० जी० बी० फिशर

1

आर्थिक विकास की प्रकृति एवं माप
(Nature and Measurement of Economic Development)

प्रश्न 1—'आर्थिक विकास' को परिभाषित कीजिये तथा इसकी प्रकृति का उल्लेख कीजिए।

Define economic development and describe its nature.

उत्तर—आर्थिक विकास मानवीय आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति का एकमात्र साधन है। अल्पविकसित देशों में विद्यमान निर्धनता, बेरोजगारी, आर्थिक विषमता तथा बाजार सम्बन्धी अपूर्णतायें समाप्त करने का एकमात्र उपाय आर्थिक विकास ही है।

आर्थिक विकास की परिभाषाएं—विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने 'आर्थिक विकास' को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से परिभाषित किया है। मेयर (Meier) और बाल्डविन (Baldwin), साइमन कुजनेट्स (Simon Kuznets), पॉल एल्बर्ट (Paul Albert) और यंगसन (Youngson) ने आर्थिक विकास का अर्थ 'वास्तविक राष्ट्रीय आय में दीर्घकालीन वृद्धि' माना है। मेयर और बाल्डविन के शब्दों में, **"आर्थिक विकास ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा किसी अर्थव्यवस्था की वास्तविक राष्ट्रीय आय में दीर्घकाल तक वृद्धि होती है।'** इस परिभाषा में 'प्रक्रिया' शब्द का अर्थ अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगों में परिवर्तन से है, जिसका सामान्य परिणाम राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि होता है। इन परिवर्तनों का सम्बन्ध साधनों की माँग और पूर्ति में परिवर्तन से है। 'साधनों की माँग में परिवर्तन' जनसंख्या का आकार, आय का स्तर एवं वितरण, फैशन और रुचि बदलने के कारण होते हैं। 'साधनों की पूर्ति में परिवर्तन' जनसंख्या में वृद्धि, अतिरिक्त साधनों की खोज, पूँजी-संचय, नई तकनीक का प्रयोग तथा कौशल-वृद्धि के कारण होते हैं। परिभाषा में 'वास्तविक राष्ट्रीय आय' का अर्थ किसी राष्ट्र द्वारा एक वर्ष के भीतर उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के विशुद्ध मूल्य से है। 'निरन्तर या दीर्घकालीन वृद्धि' का अर्थ राष्ट्रीय उत्पादन में स्थिर (Sustained) वृद्धि से है। व्यापार चक्र की ऊर्ध्वगति के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय में हुई अल्पकालीन वृद्धि को 'आर्थिक विकास' की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

आर्थर लुईस (Arthur Lewis), जैकब वाइनर (Jacob Viner), बुकानन (Buchanan) और एलिस (Ellis), विलियमसन (Williamson) और बट्रिक

(Buttrick), हार्वे लिबेन्सटीन (Harvey Leibenstein) तथा वाल्टर क्राउज (Walter Krause) ने आर्थिक विकास का अर्थ 'प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में दीर्घकालीन वृद्धि' स्वीकार किया है। ऐसी वृद्धि रहन-सहन के स्तर में सुधार की पूर्व-आवश्यकता होती है। यह तभी सम्भव है, जबकि वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर जनसंख्या-वृद्धि की दर से ऊंची हो। वाल्टर क्राउज के शब्दों में, **"आर्थिक विकास का अभिप्राय उस प्रक्रिया से है, जिसका केन्द्रीय उद्देश्य ऊंची और वृद्धिशील प्रति व्यक्ति वास्तविक आय प्राप्त करना होता है।"** विलियमसन और बट्रिक के अनुसार, **"आर्थिक विकास का अभिप्राय उस प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा किसी क्षेत्र के निवासी उपलब्ध संसाधनों का प्रयोग प्रतिव्यक्ति वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन बढ़ाने में करते हैं।"**

ओकुन (Okun) एवं रिचर्डसन (Richardson), जुसावाला (Jussawala) तथा डी० ब्राइटसिंह (D. Brightsingh) ने आर्थिक विकास का अर्थ 'आर्थिक कल्याण में वृद्धि' बताया है। यह तभी सम्भव है, जबकि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि के साथ-साथ आय एवं सन्तुष्टि की असमानताएं घटती जायें। ओकुन और रिचर्डसन के शब्दों में, **"आर्थिक विकास का अभिप्राय वस्तुओं और सेवाओं के बढ़ते हुए प्रवाह के रूप में परिलक्षित भौतिक कल्याण में स्थिर एवं अनन्त वृद्धि से है।"** डी० ब्राइटसिंह के अनुसार, **"आर्थिक विकास विविधमुखी प्रक्रिया है। इसमें केवल मौद्रिक आय की वृद्धि ही सम्मिलित नहीं है; अपितु, पूर्ण एवं सुखी जीवन की सृजनकर्त्ता वास्तविक आदतें, शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, अधिक आराम तथा सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन भी सम्मिलित हैं।"**

परिभाषाओं की समीक्षा—'राष्ट्रीय आय में निरन्तर वृद्धि' को आर्थिक विकास मानने वाली परिभाषाओं में जनसंख्या-सम्बन्धी परिवर्तनों की अवहेलना की गई है। यदि राष्ट्रीय आय की अपेक्षा जनसंख्या तेजी से बढ़ती है; तब प्रतिव्यक्ति आय में गिरावट आ जाएगी, जिसे 'आर्थिक अवनति' का प्रतीक माना जाएगा। 'प्रतिव्यक्ति आय में सतत् वृद्धि' को आर्थिक विकास मानने वाली परिभाषाएं समाज की संरचना, इसकी संस्थाएं एवं संस्कृति, साधन-प्रतिरूप, जनसंख्या का आकार एवं बनावट, समाज में उत्पादन का समान या असमान वितरण आदि, विषयों की अवहेलना करती हैं। यदि बढ़ी हुई आय कुछेक व्यक्तियों के अधिकार में चली जाती है या सैनिक उद्देश्यों पर खर्च कर दी जाती है या व्यक्ति अधिक बचत करने लगते हैं, तब प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि के बावजूद जनसाधारण का रहन-सहन का स्तर नीचा बना रहेगा।

सैद्धान्तिक दृष्टि से 'आर्थिक कल्याण में वृद्धि' को आर्थिक विकास का ठोस सूचक माना जा सकता है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि के बावजूद, आय के असमान वितरण के कारण, आर्थिक कल्याण में वृद्धि सम्भव नहीं होगी। यदि राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ कष्ट और

त्याग के रूप में वास्तविक लागत भी बढ़ जाए, तब ऐसी स्थिति आर्थिक कल्याण में वृद्धि की सूचक नहीं मानी जा सकती। आर्थिक कल्याण की माप करते समय कुल उत्पादन की रचना तथा उसके मूल्यांकन पर विचार करना होता है। सम्भव है कि पूंजीगत-वस्तुओं के कारण कुल उत्पादन का आकार बढ़ा हुआ दिखाई दे या बढ़ी हुई बाजार-कीमतों के आधार पर कुल उत्पादन का मूल्यांकन करने के कारण प्रतिव्यक्ति आय बढ़ी हुई जान पड़े; किन्तु ऐसी स्थिति में जनसाधारण के उपभोग-स्तर में सुधार असम्भव होगा।

मूल्य-निर्णयों (Value-Judgements) से बचने तथा विश्लेषण की सरलता के विचार से अधिकांश अर्थशास्त्री 'प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में दीर्घकालीन वृद्धि' को ही आर्थिक विकास का प्रतीक मानते हैं। अतः **'आर्थिक विकास' को ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसके द्वारा प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में दीर्घकाल तक वृद्धि होती है।**

आर्थिक विकास की प्रकृति—आर्थिक विकास अनिवार्य रूप से 'परिवर्तन की प्रक्रिया' है। विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत आर्थिक तत्वों में परिवर्तन द्वारा ही वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। कौलिन क्लार्क (Colin Clark) की राय में विकास की प्रक्रिया द्वारा गतिशील अर्थव्यवस्था में जनसंख्या, पूंजी, उत्पादन-तकनीक, उपभोक्ताओं की आदतें, औद्योगिक संगठन की विधियाँ, आदि निरन्तर बदलती रहती हैं। स्पष्टतः आर्थिक विकास का 'आर्थिक स्थैतिकी' (Economic Statics) से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह 'आर्थिक प्रावैगिकी' (Economic Dynamics) का ही अंग है। 'विकास का अर्थशास्त्र' अर्थव्यवस्था को साम्य की एक स्थिति से दूसरी ऊंची स्थिति तक ले जाने के लिए आवश्यक आर्थिक शक्तियों का अध्ययन है। इन शक्तियों का अभिसाधन (Manipulation) उस समय आवश्यक हो जाता है, जब किसी विकसित अर्थव्यवस्था को व्यावसायिक मन्दी से उबारना हो या अल्पविकसित अर्थव्यवस्था को गतिहीनता से मुक्ति दिलानी हो या अर्थव्यवस्था में अभिवृद्धि का प्रभाव रोकना हो या युद्धकालीन परिस्थितियों की समीचीन नई साम्य-स्थिति की व्यवस्था करनी हो।

आर्थिक विकास एक संचयी प्रक्रिया है, जो आर्थिक प्रणाली में बहुत-से परिवर्तन लाती है। आर्थिक विकास के निर्धारक निरन्तर बदलते रहते हैं, जो आर्थिक प्रगति की दर और दिशा तय करते हैं। आर्थिक विकास का मुख्य उद्देश्य अर्थव्यवस्था के समस्त क्षेत्रों में उत्पादकता का ऊँचा स्तर प्राप्त करना होता है। इसके लिए विकास की प्रक्रिया गतिशील बनानी पड़ती है। इस तरह, आर्थिक विकास मूलतः गतिशील है।

प्रश्न 2—क्या आर्थिक विकास को मापने का कोई सन्तोषजनक मापदण्ड है ?

In there any satisfactory criteria for measuring economic development ?

अथवा

आर्थिक विकास के विभिन्न सूचकों का उल्लेख कीजिए।

Describe the various indicators of economic development.

उत्तर—आर्थिक विकास के धनात्मक, ऋणात्मक और शून्य तीन रूप हो सकते हैं। 'धनात्मक आर्थिक विकास' का अभिप्राय राष्ट्रीय आय में सतत् वृद्धि से है, जबकि राष्ट्रीय आय में निरन्तर ह्रास 'ऋणात्मक आर्थिक विकास' कहलाता है। शून्य आर्थिक विकास' की स्थिति तब मानी जाती है, जब राष्ट्रीय आय मे न तो वृद्धि हो और न ह्रास। व्यवहार में 'आर्थिक विकास' शब्द का प्रयोग धनात्मक रूप में ही किया जाता है।

आर्थिक विकास के मापदण्ड या सूचक

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत आर्थिक विकास के विभिन्न मापदण्ड (या सूचक) निम्नलिखित हैं—

(1) **राष्ट्रीय आय**—उत्पादन की प्रक्रिया में प्रयुक्त सन्यन्त्र एवं मशीनरी की मूल्य-ह्रास लागत घटाते हुए 'राष्ट्रीय आय' एक वर्ष की अवधि के भीतर किसी देश में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का कुल द्रव्य-मूल्य होती है। मेयर (Meier) और बाल्डविन (Baldwin), हैबरलर (Haberler), साइमन कुजनेट्स (Simon Kuznets), यंगसन (Youngson) और मीड (Meade) ने 'वास्तविक राष्ट्रीय आय में दीर्घकालीन वृद्धि' को आर्थिक विकास का मापदण्ड बताया है।

यथार्थ में आर्थिक विकास का यह मापदण्ड जनसंख्या के आकार में उपस्थित परिवर्तनों पर विचार नहीं करता। यदि राष्ट्रीय आय की अपेक्षा जनसंख्या तेजी से बढ़ती है, तब इसे आर्थिक अवनति का प्रतीक माना जाएगा। यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि पूंजीगत-पदार्थों या सैनिक-सामग्री का उत्पादन बढ़ने के कारण हुई है, तब इससे जनसाधारण के उपभोग-स्तर में कोई वृद्धि नहीं होगी। यदि राष्ट्रीय आय बढ़ने पर जनता दुर्व्यसनों की ओर अग्रसर होती है, तब आर्थिक कल्याण बढ़ने की बजाय घट जाएगा। यदि राष्ट्रीय आय बढ़ने के साथ उसकी सामाजिक लागत भी बढ़ जाए, तब ऐसी स्थिति आर्थिक कल्याण की प्रतीक नहीं मानी जा सकती।

(2) **प्रतिव्यक्ति आय**—राष्ट्रीय आय को देश की कुल जनसंख्या से भाग देकर 'प्रतिव्यक्ति आय' ज्ञात होती है। राष्ट्रीय आय बढ़ने पर प्रतिव्यक्ति आय का बढ़ना सदैव अनिवार्य नहीं होता। आर्थर लुईस (Arthur Lewis), किण्डलेबर्जर (Kindleberger), बुकानन (Buchanan) और एलिस (Ellis) ने 'प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि' को आर्थिक विकास का उपयुक्त मापदण्ड बताया है। 'प्रतिव्यक्ति आय' औसत देशवासी के रहन-सहन के स्तर (या उपभोग-स्तर) और बचत-क्षमता की प्रतीक होती है। इसके द्वारा विभिन्न देशों की आर्थिक प्रगति का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव है। आर्थिक विकास की सार्थकता के लिए जनसंख्या की अपेक्षा राष्ट्रीय आय तेजी से बढ़नी चाहिए, ताकि प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि हो सके।

परन्तु आर्थिक विकास के मापदण्ड की कुछ सीमाएं भी हैं, जो सभी

व्यवहारिक हैं। यह मापदण्ड समाज की संरचना, साधन-प्रतिरूप, जनसंख्या का आकार और बनावट संस्थाएं और संस्कृति, आय एवं सम्पत्ति का वितरण, आदि, विषयों पर विचार नहीं करता। यदि बढ़ी हुई आय का अधिकांश भाग गिने-चुने व्यक्तियों को प्राप्त होता है या सैन्य-सामग्री पर खर्च कर दिया जाता है, तब इससे जनसाधारण के उपभोग-स्तर में कोई वृद्धि नहीं होगी। अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में विशाल अमौद्रिक क्षेत्र की विद्यमानता, आर्थिक क्रियाओं में विशिष्टीकरण का अभाव, कृषि-क्षेत्र का अधिकांश उत्पादन स्व-उपभोग के निमित्त रख लिया जाना, निरक्षर उत्पादकों द्वारा आय-व्यय का विवरण न रक्खा जाना, आदि, कारणों से राष्ट्रीय आय की गणना जटिल कार्य होता है। कीमत-परिवर्तन के प्रभावों से राष्ट्रीय उत्पादन के मूल्यांकन को मुक्त रखने में विशेष कठिनाइयाँ आती हैं। अल्पविकसित देशों में जनांकिकीय समंक (जिनके द्वारा राष्ट्रीय आय को भाग देकर प्रतिव्यक्ति आय ज्ञात करनी होती है) भी विश्वसनीय नहीं होते।

(3) **आर्थिक कल्याण**—'आर्थिक कल्याण' का अर्थ किसी व्यक्ति या समाज को आर्थिक वस्तुओं एवं सेवाओं के प्रयोग से प्राप्त सन्तुष्टि से है। ओकुन (Okun) और रिचर्डसन (Richardson), जुसावाला (Jussawala) और डी० ब्राइटसिंह (D. Brightsingh) ने 'आर्थिक कल्याण में वृद्धि' को आर्थिक विकास का मापदण्ड ठहराया है। डॉ० वी० के० आर० वी० राव की राय में 'आर्थिक विकास' तभी घटित माना जाएगा, जब राष्ट्रीय आय के वितरण में समाज के कमजोर वर्गों का हिस्सा बढ़े।

आर्थिक विकास के इस मापदण्ड की कुछ सीमाएं भी हैं। यदि राष्ट्रीय आय के वितरणात्मक पहलू पर ध्यान नहीं दिया जाए, तब आर्थिक कल्याण में वृद्धि-मात्र से अधिक विकास की उपस्थिति नहीं मानी जा सकती। यदि कुल उत्पादन में वृद्धि पूंजीगत-वस्तुओं की मात्रा बढ़ जाने के कारण होती है, तब जनसाधारण के उपभोग-स्तर में कोई वृद्धि नहीं होगी। यदि उत्पादन-वृद्धि के साथ-साथ त्याग और कष्ट के रूप में वास्तविक लागत भी बढ़ जाती है, तब आर्थिक कल्याण बढ़ने की बजाय घट जाएगा। वस्तुतः 'कल्याण' एक अमूर्त विचार है, जिसका निरपेक्ष माप सम्भव नहीं है। विकासशील देशों में उपभोग को प्रोत्साहित करने का अर्थ घरेलू बचत एवं निवेश को हतोत्साहित करना होगा। इन देशों में घरेलू एवं निवेशक का स्तर ऊपर उठाने के लिए उपभोग पर नियन्त्रण आवश्यक होता है।

(4) **व्यवसायिक ढांचा**—किसी देश की कार्यशील जनसंख्या (श्रमशक्ति) का विभिन्न उत्पादक क्रियाओं के बीच वितरण ही अमुक देश का व्यावसायिक ढाँचा कहलाता है। उत्पादक क्रियायें 'प्राथमिक', 'द्वितीयक' और 'तृतीयक' तीन प्रकार की होती हैं। कृषि, मछली पकड़ना, पत्थरों की खुदाई, जंगल काटना, आदि, प्राथमिक क्रियाओं के उदाहरण हैं। खनिज व्यवसाय, विनिर्माणी उद्योग, गैस तथा बिजली

का उत्पादन द्वितीयक क्रियाओं के अन्तर्गत आता है। तृतीयक क्रियाओं में परिवहन एवं संचार, भण्डारण और वितरण, मनोरंजन और लोक प्रशासन को सम्मिलित किया जाता है। कौलिन क्लार्क (Colin Clark) तथा फिशर (Fisher) ने व्यावसायिक ढाँचे को आर्थिक विकास का मापदण्ड स्वीकार किया है। उनकी राय में विकास की प्रक्रिया जैसे-जैसे आगे बढ़ती है, प्राथमिक क्रियाओं में संलग्न श्रमशक्ति का अनुपात घटता जाता है, किन्तु द्वितीयक एवं तृतीयक क्रियाओं में संलग्न श्रमशक्ति का अनुपात बढ़ता जाता है।

आर्थिक विकास के इस मापदण्ड की कुछ सीमायें भी हैं। पूर्ण विशिष्टीकरण के अभाव में अल्पविकसित देशों में सुलझा हुआ व्यावसायिक वर्गीकरण सम्भव नहीं है। प्राथमिक क्रियाओं में अधिक श्रमशक्ति की संलग्नता सदैव कल्याण या विकास के निम्न स्तर की सूचक नहीं होती। इसी तरह, तृतीयक क्रियाओं में अधिक श्रमशक्ति की संग्लनता को भी विकास या कल्याण के ऊँचे स्तर का प्रतीक नहीं माना जा सकता। विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में तृतीयक क्षेत्र (सेवा-क्षेत्र) की अधिक मात्रा में आवश्यकता के कारण इस क्षेत्र में अधिक व्यक्तियों को रोजगार सुलभ हो सकता है।

(5) **जनसंख्या का घनत्व**—कुछ विद्वानों ने 'जनसंख्या के घनत्व' को आर्थिक विकास का मापदण्ड स्वीकार किया है। उनकी राय में जनसंख्या का ऊँचा घनत्व अल्पविकास का सूचक है। विकसित अर्थव्यवस्था में जनसंख्या का घनत्व नीचा होता है।

व्यवहार में जनसंख्या का ऊंचा या नीचा घनत्व सदैव ही विपन्नता या सम्पन्नता का प्रतीक नहीं होता। इंगलैण्ड और पश्चिमी जर्मनी में जनसंख्या का घनत्व ऊंचा है, किन्तु ये दोनों 'विकसित देश' हैं। मिस्र और भारत की आर्थिक स्थिति एक-जैसी है, किन्तु दोनों देशों के जनसंख्या-घनत्व में भारी अन्तर है।

(6) **विकास की सामान्य एवं वास्तविक दरों में अन्तर**—विकास की सामान्य या स्वाभाविक दर वह है जिस पर विकास होना चाहिये। इसे प्रत्याशित या प्रमाणित दर भी कहा जाता है। दूसरी ओर विकास की वास्तविक दर वह है जिस पर यथार्थ में विकास होता है। हैरोड (Harrod) के मतानुसार 'विकसित' अर्थव्यवस्था में विकास की सामान्य एवं वास्तविक दरें एक-समान होती हैं। जिस अर्थव्यवस्था में विकास की 'सामान्य दर' वास्तविक दर से ऊंची है, वह अधिक विकासोन्मुख मानी जायेगी परन्तु जिस अर्थव्यवस्था में विकास की सामान्य दर वास्तविक दर से नीची है, वह 'अल्पविकसित' मानी जाएगी।

निष्कर्ष—आजकल अधिकांश अर्थशास्त्री 'प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि' को ही आर्थिक विकास का उपयुक्त मापदण्ड स्वीकार करते है। आर्थिक विकास के अन्य मापदण्डों की अपेक्षा यही मापदण्ड अधिक सन्तोषप्रद है।

प्रश्न 3—आर्थिक विकास, आर्थिक वृद्धि एवं आर्थिक प्रगति के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिये।

Clarify the difference between economic development, economic growth and economic progress.

उत्तर—बहुधा 'आर्थिक विकास' (Economic Development), 'आर्थिक प्रगति' (Economic Progress), 'आर्थिक वृद्धि' (Economic Growth), 'आर्थिक कल्याण' (Economic Welfare) और 'चिरकालीन परिवर्तन' (Secular Change) का प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में किया जाता है। पॉल ए० बेरन (Paul A. Baran) की राय में 'विकास' और वृद्धि' शब्द किसी पुरानी अवस्था से नई अवस्था की ओर संक्रमण के सकेत मात्र हैं। 'आर्थिक विकास' को परिभाषित करते समय यदि यंगसन (Youngson) ने 'प्रगति' शब्द का प्रयोग किया है तब विलियमसन (Williamson) और बट्रिक (Buttrick) ने 'वृद्धि' शब्द का तथा मेयर (Meier) और बाल्डविन (Baldwin) ने 'विकास' शब्द का प्रयोग किया है। इन शब्दों के बीच अन्तर करने वाले जोसफ शुम्पीटर (Joseph Schumpetar) प्रथम अर्थशास्त्री थे। अन्तर करने वाले अन्य अर्थशास्त्री हैं—श्रीमती उर्सला हिक्स (Mrs Ursula Hicks), एलन बरेरी (Allan Barrere), डी० ब्राइटसिंह (D. Brightsingh) तथा अल्फ्रेड बोन (Alfred Bonne)।

आर्थिक वृद्धि, आर्थिक विकास एवं आर्थिक प्रगति में अन्तर

'आर्थिक प्रगति' एक व्यापक शब्द है, जिसमें 'आर्थिक वृद्धि' एवं 'आर्थिक विकास' दोनों ही सम्मिलित हैं। आर्थिक प्रगति के अन्तर्गत परिसम्पत्तियों या 'आर्थिक विकास' दोनों ही सम्मिलित हैं। आर्थिक प्रगति के अन्तर्गत परिसम्पत्तियों या आर्थिक साधनों में वृद्धि के फलस्वरूप व्यक्ति, संस्था, समुदाय या राष्ट्र की उन्नति निहित है। जहाँ आर्थिक प्रगति 'समृद्धि' की सूचक है, वहीं आर्थिक अवनति 'अभाव एवं निर्धनता' की। आर्थिक प्रगति यदि सामाजिक-राजनीतिक प्रगति सम्भव बनाती है, तब 'आर्थिक अवनति' बेरोजगारी एवं अज्ञानता के कारण निर्धनता का पोषण करती है। निर्धनता के कारण अभाव और बीमारियाँ बढ़ती हैं। जब किसी देश के निवासियों को पौष्टिक आहार, पर्याप्त वस्त्र, स्वच्छ आवास तथा अन्य सुविधायें समुचित मात्रा में सुलभ होती हैं, तब ऐसा देश आर्थिक प्रगति करता हुआ माना जाता है। ऐसे देश में प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों का कुशल उपयोग होता है। कृषि एवं खनिजों का उत्पादन बढ़ता है। उद्योगों का विस्तार होता है या नए उद्योग आरम्भ होते हैं। यन्त्रों एवं वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रचलन तथा शक्ति का प्रयोग बढ़ता है। व्यापार (मुख्यतः) निर्यात व्यापार) बढ़ता है। बैंकिंग एवं बीमा व्यवसाय, परिवहन एवं संचार सुविधाओं का विस्तार होता है। शिक्षा, स्वास्थ्य तथा दूसरी सेवाओं के कारण श्रम की उत्पादकता बढ़ती है। बरेरी की राय में 'आर्थिक प्रगति' का अभिप्राय प्रतिव्यक्ति में वृद्धि से

से है, जबकि 'आर्थिक वृद्धि का अभिप्राय जनसंख्या और कुल उत्पादन दोनों में वृद्धि से है।

प्राय: 'आर्थिक प्रगति' के स्थान पर 'आर्थिक वृद्धि' या 'आर्थिक विकास' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। आर्थिक वृद्धि तथा आर्थिक विकास एक-दूसरे के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। सच्चाई यह है कि 'विकास' शब्द में 'वृद्धि' शब्द का अर्थ भी निहित है। यह 'वृद्धि' या 'विस्तार' शब्द से अधिक व्यापक है। यदि 'आर्थिक वृद्धि' का अर्थ मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हेतु वैकल्पिक प्रयोग वाले सीमित साधनों से मितव्ययी उपयोग से है, तब 'आर्थिक विकास' का अर्थ मानवीय आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने वाली शक्ति में वृद्धि से है। केवल सम्पत्तियों में वृद्धि ही 'आर्थिक विकास' नहीं है। रोजगार, उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपभोग में परिवर्तन के फलस्वरूप रहन-सहन के स्तर में हुई उन्नति भी 'आर्थिक विकास' है। यह सापेक्ष, सतत्, समग्र, गतिशील और संरचनात्मक परिवर्तनों की उस प्रक्रिया का परिणाम है, जो विभिन्न आर्थिक एवं अनार्थिक घटकों, संस्थागत आचरणों, निर्णयों एवं प्रभावों के अन्तर्सम्बन्धों, सह-सम्बन्धों तथा सम्बन्धों द्वारा संचालित होती है। बहुधा आर्थिक विकास को राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि रहन-सहन के स्तर में सुधार या पूंजी-निर्माण की दर में वृद्धि के माध्यम से सूचित किया जाता है। आर्थिक विकास या तो स्वतन्त्र बाजार प्रणाली के अन्तर्गत स्वभाविक रूप से घटित हो सकता है या सरकारी निर्देशन एवं नियन्त्रण द्वारा।

कुछ विद्वानों की राय में विकसित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में 'वृद्धि' शब्द का तथा अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में 'विकास' शब्द का प्रयोग होना चाहिये। डी० ब्राइटसिंह के अनुसार, विकसित पूंजीवादी देशों में 'आर्थिक विस्तार' स्वाभाविक एवं स्वचालित होता है, किन्तु अल्पविकसित देशों में आर्थिक विस्तार हेतु बाहरी प्रेरणा एवं सरकारी निर्देशन की आवश्यकता होती है। अत: वृद्धि शब्द पर विकसित अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में तथा 'विकास' शब्द पर अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में विचार किया जा सकता है। अल्फ्रेड बोन की राय में 'वृद्धि' स्वाभाविक प्रकृति की होती है किन्तु 'विकास' के अन्तर्गत विस्तारवादी शक्तियां उत्पन्न करने के लिये बाहरी नियमन और निर्देशन की आवश्यकता होती है। श्रीमति उर्सला हिक्स की राय में 'वृद्धि' शब्द विकसित देशों (जहां संसाधन ज्ञात एवं विकसित होते हैं) के लिये तथा 'विकास' शब्द विकसित देशों (जहां अप्रयुक्त साधनों के प्रयोग तथा अज्ञात साधनों की खोज की सम्भावनायें विद्यमान होती हैं) के लिये उपयुक्त है। मैड्डीसन (Maddison) के अनुसार, धनी देशों में आय का बढ़ता हुआ स्तर 'आर्थिक वृद्धि' का सूचक होता है; जबकि निर्धन देशों में आय का बढ़ता हुआ स्तर 'आर्थिक विकास' का।

शुम्पीटर के अनुसार, 'आर्थिक वृद्धि' दीर्घकाल में प्रायः स्थिर होती है तथा जनसंख्या एवं बचत सरीखे साधनों में सामान्य वृद्धि के कारण उत्पन्न होती है। दूसरी ओर, 'आर्थिक विकास' वह आकस्मिक परिवर्तन है जो विस्तार की उत्कट भावना से गति प्राप्त करता है। मानव-शरीर में रक्त-प्रवाह की तरह, आर्थिक वृद्धि के अन्तर्गत आर्थिक जीवन का चक्राकार प्रवाह (Circular Flow) होता है। इसके अन्तर्गत किसी नए तत्व का सृजन या समावेश नहीं होता, जबकि आर्थिक विकास के अन्तर्गत नई सृजनात्मक शक्तियां सम्मिलित होती है। आर्थिक **वृद्धि के अन्तर्गत निरन्तर होने वाले परिवर्तन ग्राह्यकारी प्रत्युत्तर का सृजन करते हैं, किन्तु 'आर्थिक विकास' के अन्तर्गत रुक-रुक कर होने वाले परिवर्तन सृजनात्मक प्रत्युत्तर में फलीभूत होते हैं।** किण्डलेबर्जर के अनुसार, 'आर्थिक वृद्धि' का अर्थ केवल उत्पादन में वृद्धि से है, जबकि 'आर्थिक विकास' का अर्थ उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ संस्थागत एवं तकनीकी के परिवर्तनों से भी है। 'आर्थिक-प्रगति का अर्थ केवल प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि से है, जो 'आर्थिक वृद्धि' के बिना भी सम्भव है। जब कुल आय में गिरावट आ जाये, तब यह 'वृद्धि के बिना प्रगति' की स्थिति मानी जायेगी।

अर्थशास्त्र के एवरीमैन शब्दकोष (Everymans Dictionary of Economics) के अनुसार, **'आर्थिक विकास' का सामान्य अभिप्राय आर्थिक वृद्धि से है। किन्तु इसका विशिष्ट अभिप्राय आर्थिक वृद्धि को जन्म देने वाले सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों से है।** 'आर्थिक वृद्धि' मापनीय और वस्तुनिष्ट है। यह श्रमशक्ति पूँजी व्यापार की मात्रा तथा उपभोग में विस्तार की सूचक है। दूसरी ओर 'आर्थिक विकास आर्थिक वृद्धि के निर्धारकों का प्रतीक है। एलन बरेरी ने आर्थिक वृद्धि के 'प्रगतिशील', 'प्रगतिगामी' और 'स्थिर' तीन रूप बतायें हैं। 'प्रगतिशील वृद्धि' के अन्तर्गत जनसंख्या की अपेक्षा राष्ट्रीय उत्पादन तेजी से बढ़ता है, जबकि 'प्रतिगामी वृद्धि' के अन्तर्गत राष्ट्रीय उत्पादन की अपेक्षा जनसंख्या तेजी से बढ़ती है। जब राष्ट्रीय आय तथा जनसंख्या समान दर से बढ़ें, तब यह 'स्थिर वृद्धि' की स्थिति मानी जाएगी।

संयुक्त राष्ट्र संघ की राय में आर्थिक विकास मानव जीवन की भौतिक समुन्नति के साथ-साथ सामाजिक समुन्नति से भी सम्बन्धित है। अतः 'आर्थिक विकास' की परिधि में आर्थिक वृद्धि के साथ-साथ आर्थिक वृद्धि को जन्म देने वाले सामाजिक, आर्थिक एवं संस्थागत परिवर्तन भी सम्मिलित होते हैं। 'आर्थिक विकास' सापेक्ष एवं गतिशील सम्बोधन है। यह आकार में वृद्धि के साथ-साथ संरचनात्मक परिवर्तनों तथा उनके फलस्वरूप उपस्थित सुधारों का भी प्रतीक है।

2

आर्थिक विकास के निर्धारक

(Determinants of Economic Development)

प्रश्न 1—किसी देश के आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाले घटकों का परीक्षण कीजिए।

Examine the factors which influence the economic development of a country.

उत्तर— किसी देश का आर्थिक विकास जिन घटकों पर निर्भर करता है, वे 'आर्थिक' एवं 'अनार्थिक' दो प्रकार के होते हैं। आर्थिक घटकों में प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों, पूँजी, उद्यमशीलता, उत्पादन-तकनीक आदि को सम्मिलित किया जाता है। अनार्थिक घटकों में सामाजिक संस्थाओं, सांस्कृतिक मान्यताओं, नैतिक मूल्यों तथा राजनीतिक दशाओं को सम्मिलित किया जाता है। 'आर्थिक घटक' अनार्थिक घटकों के साथ मिलकर ही आर्थिक विकास का निर्धारण करते हैं। चूँकि 'अनार्थिक घटक' आर्थिक घटकों को भी प्रभावित करते हैं, इसलिए आर्थिक विकास के निर्धारण में आर्थिक घटकों की अपेक्षा अनार्थिक घटकों में अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। रिचर्ड टी० गिल (Richard T. Gill) के अनुसार 'आर्थिक विकास' केवल यन्त्रीकृत प्रक्रिया नहीं है। यह मानवीय प्रयास भी है, जिसकी सफलता मानवीय गुणों, कार्यकुशलता एवं दृष्टिकोण पर निर्भर करती है।' रागनर नर्क्स (Ragner Nurkse) के शब्दों में, "आर्थिक विकास मानवीय गुणों, सामाजिक अभिरुचियों, राजनीतिक दशाओं तथा ऐतिहासिक घटनाओं के साथ घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है।"

आर्थिक विकास के निर्धारकों को 'प्राथमिक' एवं 'अनुपूरक' (सहायक) श्रेणियों में बाँटा जाता है। विकास को आधार प्रदान करने वाले तथा विकास की प्रक्रिया आरम्भ करने वाले घटकों को 'प्राथमिक' माना जाता है, जबकि विकास-प्रक्रिया को गति प्रदान करने वाले घटक 'अनुपूरक' माने जाते हैं। प्राथमिक घटकों में प्राकृतिक एवं मानवीय ससाधनों, कौशल-निमाण, सामाजिक सस्थाओं एवं सांस्कृतिक मूल्यों को गिना जाता है। अनुपूरक घटकों में जनसंख्या-वृद्धि की दर, तकनीकी प्रगति तथा पूँजी-निर्माण की दर को सम्मिलित किया जाता है।

आर्थिक विकास के निर्धारक—किसी देश के आर्थिक विकास को प्रभावित या निर्धारित करने वाले विभिन्न घटक अग्र प्रकार होते हैं—

(1) **प्राकृतिक संसाधन**—प्राकृतिक संसाधन प्रकृति की देन होते हैं, जिन्हें मानवीय प्रयास द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। खनिज पदार्थ, तेल, कोयला, आदि, क्षयशील प्राकृतिक संसाधन हैं, जबकि जल, वन-सम्पदा, वर्षा एवं समुद्री-उत्पाद अक्षयशीय प्राकृतिक संसाधन हैं। प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्ध मात्रा एवं किस्म आर्थिक विकास की गति एवं दिशा निर्धारित करने वाला प्रधान घटक है। प्राकृतिक संसाधन निष्क्रिय होते हैं, जिन्हें मानवीय प्रयास द्वारा गतिशील बनाया जा सकता है। प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता आर्थिक विकास की अच्छी सम्भावनायें व्यक्त करती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राकृतिक संसाधनों के अभाव में प्रगति असम्भव है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी अनुसंधान पर ध्यान देने वाले देश प्राकृतिक संसाधनों की स्वल्पता होने पर भी विकास की दौड़ में आगे निकल जाते हैं; क्योंकि उनके पास नए संसाधनों की खोज तथा वर्तमान संसाधनों के कुशल उपयोग की कला होती है।

(2) **जनसंख्या**—जनसंख्या के आकार, बनावट एवं गुण को आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण निर्धारक माना जाता है; क्योंकि निष्क्रिय प्राकृतिक संसाधनों को धनोत्पादन में परिणित करने का श्रेय मानव-श्रम को ही है। जनसंख्या-वृद्धि का आर्थिक विकास पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। विकसित देशों में, जहाँ जनसंख्या धीमी गति से बढ़ती है, जनसंख्या की वृद्धि आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव छोड़ती है। जनसंख्या-वृद्धि से वस्तुओं की माँग बढ़ती है। फलतः बाजार का विस्तार होता है तथा उत्पादित माल सरलता से बिक जाता है। माल की बिक्री बढ़ने से लाभ की मात्रा तथा बचत की सम्भावना बढ़ती है, जिससे पूँजी-निर्माण तथा उद्योगों का विस्तार होने लगता है। दूसरी ओर, अल्पविकसित देशों में तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या विकास-मार्ग की मुख्य रुकावट सिद्ध होती है। इन देशों में जनसंख्या बढ़ने से वस्तुओं की माँग तो बढ़ती है, किन्तु पूर्ति उसी अनुपात में नहीं बढ़ पाती। अतः कीमतें बढ़ने लगती हैं। जनसंख्या बढ़ने से शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन तथा जनोपयोगी सेवाओं पर व्यय बढ़ जाता है। बढ़े हुए उत्पादन का अधिकांश भाग उपभोग कर लिया जाता है। अतः बचत और निवेश में वृद्धि संभव नहीं होती। तेजी से बढ़ती हुई श्रमशक्ति के लिये लाभप्रद रोजगार का सृजन सम्भव नहीं होता। फलतः बेरोजगारी एवं अल्प-रोजगार की समस्या उपस्थित हो जाती है। आय के साधन सीमित रहने के कारण जनसंख्या-वृद्धि के साथ-साथ रहन-सहन के स्तर में गिरावट आती है, जिसका श्रमिकों की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(3) **पूँजी-निर्माण**—'पूँजी निर्माण' का अर्थ पूँजीगत परिसम्पत्तियों (औजार एवं उपकरण संयन्त्र एवं मशीनरी, परिवहन एवं सिंचाई के साधन) के सृजन से है। पूँजी-निर्माण की प्रक्रिया का सार वर्तमान में उपलब्ध साधनों का एक भाग पूँजीगत-पदार्थों की स्टॉक-वृद्धि में लगाना है, ताकि भविष्य में उपभोक्ता-पदार्थों

का उत्पादन बढ़ाया जा सके। 'पूंजी-निर्माण' पूंजी की मांग और पूर्ति का फलन है। 'पूंजी की माँग' निवेश-प्रेरणा पर निर्भर करती है; जबकि पूंजी की पूर्ति' समुदाय की बचत करने की इच्छा एवं शक्ति पर।

लगभग सभी अर्थशास्त्रियों ने 'पूंजी-निर्माण' या 'पूंजी-संचय' को आर्थिक विकास का प्रमुख निर्धारक स्वीकार किया है। पूंजी-निर्माण को लुईस ने आर्थिक विकास की केन्द्रीय समस्या, कुजनेट्स ने आर्थिक विकास की आवश्यक दशा, रोस्टोव ने स्वयं-स्फूर्ति अवस्था प्राप्त करने की पूर्व-शर्त तथा वागले (Wagle) ने 'विकास की प्रक्रिया का प्रधान चालक-तत्व बताया है। नर्क्से ने 'विकास की प्रक्रिया' को पूंजी के विस्तार एवं सघनता की प्रक्रिया माना है। पूंजी की स्वल्पता त्वरित विकास के मार्ग में प्रमुख एकाकी बाधा होती है। पूंजी-निर्माण अर्थव्यवस्था की उत्पादकता में वृद्धि, बाजार का विस्तार, रोजगार के अवसरों में वृद्धि, भुगतान-असन्तुलन तथा स्फीतिक दबावों का निवारण सम्भव बनाता है। अल्प-विकसित देशों में घरेलू बचत एवं निवेश का स्तर बहुत नीचा होता है। अतः विकास की प्रारम्भिक अवस्था में उन्हें विदेशी पूंजी का आश्रय लेना पड़ता है।

(4) तकनीकी प्रगति—'तकनीकी प्रगति' उत्पादन की विधियों में परिवर्तन से सम्बन्धित होती है। ये परिवर्तन किसी नई तकनीक या अनुसन्धान या नव-प्रवर्त्तन के परिणाम होते हैं। शुम्पीटर ने तकनीकी प्रगति एवं नव-प्रवर्त्तन को आर्थिक विकास का एकमात्र निर्धारक स्वीकार किया है। मेसन (Mason) के अनुसार, तकनीकी प्रगति कच्चे-माल के क्षेत्र में अनेक लाभों को जन्म देती हुई विकास-प्रक्रिया को त्वरित करती है। यह अज्ञात साधनों की खोज, खनिज पदार्थों की मितव्ययी निकासी तथा कच्चे-पदार्थों की परिष्करण लागत में कमी सम्भव बनाती है। कुरिहारा ने तकनीकी प्रगति को 'श्रम-निपज अनुपात' तथा 'पूंजी-निपज अनुपात' के रूप में व्यक्त किया है। 'तकनीकी प्रगति' श्रम-निपज अनुपात में कमी (अर्थात् श्रम की उत्पादकता में वृद्धि) तथा पूंजी-निपज अनुपात में कमी (अर्थात् पूंजी की उत्पादकता की वृद्धि) सम्भव बनाती है।

(5) उद्यमशीलता—शुम्पीटर ने विकास की प्रक्रिया में उद्यमशीलता को केन्द्रीय स्थान दिया है। उन्होंने 'नव-प्रवर्त्तन' उद्यमी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य स्वीकार किया है, यद्यपि उसके अन्य कार्य (व्यावसायिक उपक्रम का संगठन एवं प्रबन्ध करना तथा व्यावसायिक जोखिम एवं अनिश्चितता झेलना) भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। अपनी विशिष्ट योग्यताओं के बल पर उद्यमी नई वस्तु का उत्पादन आरम्भ करता है या नई उत्पादन-तकनीक लागू करता है या नए बाजार की खोज करता है। रिचार्ड टी० गिल की राय में आविष्कार या तकनीकी ज्ञान आर्थिक दृष्टि से तभी उपयोगी हो सकता है, जबकि उसे नव-प्रवर्त्तन के रूप में प्रयुक्त किया जाए तथा इसकी पहल उद्यमियों द्वारा की जाए।

(6) आर्थिक संगठन—मोरिस डॉब (Maurice Dobb) की राय में आर्थिक विकास की समस्या मुख्य रूप से वित्तीय समस्या न होकर आर्थिक संगठन की समस्या है। ग्रामीण बचतों को गतिशील बनाने तथा कृषि, उद्योग एवं निर्यातकों की साख-आवश्यकताएं पूरी करने के लिए जिन विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं की आवश्यकता होती है, अल्प-विकसित देशों में या तो उनका अस्तित्व ही नहीं होता या वे पर्याप्त विकसित नहीं होतीं। सुदृढ़ आर्थिक संगठन का अस्तित्व इसलिए आवश्यक होता है, ताकि समाज द्वारा आर्थिक विकास हेतु किए गए प्रयत्न व्यर्थ न हो जायें।

(7) व्यावसायिक ढाँचा—कार्यशील जनसंख्या (श्रमशक्ति) का पेशेवर वितरण ही 'व्यावसायिक ढाँचा' कहलाता है। कौलिन क्लार्क के अनुसार, प्रतिव्यक्ति आय का ऊँचा स्तर द्वितीयक एवं तृतीयक व्यवसायों में श्रमशक्ति के बड़े अनुपात की संलग्नता से जुड़ा होता है। आर्थिक प्रगति के साथ-साथ श्रमशक्ति प्राथमिक व्यवसायों से द्वितीयक एवं तृतीयक व्यवसायों की ओर हस्तान्तरित होती रहती है। हस्तान्तरण की गति जितनी अधिक होती है, प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय उत्पादन उतनी ही तेजी से बढ़ता है। अल्प-विकसित देशों के सामने मुख्य समस्या व्यावसायिक ढाँचे को सन्तुलित बनाने की होती है।

(8) कौशल-निर्माण—'कौशल-निर्माण' जनशक्ति में निवेश तथा सृजनकारी साधन के रूप में उसके विकास से सम्बन्धित है। शुल्ज (Schultz), हार्बिसन (Harbison), डैनीसन (Denison) और कुजनेट्स (Kuznets) की राय में दृश्य (भौतिक) पूंजी-स्टॉक की वृद्धि पर्याप्त सीमा तक मानवीय पूंजी के निर्माण अर्थात् कौशल-निर्माण पर निर्भर है, जो देशवासियों के ज्ञान, योग्यता एवं क्षमता में वृद्धि की प्रक्रिया है। कौशल-निर्माण का उद्देश्य शक्तियों में आवश्यक निपुणताओं का सृजन तथा उन्हें लाभप्रद रोजगार उपलब्ध कराना होता है। अल्पविकसित देशों में विकास की धीमी गति मानवीय पूंजी की स्वल्पता (जो भौतिक पूंजी की अवशोषण क्षमता सीमित कर देती है) के कारण होती है।

(9) सामाजिक घटक—विकास मानवीय प्रयत्नों का परिणाम है। भौतिक उन्नति के लिए सामाजिक वातावरण की अनुकूलता आवश्यक है। देशवासियों में आर्थिक प्रगति की इच्छा, साहसी भावना तथा उत्पादन के नए तरीके अपनाने की तत्परता होनी चाहिए। मेयर और बाल्डविन के शब्दों में, "यदि राष्ट्रीय आय में तेजी से वृद्धि करनी है; तब नई आवश्यकताओं, नई प्रेरणाओं, नई उत्पादन-विधियों तथा नई संस्थाओं का सृजन करना होगा।"

(10) धार्मिक घटक—आर्थिक विकास पर व्यक्तियों के धार्मिक विचारों तथा जीवन-दर्शन का भी प्रभाव पड़ता है। उनका कार्य के प्रति दृष्टिकोण, धनार्जन की इच्छा व संग्रह बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि उनका जीवन-दर्शन

भौतिकवादी है या आध्यात्मिक है। आर्थिक विकास हेतु भौतिकवादी दर्शन हितकर माना जाता है।

(11) राजनीतिक घटक—आर्थर लुईस के शब्दों में, "आर्थिक क्रियाओं को हतोत्साहित या प्रोत्साहित करने में सरकार महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। योग्य सरकार के प्रयासों के बिना संसार का कोई भी देश आर्थिक प्रगति नहीं कर पाया है।"

निष्कर्ष आर्थिक विकास के समस्त निर्धारक महत्वपूर्ण हैं, यद्यपि देश-विशेष की परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न आर्थिक एवं अनार्थिक घटकों के महत्व में अन्तर हो सकता है। शेफर्ड क्लाउ (Shepard Clough) के शब्दों में, "आर्थिक विकास तब घटित होता है, जबकि विभिन्न महत्वपूर्ण घटकों का उचित अनुपात तथा शुभ घड़ी में संगम हो।"

3

आर्थिक विकास की अवस्थाएं

(Stages of Economic Development)

प्रश्न 1—आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाएं समझाइए।

Explain the various stages of economic development.

उत्तर—विकास की प्रक्रिया आरम्भ करने पर एक देश को अनेक अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का उल्लेख किया है। इनमें से अमेरिकी अर्थशास्त्री रोस्टोव (Rostow) द्वारा वर्णित अवस्थाएं अधिक युक्ति संगत और स्वीकार्य हैं। **रोस्टोव ने आर्थिक विकास की निम्न पाँच अवस्थाएं बतायी हैं—**

(1) परम्परागत समाज की अवस्था—परम्परागत समाज की वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। समाज के अधिकांश साधन खेती-बारी में लगे होते हैं। कृषि-पद्धतियाँ पुरातन एवं रूढ़िवादी होती हैं। राजनीतिक सत्ता भूस्वामियों के हाथों में केन्द्रित होती हैं; क्योंकि उद्योग अत्यन्त पिछड़ी हुई स्थिति में होते हैं तथा भूस्वामी आर्थिक शक्ति केन्द्रित कर लेते हैं, जो

कुछ उत्पादन होता है, वह समूचा उपभोग कर लिया जाता है। बचत एवं निवेश का स्तर राष्ट्रीय आय के 5 प्रतिशत से भी नीचा होता है। जन्म-दर और मृत्यु-दर समान रूप से ऊंची होती हैं। यद्यपि कहीं-कहीं कृषि में नवीन पद्धतियों तथा उद्योगों में नवीन आविष्कारों का प्रयोग दिखाई पड़ता है, किन्तु मौलिक रूप से समूचा आर्थिक ढांचा दुर्बल एवं अविकसित रहता है। रोस्टोव (Rostow) के शब्दों में, "परम्परागत समाज वह है, जिसका ढाँचा सीमित उत्पादन-कार्यों के अन्तर्गत न्यूटन पूर्व के विज्ञान एवं तकनीक तथा भौतिक जगत के प्रति न्यूटन-पूर्व के दृष्टिकोण पर विकसित हुआ है।"

(2) **आत्मस्फूर्ति विकास से पूर्व की अवस्था**—यह गतिशील अर्थव्यवस्था की पृष्ठभूमि होती है। परम्परागत समाज धीरे-धीरे प्रगति की ओर बढ़ने लगता है। उद्योग, परिवहन तथा व्यावसायिक साधनों का विकास प्रारम्भ हो जाता है। संतति-निरोध अपनाए जाने से जन्म-दर घटने लगती है। कृषि, उद्योग तथा व्यवसाय में नई पद्धतियों का प्रयोग आरम्भ हो जाता है। घरेलू बचत एवं निवेश की दर बढ़कर राष्ट्रीय आय की 10 प्रतिशत तक हो जाती है। निवेश की दर जनसंख्या-वृद्धि की दर से अधिक रहने के कारण प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय बढ़ती है। सड़कों, रेलों तथा बिजली की सुविधाएँ मिलने के कारण व्यक्ति गाँवों से नगरों में जाकर बसने लगते हैं। यह विचार फैल जाता है कि प्रयत्न द्वारा प्रगति सम्भव है। शिक्षा का विस्तार होता है, उसमें आधुनिक क्रियाओं की आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता है। भूस्वामियों का महत्व घटने लगता है। निजी और सरकारी क्षेत्रों में नए किस्म के उद्यमी आगे आते हैं, जो बचतें गतिशील बनाने तथा आधुनिकीकरण में निहित जोखिम उठाने के लिये तैयार रहते हैं। पूंजी की गतिशीलता हेतु बैंकिंग वित्तीय संस्थाएँ स्थापित हो जाती हैं।

रोस्टोव के अनुसार, आत्मस्फूर्ति विकास से पूर्व की अवस्था में औद्योगीकरण हेतु आवश्यक दशाओं का सृजन सम्भव होता है। इसके लिये गैर-औद्योगिक क्षेत्रों में तीन क्रान्तिकारी परिवर्तन आवश्यक होते हैं— (i) बाजार का क्षेत्र-विस्तार, प्राकृतिक संसाधनों का लाभप्रद विदोहन तथा कुशल प्रशासन हेतु परिवहन-सुविधाओं का विस्तार। (ii) कृषि-क्षेत्र में तकनीकी क्रान्ति, जिससे कि बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्य-आवश्यकताएँ पूरी हो सकें (iii) कुशल उत्पादन एवं प्राकृतिक संसाधनों के निर्यात द्वारा पूंजीगत-पदार्थों का आयात।

(3) **आत्मस्फूर्ति विकास की अवस्था**—यह आर्थिक विकास का तीसरा चरण है। इस अवस्था में विकास सामान्य एवं नियमित गति से होने लगता है। कृषि तथा उद्योगों में तकनीकी की प्रगति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। उत्पादन की मात्रा एवं किस्म में वांछित सुधार हो जाता है। आर्थिक विकास की यह अवस्था उत्पादन-विधियों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों से सम्बद्ध होती है। इस अवस्था का प्रारम्भ तीव्र उद्दीपन के कारण होता है, जो राजनीतिक क्रान्ति या अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण या तकनीकी परिवर्तन के रूप में उपस्थित हो सकता

है। रोस्टोव के शब्दों में, "आत्मस्फूर्ति की अवस्था वह मध्यान्तर है, जिसमें विकास-मार्ग की समस्त रुकावटें दूर हो जाती हैं। विकास की प्रेरक शक्तियाँ, जो अब तक निष्क्रिय बनी हुई थीं, सक्रिय हो जाती हैं तथा समूचे समाज पर फैल जाती हैं। 'विकास' समाज की सामान्य दशा बन जाता है।" एक अन्य स्थल पर रोस्टोव ने 'आत्मस्फूर्ति' को उत्पादन-विधियों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों से सम्बद्ध ऐसी औद्योगिक क्रान्ति के रूप में परिभाषित किया है जिसके अल्पावधि में ही महत्वपूर्ण प्रभाव दिखाई देने लगते हैं। 'संचयी विकास' या 'गुणोत्तर गति से विकास' समाज की आदतों तथा उसके संस्थागत ढाँचे का अभिन्न अंग बन जाता है।

रोस्टोव ने आत्मस्फूर्ति विकास की तीन परस्पर-सम्बद्ध शर्तें बतायी हैं—(i) निवेश की दर बढ़कर राष्ट्रीय आय की 10 प्रतिशत या उससे भी ऊँची हो जाती है। निवेश का स्तर ऊंचा होते रहने से प्रतिव्यक्ति वास्तविक उत्पादन में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। (ii) अर्थव्यवस्था में एक या अधिक प्रमुख क्षेत्रों का विकास होने लगता है। प्रमुख क्षेत्र (Leading Sector) अपने चारों ओर बहुत-से परिवर्तन उपस्थित कर देता है जो औद्योगीकरण को विस्तृत आधार प्रदान करने की प्रवृत्ति रखते हैं। (iii) ऐसे सामाजिक, राजनीतिक एवं संस्थागत ढाँचे की स्थापना हो जाती है जो आधुनिक पद्धतियों के प्रयोग द्वारा द्रुत आर्थिक विकास हेतु कृतसंकल्प हो।

आत्मस्फूर्ति विकास की अवस्था में कृषि एवं उद्योगों की यथेष्ठ प्रगति हो हो जाती है। उनसे समुचित लाभ मिलने लगता है। ऐसी परिस्थितियां निर्मित हो जाती हैं कि अर्थतन्त्र सबल दिखाई पड़ने लगे तथा भविष्य में प्रगति कुंठित होने का भय न रहे। आत्मस्फूर्ति विकास की अवधि सामान्यतः दो-तीन दशकों में फैली होती है।

(4) **परिपक्वता की अवस्था**—आत्मस्फूर्ति की गतिशील अवस्था प्राप्त करने पर अर्थव्यवस्था में विचित्र सी हलचल प्रकट होने लगती है। तकनीकी तथा वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग इस सीमा तक बढ़ जाता है कि किसी भी वस्तु का वांछनीय मात्रा में उत्पादन करना सम्भव हो जाए। निवेश का स्तर बढ़कर राष्ट्रीय उत्पादन का 20 प्रतिशत या उससे ऊंचा हो जाता है। आर्थिक प्रणाली के सफल सचालन के कारण अनेक नए उद्यमों की स्थापना होती है, जिनके उत्पादों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगिता करने की क्षमता होती है। परिपक्व अर्थव्यवस्था की विदेशों पर सामान्य निर्भरता समाप्त हो जाती है, उसका विदेशी व्यापार विशुद्ध आर्थिक आधार पर संचालित होता है। उच्चस्तरीय तकनीक एवं वैज्ञानिक साधनों की सहायता से उत्पादित माल का निर्यात किया जाता है। केवल उस माल का आयात किया जाता है, जिसका घरेलू उत्पादन विशेष लाभप्रद नहीं होता। परिपक्वता की स्थिति प्राप्त कर लेने वाला देश आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त सबल एवं सम्पन्न हो जाता है। रोस्टोव के अनुसार, "आर्थिक परिपक्वता की अवस्था को ऐसी अवधि के

रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जब समाज ने अपने अधिकांश साधनों में आधुनिक तकनीक का प्रभावी ढंग से प्रयोग कर लिया हो।"

(5) **अत्यधिक उपभोग की अवस्था**—परिपक्वता की अवस्था में जन-साधारण की उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताएँ सामान्य श्रम द्वारा पूरी हो जाती हैं। उपभोग का स्तर ऊंचा हो जाता है। तदुपरान्त समाज उपभोग की उच्चतम एवं विशिष्ट सेवायें उपलब्ध कराने का प्रयत्न करता है। मोटरकार, रेफ्रीजरेटर, वस्त्र धोने की मशीन आदि, महंगे साधनों की मांग जनसाधारण द्वारा की जाने लगती है। उच्च आय वर्ग इन वस्तुओं के नए-नए मॉडल प्राप्त करना चाहता है। अत्यधिक उपभोग की अवस्था में तकनीकी साधनों में विशेष सुधार करने की गुंजाइश नहीं रह जाती। उत्पादक वस्तुओं के आवरण में परिवर्तन करते हैं या सामान्य सुविधाओं में वृद्धि द्वारा नए ग्राहक आकर्षित करते हैं।

4

राज्य एवं आर्थिक विकास
(State and Economic Development)

प्रश्न 1—किसी देश के आर्थिक विकास को राज्य किस रूप में पोषित कर सकता है? व्याख्या कीजिए।

In what forms can the State foster the economic development of a country? Discuss.

उत्तर—आर्थर लुईस (Arthur Lewis) की राय में संसार का कोई भी देश बुद्धिशील सरकार की धनात्मक प्रेरणा के बिना आर्थिक प्रगति नहीं कर पाया है। औद्योगिक शक्ति के रूप में इंगलैण्ड की महानता की नींव एडवर्ड द्वितीय एवं परवर्ती शासकों ने डाली थी। संयुक्त राज्य अमेरिका की संघीय एवं राज्य सरकारों ने आर्थिक क्रियाओं के रूप-निर्धारण में सदैव महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

आर्थिक विकास हेतु सरकारी सहयोग की आवश्यकता—अल्पविकसित देशों की विकास-सम्बन्धी समस्याओं को आर्थिक शक्तियों की स्वतन्त्र क्रियाशीलता पर नहीं छोड़ा जा सकता। निजी उद्यम इन समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ होता है। इन देशों में आर्थिक विकास हेतु सरकारी हस्तक्षेप या सहयोग की आवश्यकता अग्र चार कारणों से बताई जाती है—

(i) आर्थिक गतिहीनता से मुक्ति दिलाने के लिये अल्पविकसित देशों में द्रुत सामाजिक-आर्थिक सुधार आवश्यक होते हैं। गुन्नार मिर्डल (Gunnar Myrdal) के अनुसार, "सामाजिक दरार तोड़ने तथा आर्थिक विकास हेतु अनुकूल मनोवैज्ञानिक, वैचारिक, सामाजिक एवं राजनीतिक दशाओं का सृजन अल्पविकसित देशों में राज्य का विशिष्ट कर्त्तव्य बन जाता है।"

(ii) विकास की प्रारम्भिक अवस्था में सामाजिक-आर्थिक ऊर्ध्वस्थों (परिवहन, संचार, ऊर्जा एवं सिंचाई के साधन, स्कूल एवं अस्पताल, प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थायें) का सृजन आवश्यक होता है, ताकि प्रत्यक्ष उत्पादक क्रियाओं (कृषि, उद्योग एवं व्यापार) का विस्तार हो सके। भारी निवेश, दीर्घ गर्भावधि तथा प्रतिफल की अनिश्चितता के कारण निजी उद्यमी सामाजिक-आर्थिक ऊर्ध्वस्थों का सृजन नहीं कर पाते। यह उत्तरदायित्व सरकार को अपने कन्धों पर लेना पड़ता है।

(iii) माँग के अनुसार पूर्ति को समायोजित करने के लिये अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों का सन्तुलित विकास आवश्यक होता है। यह वस्तुओं के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग पर सरकारी नियन्त्रण द्वारा सम्भव है। इस उद्देश्य से सरकार को भौतिक, राजकोषीय एवं मौद्रिक नियन्त्रणों का आश्रय लेना पड़ता है।

(iv) ऐसे उपाय भी आवश्यक होते हैं जो अल्पविकसित देशों में उपस्थित सामाजिक-आर्थिक विषमता घटाने तथा धार्मिक अन्धविश्वास समाप्त करने में सहायक हों।

आर्थिक विकास में राज्य की भूमिका

अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास में राज्य के योगदान की विवेचना निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है—

(1) संस्थागत ढाँचे में परिवर्तन अल्पविकसित समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्परायें आर्थिक विकास की प्रेरक नहीं होतीं। संस्थागत ढाँचा विवेक-पूर्ण व्यवहार, प्रतिस्पर्धा तथा उद्यमी भावना को बढ़ावा नहीं देता। विकास-प्रक्रिया आगे बढ़ाने के लिये संयुक्त परिवार, जाति-व्यवस्था नातेदारी और धार्मिक अन्ध-विश्वास से सम्बद्ध सामाजिक मनोवृत्तियों, मूल्यों तथा संस्थाओं में परिवर्तन आवश्यक होता है। परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी होनी चाहिये; अन्यथा सामाजिक असन्तोष, हिंसा और निराशा को जन्म मिलेगा। इससे आर्थिक प्रगति में बाधा पड़ेगी।

अकेले संस्थागत परिवर्तनों से भी आर्थिक प्रगति सम्भव नहीं है। इसके लिये पूंजी-निर्माण एवं तकनीकी-परिवर्तन भी आवश्यक हैं जो बदले में संस्थागत परिवर्तनों को जन्म देते हैं। अनार्थिक घटकों द्वारा भी संस्थागत परिवर्तन सम्भव होते हैं। आर्थिक एवं संस्थागत परिवर्तनों के बीच 'हेतुक संबंध' हो सकता है अथवा ये एक-दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र हो सकते हैं; किन्तु, एक बार आरम्भ हुई परिवर्तन

की प्रक्रिया अन्ततः संचयी बन जाती है। आर्थर लुईस की राय में 'नए आविष्कार' नई वस्तुओं का सृजन कर सकते हैं या पुरानी वस्तुओं की उत्पादन लागत घटा सकते हैं। नई सड़कें या नए जल-मार्ग व्यापार के नए अवसर उत्पन्न कर सकते हैं। युद्ध या मुद्रा-स्फीति नई माँग सृजित कर सकती है। ये समस्त नए अवसर संस्थागत ढाँचे में परिवर्तन ला देते हैं। शिक्षा के प्रसार द्वारा सरकार व्यक्तियों का सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण बदल सकती है। पूंजी-निर्माण, तकनीकी-परिवर्तन तथा परिवहन-सुविधाओं के विस्तार द्वारा विकास हेतु नए अवसर सृजित कर सकती है।

(2) **सामाजिक-आर्थिक ऊर्ध्वस्थों का सृजन**—द्रुत आर्थिक विकास हेतु सामाजिक एवं आर्थिक ऊर्ध्वस्थों के रूप में आधारभूत सेवाओं की व्यवस्था आवश्यक होती है। अल्पविकसित देशों में इन सेवाओं का नितान्त अभाव पाया जाता है। इनकी व्यवस्था पर भारी निवेश-साधन जुटाने पड़ते हैं जो निजी उद्यमियों की सामर्थ्य से बाहर होते हैं। इनमें किया गया निवेश अधिक जोखिमपूर्ण होता है तथा निवेश पर प्रतिफल लम्बी अवधि के बाद मिल पाता है। इसलिये सामाजिक-आर्थिक ऊर्ध्वस्थों के सृजन का भार सरकार को ही उठाना पड़ता है। इनके सृजन से कृषि एवं औद्योगिक विस्तार हेतु बाह्री बचतें उत्पन्न होती हैं, निवेश-दर बढ़ती है तथा 'पूँजी-निपज' अनुपात घटता है अर्थात् पूंजी की उत्पादकता बढ़ती है। विकासशील देशों में कौशल-निर्माण हेतु तकनीकी एवं गवेषणात्मक संस्थाओं की स्थापना भी सरकार को करनी होती है, अन्यथा भौतिक पूँजी के स्टाक को अवशोषित करने की क्षमता सीमित रह जाती है।

(3) **कृषि-विकास और भूमि-सुधार**—अल्पविकसित देशों में नियोजित विकास की सफलता कृषि-उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि की सीमा पर निर्भर करती है। कृषि-उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि कई कारणों से आवश्यक होती है, जैसे—उद्योगों के लिए कच्चे-माल तथा बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये खाद्यान्न की आपूर्ति, स्फीतिक दबावों की रोकथाम, पूँजीगत-पदार्थों के आयात हेतु निर्यात-अतिरेक की प्राप्ति तथा बेरोजगार या अल्प-रोजगार युक्त जनशक्ति का प्रभावी उपयोग। कृषि-विकास कार्यक्रम की सफलता उस सीमा पर निर्भर करती है, जिस सीमा तक कृषक सहकारी समितियों में सगठित हो पाते हैं तथा सरकारी मशीनरी कृषकों की बीज, खाद एवं वित्त की आवश्यकतायें ठीक समय पर पूरी करने में समर्थ होती है। भूमि-सुधार के उपाय (मध्यवर्तियों का उन्मूलन, काश्तकारी-सुधार, लगान का नियमन, कृषि-जोतों की चकबन्दी, भूमि एवं जल-प्रबन्ध, सहकारी फार्मों का गठन, आदि) कृषि-उत्पादकता पर अनुकूल प्रभाव उपस्थित करते हैं। विभिन्न सुविधाओं के माध्यम से सरकार काश्तकारों को उन्नत कृषि-तकनीक तथा उत्तम फसल-चक्र अपनाने के लिये प्रेरित कर सकती है।

(4) **साधन-गतिशीलता में वृद्धि**—अल्पविकसित देशों में उत्पत्ति के साधन बहुत कम गतिशील होते हैं। शिक्षण एवं प्रशिक्षण सुविधाओं के विस्तार द्वारा सरकार श्रमिकों को वांछित निपुणता प्रदान कर सकती है। औद्योगिक केन्द्रों में आवास, मनोरंजन, शिक्षा एवं चिकित्सा की व्यवस्था द्वारा सरकार स्थायी श्रमशक्ति का निर्माण कर सकती है। परिवहन के सस्ते और शीघ्रगामी साधन भी श्रम की गतिशीलता बढ़ाते हैं। वित्तीय और बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार द्वारा पूंजी-निर्माण हेतु घरेलू बचतों को गतिशील बनाया जा सकता है। उद्योगों की स्थापना हेतु सरकार विदेशी पूंजी और विदेशी उद्यम को आकर्षित कर सकती है।

(5) **औद्योगीकरण में प्रत्यक्ष भागीदारी**—अल्पविकसित देशों के औद्योगीकरण में सरकार की सक्रिय भागीदारी अनेक कारणों से आवश्यक होती है, जैसे—आर्थिक विकास की गति तेज करना, औद्योगिक आधार का निर्माण, उपभोग-स्तर ऊंचा उठाना, गिने-चुने हाथों में आर्थिक शक्ति का सन्केन्द्रण रोकना, आय की असमानताएं घटाना, रोजगार-अवसरों का सृजन तथा सार्वजनिक बचत के स्रोतों का विस्तार। इन देशों में आधारभूत एवं भारी उद्योगों की स्थापना अनिवार्य रूप से सरकार को करनी होती है; क्योंकि, इन उद्योगों में अधिक निवेश की आवश्यकता होती है, जोखिम की मात्रा अधिक रहती है तथा प्रतिफल के लिए अधिक समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

(6) **निजी उद्योगों की सहायता**—समाजवादी अर्थव्यवस्था में समस्त उद्योग राज्य द्वारा संचालित होते है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों का विकास निजी क्षेत्र का प्रमुख उत्तरदायित्व होता है। निजी क्षेत्र में उद्योगों के विकास हेतु सरकार वित्तीय एवं तकनीकी सुविधाएं प्रदान कर सकती है। देश के पिछड़े हुए क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना हेतु सरकार निजी उद्यमियों को विभिन्न प्रकार की रियायतें प्रदान कर सकती है, जैसे—निवेश-अनुदान, परिवहन-अनुदान, रियायती वित्त, निगम-कर तथा उत्पादन-शुल्क में छूट, आदि।

(7) **राजकोषीय नीति**—विभिन्न राजकोषीय उपकरणों (कराधान, सार्वजनिक उधार, हीनार्थ-प्रबन्धन तथा सार्वजनिक व्यय) के माध्यम सरकार उपभोग पर नियन्त्रण रखकर घरेलू बचत एवं निवेश का स्तर ऊपर उठा सकती है, उत्पादक क्रियाओं की ओर निवेश का प्रवाह मोड़ सकती है, उत्पत्ति के साधनों की उत्पादकता बढ़ा सकती है तथा आय एवं सम्पत्ति के वितरण की असमानताएं घटा सकती है। विकासशील देशों में राजकोषीय नीति के अन्य उद्देश्य होते है—स्फीतिक दबावों की रोकथाम, रोजगार के अवसरों में वृद्धि तथा सन्तुलित क्षेत्रीय विकास। इन उद्देश्यों पर आधारित राजकोषीय नीति परोक्ष ढंग से आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करती है।

(8) **मौद्रिक नीति**—मौद्रिक नीति का संचालन केन्द्रीय बैंक के हाथ में होता है। साख की उपलब्धता एवं लागत पर प्रभाव डालकर, स्फीतिक दबावों पर

नियन्त्रण तथा भुगतानाशेष को सन्तुलित बनाए रखकर आर्थिक विकास को त्वरित करने में मौद्रिक नीति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जैसे ही विकास को गति मिलती है; वैसे ही व्यापार की बढ़ती हुई मात्रा, तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या तथा फैलते हुए मौद्रिक-क्षेत्र की आवश्यकता-पूर्ति हेतु लचीली मौद्रिक नीति अपनानी पड़ती है। विकासशील देशों में मौद्रिक नीति का उद्देश्य वित्तीय संस्थाओं का सृजन एवं विस्तार भी होता है।

(9) मूल्य-नीति—विकासशील अर्थव्यवस्था में सरकार का उद्देश्य मूलभूत उपभोक्ता-पदार्थों की कीमतें स्थिर बनाए रखना होता है, ताकि दीर्घ गर्भावधि वाली परियोजनाओं से निवेश से उत्पन्न स्फीतिक दबावों की रोकथाम की जा सके। 'कार्यात्मक कीमत-वृद्धि' की नीति अपनाकर सरकार आर्थिक विकास को प्रोत्साहित कर सकती है।

(10) प्रशुल्क नीति—'प्रशुल्क नीति' के माध्यम से सरकार आयात-प्रतिस्थापन उद्योगों की स्थापना और निर्यात-उद्योगों के विस्तार में सहायक हो सकती है। विदेशी प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान करते हुए सरकार विकास की गति तेज कर सकती है तथा घरेलू खपत हेतु उत्पादन के विस्तार में सहायक हो सकती है। विदेशी विनिमय बाजार पर नियन्त्रण रखकर सरकार आर्थिक विकास हेतु विदेशी साधनों का उचित ढग से प्रयोग कर सकती है।

5

कृषिजन्य बनाम् औद्योगिक विकास

(Agricultural Versus Industrial Development)

प्रश्न 1—"कृषि-क्रान्ति औद्योगिक क्रान्ति की पूर्व-दशा है।" विवेचना करें।

Agricultural revolution is a pre-condition of industrial revolution." Discuss.

उत्तर—आर्थिक विकास की प्रक्रिया में कृषि-नियोजन को वरीयता दी जाए या औद्योगिक नियोजन को; यह अर्थशास्त्रियों के बीच वाद-विवाद का विषय रहा है। यदि कुछ विद्वान 'कृषि-विकास' को औद्योगिक विकास की पूर्व-दशा मानते

हैं; तब अन्य विचारक 'औद्योगिक विकास' को कृषि-विकास की अनिवार्य शर्त ठहराते हैं।

कृषि-विकास को वरीयता का पक्ष—आर्थर लुईस (Arthur Lewis), शुल्ज (Schultz), किण्डलेबर्जर (Kindleberger), डी० ब्राइट सिंह (D. Bright Singh) और वाइनर (Viner) ने कृषि-विकास को 'औद्योगिक विकास की जननी' स्वीकार किया है। इन विद्वानों की राय में घरेलू माँग की पूर्ति, आत्म निर्भरता की प्राप्ति तथा निर्यात-वृद्धि सरीखे मूल प्रश्न कृषि-क्रान्ति द्वारा ही सुलझाए जा सकते हैं। शुल्ज के अनुसार, खाद्योत्पादन मे स्वावलम्बी हुए बिना कोई देश आर्थिक विकास की कल्पना नहीं कर सकता। मौरिस डॉब (Mauris Dobb) की राय में कृषि-क्षेत्र का विपणन योग्य अतिरेक ही अल्पविकसित देशों में औद्योगीकरण की सम्भावित दर निर्धारित करता है। रोस्टोव (Rostow) ने कृषि-उत्पादन को 'औद्योगीकरण हेतु आधारभूत कार्यशील पूंजी' माना है। मिण्ट (Mynt) की राय में कृषि-क्रान्ति के बिना विनिर्माणी उद्योगों का विकास अधिक समय तक चालू नहीं रह सकता; क्योंकि, समूची अर्थव्यवस्था की विकास-दर अन्ततोगत्वा कृषि-विकास की दर पर निर्भर होती है।

ब्राइस (Bryce) ने स्वीकार किया है कि आज के उद्योग-प्रधान देशों में उद्योगों का प्रारम्भिक विकास पूर्णतः कृषकों के सहयोग पर आश्रित रहा है। बौर (Bauer) और यामी (Yamey) के अनुसार, वर्तमान में औद्योगिक दृष्टि से सम्पन्न कहलाने वाले देश अतीत में मूलतः कृषि-प्रधान रहे हैं। गतिशील कृषि ने इन देशों के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट के अनुसार कृषि-क्षेत्र में पूरक परिवर्तन किए बिना औद्योगिक क्षेत्र का द्रुत विकास अर्थतन्त्र में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है जिनसे आर्थिक प्रगति का मार्ग पूर्णतः अवरुद्ध हो जाए, जैसे—प्रतिकूल अदायगी-शेष, मुद्रा-स्फीति, शहरीकरण, विकृत सामाजिक संरचना, आदि। कृषि' अल्पविकसित अर्थव्यवस्था का प्रारम्भिक बिन्दु है। अतः अर्थव्यवस्था के समस्त क्षेत्रों में विकास-कार्य आरम्भ करने से अच्छा यह है कि प्रारम्भिक बिन्दु (कृषि-क्षेत्र) से ही विकास-कार्य आरम्भ किया जाए।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्था स्वभाव से ही कृषि-प्रधान होती है। कार्यशील जनसंख्या का बड़ा अनुपात कृषि-क्षेत्र में संलग्न होता है। द्वितीयक एवं तृतीयक व्यवसाय अत्यन्त पिछड़ी दशा में होते हैं। अनेक आधुनिक उद्योगों का अस्तित्व ही नहीं होता। यद्यपि कृषि-क्षेत्र में उत्पादकता का स्तर नीचा होता है, तथापि उद्योग-क्षेत्र एवं सेवा-क्षेत्र की अपेक्षा अल्पविकसित अर्थव्यवस्था का कृषि-क्षेत्र अधिक उन्नत माना जा सकता है। अतः विकास की प्रारम्भिक अवस्था में पूंजी-निर्माण हेतु 'आर्थिक अतिरेक' (Economic Surplus) और 'श्रम' कृषि-क्षेत्र से ही जुटाया जा सकता है। कृषि-व्यवस्था में संलग्न फालतू श्रम शक्ति को कृषि-क्षेत्र से हटाकर

औद्योगिक विकास की परियोजनाओं में लगाया जा सकता है। जान्सटन (Johnston) और मेलर (Mellor) के अनुसार, 'बढ़ी हुई कृषि-उत्पादकता' के अन्तर्गत घटे हुए आगतों, घटी हुई कृषि-कीमतों तथा बढ़ी हुई प्रक्षेत्र-प्राप्तियों का संयोग सम्मिलित होता है। प्रमुख आगत (Imput) के रूप में 'अतिरेक श्रम' पूंजी-निर्माण का स्रोत बन सकता है यदि इसे कृषि-क्षेत्र से हटाकर निर्माण-कार्यों में लगा दिया जाए ' नर्क्स (Nurkse) ने भी अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के कृषि-क्षेत्र में संलग्न फालतू श्रमशक्ति को पूंजी-निर्माण का सम्भाव्य स्रोत बताया है।

उद्योगों के लिए कच्चा-माल, शहरी जनसंख्या के लिए खाद्यान्न तथा औद्योगिक माल की बिक्री हेतु विस्तृत घरेलू बाजार उपलब्ध कराने के लिए भी कृषि-क्षेत्र का विकास आवश्यक है। आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में उद्योगों के लिए आयातित पूंजीगत साजसामान का भुगतान कृषि-पदार्थों का निर्यात बढ़ाकर ही किया जा सकता है। अतः विकासशील देश का प्रथम प्रयास अर्थव्यवस्था का कृषि-आधार सुदृढ़ बनाना होना चाहिए। सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार, उन्नत कृषि-आगतों (बीज, यन्त्र, उर्वरक एवं कीटनाशक) की अनुपूर्ति, मिट्टी-संरक्षण और भूमि-सुधार के उपाय कृषि-विकास हेतु आवश्यक हैं। ये उपाय विकासशील देश को 'कृषि-अर्थव्यवस्था' से निकालकर 'औद्योगिक अर्थव्यवस्था' में पहुँचाने का कार्य भी करते हैं। पूंजी-स्वल्प अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में कृषि-नियोजन की वरीयता देना इसलिए भी आवश्यक है; क्योंकि, औद्योगिक क्षेत्र की अपेक्षा कृषि-क्षेत्र में कम पूंजी का निवेश ही अधिक अच्छा प्रतिफल प्रदान कर सकता है। कृषि-उत्पादन और उत्पादकता में वृद्धि के फलस्वरूप ग्रामीण क्रयशक्ति में हुई वृद्धि विनिर्मित माल की माँग में वृद्धि लाती है तथा बाजार का विस्तार करती है। इससे औद्योगिक विकास प्रोत्साहित होता है। कृषि-क्षेत्र की ओर से उन्नत कृषि-आगतों की माँग भी औद्योगिक विस्तार को बढ़ावा देती है। जब शहरी क्षेत्रों में कृषि-उत्पादन तथा ग्रामीण क्षेत्रों में विनिर्मित माल पहुँचाने की आवश्यकता पड़ती है, तब परिवहन-सुविधाओं का विस्तार प्रोत्साहित होता है।

औद्योगिक विकास को वरीयता का पक्ष—कृषि-क्रान्ति द्वारा आर्थिक प्रणाली विकास की निश्चित सीमा तक ही पहुँच सकती है। विकास की उच्च अवस्था (विशाल उपभोग की अवस्था) तक औद्योगिक क्रान्ति द्वारा ही पहुंचा जा सकता है। स्वयं कृषि की समुन्नति के लिए भी औद्योगिक समुन्नति आवश्यक होती है। गुन्नार मिर्डल (Gunnar Myrdal) के शब्दों में, "औद्योगिक प्रगति उन्नत तकनीक को जन्म देती है जिसे कृषि-क्षेत्र में अपनाया जा सकता है; किन्तु, इसकी विपरीत स्थिति सम्भव नहीं है।" पिछड़ी हुई तकनीक के कारण ही अल्पविकसित देशों में कृषि उत्पादकता का स्तर अपेक्षाकृत नीचा होता है। अतः कृषि-तकनीक को समुन्नत बनाकर कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के लिए औद्योगिक क्रान्ति अनिवार्य शर्त है। कृषिजन्य शोध एवं अनुसन्धान पूर्णतः औद्योगीकरण की प्रक्रिया पर निर्भर है। कच्चे माल के

रूप में कृषि उत्पादों की माँग बढ़ाकर विनिर्माणी उद्योग 'कृषि के व्यापारीकरण' में सहायक होते हैं। उन्नत कृषि के लिए रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों तथा सुधरे हुए यन्त्रों की आपूर्ति औद्योगीकरण द्वारा ही सम्भव है।

कृषि-क्षेत्र की अपेक्षा उद्योग-क्षेत्र में प्रतिव्यक्ति आय एवं उत्पादकता का स्तर ऊंचा रहता है तथा ह्रासमान प्रतिफल का नियम विलम्ब से लागू होता है। उद्योगों का उत्पादन आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। परन्तु, कृषि-उत्पादन को आवश्यकतानुसार घटाना-बढ़ाना सम्भव नहीं होता; क्योंकि, यह बहुत-कुछ 'प्रकृति' पर निर्भर रहता है। पूंजी-निर्माण की गति भी कृषि-क्रान्ति की अपेक्षा औद्योगिक क्रान्ति द्वारा शीघ्रता से बढ़ाई जा सकती है जो द्रुत आर्थिक विकास की अनिवार्य शर्त है। इसीलिए ब्राइस (Bryce) ने आर्थिक विकास की योजना में औद्योगीकरण की ठोस एवं महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की है। बौर (Boure) और यामी (Yamey) ने औद्योगिक क्रान्ति को 'आर्थिक विकास एवं रहन-सहन के ऊँचे स्तर की कुंजी' तथा 'आर्थिक अस्थिरता एवं निर्धनता के उन्मूलन हेतु संजीवनी' बताया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की विकास-नियोजन कमेटी के अनुसार, "विकासशील देशों द्वारा आधुनिकीकरण हेतु साधन जुटाने तथा व्यापक गरीबी, बेरोजगारी एवं पिछड़ेपन की समस्याएं हल करने का प्रमुख साधन औद्योगिक विकास ही है।" गुन्नार मिर्डल के शब्दों में, "औद्योगीकरण तथा कार्यशील जनसंख्या के उस अनुपात में वृद्धि, जो अर्थव्यवस्था के द्वितीयक क्षेत्र में संलग्न है, प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि का महत्वपूर्ण साधन है। भारत और जापान सरीखे देशों में, जहाँ कृषि-भूमि की तुलना में जनसंख्या का अनुपात अधिक है, श्रम-उत्पादकता तथा रहन-सहन के स्तर में सुधार की एकमात्र सम्भावना विनिर्माणी उद्योगों में निहित है।"

उपयुक्त दृष्टिकोण—यथार्थ में 'कृषि-क्रान्ति' तथा 'औद्योगिक क्रान्ति' न केवल परस्पर सम्बन्धित हैं, अपितु आर्थिक विकास की प्रमुख प्रेरक शक्तियाँ भी हैं। यूजीन स्टेले (Eugene Staley) के अनुसार, कृषि-उत्पादकता बढ़ाए बिना औद्योगीकरण असम्भव है तथा औद्योगिक क्रान्ति के बिना कृषि का विकास थोथी कल्पना है। कृषि-विकास के बिना देश की विशाल जनसंख्या की क्रय शक्ति न्यून बनी रहेगी जिसके कारण औद्योगिक विकास की गति तीव्र नहीं हो पाएगी। दूसरी ओर, औद्योगिक विकास के बिना कृषि-क्षेत्र का द्रुत गति से विकास नहीं हो पाएगा; क्योंकि कृषि-क्षेत्र में संलग्न फालतू श्रमशक्ति को लाभप्रद रोजगार दिलाने, कृषि-विकास हेतु उन्नत आगत उपलब्ध कराने तथा कृषि ठोस तकनीकी-आधार प्रदान करने का श्रेय औद्योगिक क्रान्ति को ही है। इसलिए ब्राइस ने लिखा है, "कृषि-क्षेत्र एवं औद्योगिक क्षेत्र का विकास घनिष्ठ रूप से गुंथा हुआ (Interwoven) है। प्रत्येक क्षेत्र पर्याप्त रूप से दूसरे क्षेत्र पर निर्भर है।

आर्थिक विकास की नीति' कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन में साथ-साथ वृद्धि

हेतु सन्तुलित विकास की दिशा में अग्रसर होनी चाहिए। पी-काँग-चाँग (Pie-Kang-Chang) के शब्दों, "कोई देश चाहे कितना ही उद्योग-प्रधान क्यों न हो, वह आर्थिक क्रियाओं को चालू और विकसित नहीं रख सकता; यदि वह अपनी सीमाओं के भीतर कृषि एवं उद्योगों के बीच उचित सन्तुलन बनाए नहीं रखता है अर्थात् आयात एवं निर्यात द्वारा दूसरे देशों के कृषि-व्यवसाय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखता है।" संयुक्त राष्ट्र संघ की विकास-नियोजन कमेटी के अनुसार, "औद्योगीकरण को मुख्य रूप से संसार के विभिन्न भागों में निर्धनों के जीवन-स्तर एवं कार्य दशाओं में सुधार हेतु साधन-स्वरूप देखा जाना चाहिए। इसे मात्र आधुनिक तकनीक के प्रयोग द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुएं उत्पादित करने का साधन नहीं मानना चाहिए। निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति हेतु औद्योगीकरण को दूसरे क्षेत्रों और विशेषकर कृषि-क्षेत्र के घनिष्ठता से सम्बन्धित करना होगा।"

6

19 वीं शताब्दी का आर्थिक विकास

(19th Century Economic Development)

प्रश्न 1—19वीं शताब्दी के आर्थिक विकास की प्रधान विशेषताओं की व्याख्या कीजिये।

Discuss the important features of Nineteenth Century economic Development.

अथवा

"19वीं शताब्दी फ्रांसीसी विचारों तथा अंग्रेजी तकनीक का परिणाम है" व्याख्या कीजिये।

"The 19th Century is the outcome of French ideas and English technique". Discuss.

उत्तर—मानव जाति की भौतिक उन्नति उसके सतत प्रयासों का परिणाम है। आर्थिक विकास के इतिहास में 19वीं शताब्दी का महत्वपूर्ण स्थान है। आर्थिक इतिहासकार 1789 से लेकर 1915 तक के समय को 19वीं शताब्दी मानते हैं। 19वीं शताब्दी के आर्थिक विकास को आधुनिक आर्थिक विकास या आर्थिक क्रान्ति का स्थूल रूप कहा जा सकता है। इस शताब्दी में ग्रेट ब्रिटेन (जिसे आधुनिक आर्थिक विकास का जन्म-स्थान माना जाता है) की सम्पूर्ण विश्व में सर्वोच्चता बनी रही तथा दूसरे देशों ने उसका अनुकरण किया। 19वीं शताब्दी के आर्थिक विकास को 'आर्थिक क्रान्ति' की संज्ञा इसलिए दी गई है क्योंकि, यह कृषि, उद्योग, परिवहन एवं वाणिज्य के क्षेत्रों में उपस्थित क्रान्ति का संयुक्त परिणाम था। इसने विश्व के अनेक देशों को प्रभावित किया।

19वीं शताब्दी के विकास की प्रेरक शक्तियाँ—19 वीं शताब्दी के आर्थिक विकास की दो प्रेरक शक्तियाँ मानी जाती हैं— (i) ग्रेट ब्रिटेन के यान्त्रिक आविष्कार, जिन्होंने प्राकृतिक शक्तियों पर मनुष्य का नियन्त्रण स्थापित किया तथा (ii) फ्रांसीसी आर्थिक स्वतन्त्रता की विचारधारा, जिसने मानव-प्राणी के रूप में मनुष्य की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। नोल्स के शब्दों में, " 19वीं शताब्दी के आर्थिक विकास का इतिकास मध्य एवं पूर्वी यूरोप के सामान्तवादी कृषि-प्रधान देशों पर इंगलैण्ड और फ्रांस दो महान देशों के आविष्कारों एवं विचारों के प्रयोग का इतिहास है।" ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के अतिरिक्त, 19वीं शताब्दी की तीन अन्य महान शक्तियां (जर्मनी, रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका) नवीन आविष्कारों एवं नवीन विचारों का ही परिणाम थीं। वाष्पशक्ति के आविष्कार से रेलों का आविर्भाव हुआ, जिसका इन देशों के आर्थिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। रेलों के विकास ने इन देशों को आवागमन का सस्ता साधन प्रदान किया। फलतः इन देशों से कृषि-पदार्थों का निर्यात होने लगा। रेलों के विकास ने इन देशों में लोहा और कोयला को एक स्थान पर ला दिया, जिससे औद्योगिक क्षेत्र में क्रान्ति का आविर्भाव हुआ। फ्रांस के क्रान्तिकारी विचारों से प्रभावित होकर रूस और जर्मनी ने लाखों परतन्त्र कृषकों को स्वतन्त्र कर दिया तथा संयुक्त राज्य अमेरिका ने दासों को मुक्त कर दिया।

सर्वप्रथम ब्रिटेन निवासी जेम्स वाट ने 1765 में 'वाष्प इंजिन' का आविष्कार किया। इस आविष्कार से पहले मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों के समक्ष लगभग असहाय था। वाष्पशक्ति ने प्राकृतिक बाधाओं पर विजय प्राप्त करने में मनुष्य में समर्थ बनाया। वाष्प-शक्ति के आविष्कार का क्रान्तिकारी प्रभाव उपस्थित हुआ। विनिर्माण, परिवहन एवं खनिज व्यवसायों में यांत्रिक शक्ति का प्रयोग किया जाने लगा। इसी समय ग्रेट ब्रिटेन में और भी कई तरह के आविष्कार हुए। नए-नए यन्त्रों के आविष्कारों से उत्पादन एवं वितरण की प्रचलित पद्धतियों में महान परिवर्तन हुए। रेलों और जलयानों के विकास ने मनुष्य की गतिशीलता में उल्लेखनीय वृद्धि कर दी।

दूसरी ओर, 1789 में हुई फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता' की नई धारणा का सूत्रपात हुआ। 'स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारा' फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के प्रमुख उद्देश्य थे। इस विचारधारा के प्रभाव से स्वेच्छाचारी शासन समाप्त हुआ, समाज का प्राचीन संगठन समाप्त हुआ, सम्पत्ति के सम्बन्ध में नए-नए कानन बने तथा सदियों से चली आ रही दास-प्रथा का अन्त हुआ। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति ने उन आधारभूत विचारों का प्रसार किया, जिन्होने व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने, भ्रमण करने तथा धन-संचय करने की स्वतन्त्रता प्रदान की। इसका यूरोप के जन-जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की फ्रांसीसी विचारधारा ने 1806 और 1865 के बीच मध्य-पूर्वी यूरोप में सम्पन्न विभिन्न प्रकार के सुधारों के लिये आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार की।

कुल मिलाकर, 19वीं शताब्दी फ्रांसीसी विचारों तथा अंग्रेजी तकनीकों का परिणाम थी। ग्रेट ब्रिटेन वाष्पशक्ति के सफल विकास के लिए उत्तरदायी था, जबकि फ्रांस से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विचार फैले तथा विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न तरीके से अपनाये गये। इन विचारों ने वाष्पशक्ति और मशीनरी के साथ मिलकर यूरोप तथा यूरोप के माध्यम से शेष विश्व की अर्थव्यवस्था की काया ही पलट दी। नोल्स के अनुसार, फ्रांसीसी विचारधारा तथा अंग्रेजी तकनीक के संयोग के पाँच महत्वपूर्ण प्रभाव उपस्थित हुए—(i) नए व्यापार एवं व्यवसाय का प्रारम्भ, (ii) यूरोपीय देशों के मध्य नई व्यापारिक एवं औपनिवेशिक प्रतिद्वन्दिता का सूत्रपात, (iii) नए व्यापारिक वर्ग का उदय, (iv) पूंजी-संचय एवं प्रसार, (v) कृषि एवं उद्योग का पुनर्गठन।

19वीं शताब्दी के विकास की विशेषतायें—19वीं शताब्दी के आर्थिक विकास की प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार गिनाई जा सकती हैं—

(1) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्धों का अन्त--फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति द्वारा प्रवाहित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की विचारधारा से दास-प्रथा का अन्त हुआ तथा स्वतन्त्र भ्रमण पर लगे समस्त मध्यकालीन एवं सामन्तवादी प्रतिबन्ध हट गये। इसका कृषि-संगठन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। पहले कृषि-कार्य दासों द्वारा कराया जाता था, जो बिना मजदूरी लिए काम करते थे। अब कृषि-कार्य मजदूरों से कराया जाने लगा, जो काम के बदले निश्चित मजदूरी लेते थे। इस तरह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की विचारधारा ने कृषि-संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया।

(2) वाष्पशक्ति का आविष्कार—जेम्स वाट के प्रयत्नों से वाष्पशक्ति द्वारा परिचालित यन्त्रों का आविष्कार हुआ। औद्योगिक क्षेत्र में इन यन्त्रों का प्रयोग सर्वप्रथम इंगलैण्ड और फ्रान्स ने किया, जो 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'महान औद्योगिक राष्ट्र' बन गए। रूस, जर्मनी तथा सयुक्त राज्य अमेरिका की औद्योगिक तकनीक में भी इसी प्रकार के परिवर्तन हुए। ये तीनों उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक महान औद्योगिक राष्ट्र बन गए। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप इन देशों में नए औद्योगिक वर्ग का जन्म हुआ तथा श्रम-आन्दोलन आरम्भ हुआ। वाष्पशक्ति द्वारा परिचालित यन्त्रों के आविष्कार से पहले श्रमिक और उद्योगपति एक ही व्यक्ति हुआ करता था। अतः किसी प्रकार का वर्ग-संघर्ष उपस्थित नहीं था। नई औद्योगिक व्यवस्था से वर्ग-संघर्ष का आविर्भाव हुआ।

(3) यान्त्रिक परिवहन का विकास—स्थल और जल यातायात के क्षेत्र में वाष्पशक्ति का प्रयोग किया जाने लगा, जिससे रेलों और बड़े-बड़े जलयानों का विकास हुआ। यान्त्रिक परिवहन के विकास से मनुष्य ने दूरी तथा भौगोलिक विषमताओं पर काबू पा लिया। इसका संसार के आर्थिक जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। दूरस्थ देशों के साथ बड़े पैमाने पर व्यापार होने लगा, जिससे विभिन्न

देशों की सामाजिक व्यवस्था भी प्रभावित हुई। परिवहन के यान्त्रिक साधनों द्वारा लोहा एवं कोयला जैसे महत्वपूर्ण खनिजों को एक स्थान पर एकत्रित करना सम्भव हो गया, जिससे लोहा एवं इस्पात उद्योग का जन्म हुआ। इस आधारभूत उद्योग के विकास से परिवहन के यान्त्रिक साधनों के विकास में सुविधा प्राप्त हुई। इस तरह परिवहन-क्रान्ति तथा व्यापारिक क्रान्ति ने औद्योगिक क्रान्ति का अनुसरण किया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आकार में वृद्धि हुई तथा नई-नई वस्तुओं का व्यापार आरम्भ हुआ। व्यापारिक-संगठन में भी उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त बड़े-बड़े व्यापारिक संस्थानों का जन्म हुआ, जिनका सम्बन्ध विश्व के सभी प्रमुख राष्ट्रों से था। 19वीं शताब्दी में रूस अमेरिका सरीखी महान आर्थिक शक्तियों का प्रादुर्भाव यान्त्रिक परिवहन के विकास का ही परिणाम था।

(4) **नई राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों का प्रादुर्भाव**—19वीं शताब्दी के आर्थिक विकास की एक महत्वपूर्ण विशेषता नई राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों का प्रादुर्भाव था, जिन्होंने उद्योग एवं वाणिज्य के क्षेत्र में सरकारी सहायता एवं नियन्त्रण को परिवर्द्धित किया। मध्य-पूर्वी यूरोप के जिन देशों का आर्थिक दृष्टि से विकास हुआ, उनके बीच व्यापारिक प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी। औद्योगिक एवं व्यापारिक क्रान्ति ने नए सामाजिक वर्गों (स्वतन्त्र कृषक, व्यापारी एवं उद्योगपति) को जन्म दिया, जो नई जनतन्त्रीय व्यवस्था की रीढ़ थे। नई व्यवस्था के अनुरूप नई नीतियों के निर्धारण का दायित्व भी इन्हीं वर्गों पर था। इनका ध्येय अत्यधिक उदारवादी नीति का अनुकरण करना था। प्रारम्भ में ये निर्बाधवाद के पक्षपाती थे, किन्तु 1870 के पश्चात् आर्थिक क्रियाकलाप के क्षेत्र में सरकारी नियन्त्रण का समर्थन किया जाने लगा। नई नीति के अन्तर्गत सरकार आंशिक रूप से उद्योग एवं व्यापार का संचालन भी करने लगी।

(5) **औपनिवेशिक विस्तार हेतु प्रतिस्पर्धा**—19वीं शताब्दी के आर्थिक विकास की अन्तिम विशेषता यूरोपीय देशों के बीच औपनिवेशिक विस्तार हेतु होड़ थी, जिसने परस्पर-निर्भरता एव प्रतिद्विन्दता का मार्ग प्रशस्त करके नए औपनिवेशिक युग को जन्म दिया। विकसित देशों के समक्ष अपने उद्योगों के लिये कच्चा-माल तथा विनिर्मित माल के लिये बाजार खोजने की आवश्यकता उपस्थित हुई। फलतः ये देश एशिया, अफ्रीका तथा अमेरिका में नए-नए उपनिवेश खोजने लगे। धीरे-धीरे समूचा विश्व यूरोप के प्रभाव-क्षेत्र में सम्मिलित हो गया। आत्मनिर्भरता हेतु प्रयास के बावजूद, विभिन्न देश परस्पर-निर्भर हो गए तथा समूचा विश्व आर्थिक दृष्टि से एक इकाई बन गया।

नोल्स के शब्दों में, "व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा उसके फलस्वरूप कृषि-पद्धतियों एवं व्यवस्थाओं में क्रान्ति, वाष्पशक्ति द्वारा फलित औद्योगिक एवं व्यापारिक क्रान्तियाँ, श्रम-आन्दोलन, नई राष्ट्रीय नीतियाँ, तथा उपनिवेशीकरण तथा प्रवास 19वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।"

भाग—2

ग्रेट ब्रिटेन का आर्थिक विकास
(Economic Development of Great Britain)

स्मरणीय वाक्य

1. "ग्रेट ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति इतनी सबल थी कि नेपोलियन उसका पूर्ण विध्वंस करने में विफल रहा। 1815 में उसका विश्व की कार्यशाला, विश्व की भट्ठी, विश्व के अधिकोषक तथा विश्व के सबसे बड़े माल-वाहक के रूप में उदय हुआ। वह डचों की नौपरिवहनीय सर्वोच्च तथा फ्रांसिसियों के औद्योगिक नेतृत्व का उत्तराधिकारी बन गया।" —**नोल्स**
2. "19वीं शताब्दी ब्रिटेन के संसार-व्यापी प्रभाव एवं आधिपत्य की शताब्दी थी।" —**नोल्स**
3. "दोनों महायुद्धों के बीच वाली अवधि में ब्रिटेन को अपने इतिहास की सबसे निकृष्ट मन्दी का सामना करना पड़ा। दोनों युद्धों में वह विजयी रहा, किन्तु प्रत्येक बार उसके राजनीतिक प्रभाव एवं आर्थिक शक्ति में गिरावट आई।"
—**पी० ग्रेग**
4. "यह सत्य है कि ब्रिटेन की कृषि-क्रान्ति सर्वथा निर्देशित नहीं थी। यह कोई आन्दोलन न होकर परिस्थितियों की स्वाभाविक, अपरिहार्य एवं स्वचालित परिपक्वता थी।" —**ऑग और शार्प**
5. "ब्रिटेन की तथाकथित औद्योगिक क्रान्ति में छ: बड़े परिवर्तन सम्मिलित थे, जो सभी एक-दूसरे पर निर्भर थे।" —**नोल्स**
6. "ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति औद्योगिक पद्धति में परिवर्तन (हस्त-कर्म से शक्ति-चालित यन्त्रों द्वारा कार्य की ओर) थी।" —**साउथगेट**
7. "विशुद्धतः करेन्सी दृष्टिकोण से इंगलैण्ड द्वारा स्वतन्त्र व्यापार-नीति का अपनाया जाना करेन्सी-व्यवस्था का सर्वाधिक सफल कार्य था।"
—**मॉरगन वेब**
8. "इंगलैण्ड में कोयले ने नहर-प्रणाली आरम्भ की और कोयले ने ही रेलवे को जन्म दिया।" —**नोल्स**
9. "ब्रिटेन में श्रमिक-संगठनों ने जिस ढर्रे का अनुसरण किया है, वह मुख्यतः समग्र रहा है, न कि उदग्र, उद्योगों के आर-पार रहा है, न कि उनकी सर-हदों तक सीमित।" — **रोबर्ट्स**
10. "1833 का कारखाना अधिनियम ब्रिटिश श्रम-विधान के इतिहास में महत्व-पूर्ण सीमा-चिन्ह था। इसमें पहली बार समुचित ढंग से नियम (Law) लागू करने की व्यवस्था सम्मिलित थी।" —**बिग्स और जोर्डन**

1

ब्रिटेन की महानता के आधार
(Basis of Britain's Supremacy)

प्रश्न 1—ग्रेट ब्रिटेन की महानता के प्रमुख आधार क्या हैं ?

What are the principal basis of Great Britain's supremacy ?

उत्तर—ग्रेट ब्रिटेन के अन्तर्गत इंगलैण्ड, स्काटलैण्ड, वेल्स तथा उत्तरी आयरलैण्ड के प्रदेश सम्मिलित हैं। आकार की दृष्टि से इसका विश्व में 75वां स्थान है। इसका कुल क्षेत्रफल 2,44, 00 वर्ग किलोमीटर है। लन्दन इसकी राजधानी है। ग्रेट ब्रिटेन यूरोप के उत्तर-पश्चिमी कोने में स्थित है। जनसंख्या की दृष्टि से इसका विश्व में 14 वां स्थान है। 1981 में इसकी कुल जनसंख्या 5·6 करोड़ थी। 'पृथकता' (Insularity) और 'सार्वभौमिकता' (Universility) इसकी भौगोलिक विशेषतायें हैं जो एक-दूसरे की पूरक हैं।

ग्रेट ब्रिटेन की महानता के आधार—ग्रेट ब्रिटेन को 'आधुनिक आर्थिक विकास का जन्म-स्थान' तथा 'आधुनिक पूँजीवाद का मातृदेश' कहा जाता है। प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक यह सम्पूर्ण संसार के लिए औद्योगिक वस्तुओं की आपूर्ति करता था। कृषि, उद्योग, व्यापार एवं परिवहन के क्षेत्र में नई तकनीक अपनाते हुए इसने आधुनिक 'मशीन युग' प्रारम्भ किया। श्रम-आन्दोलन तथा श्रम-विधान का प्रारम्भ इसी देश से हुआ। 19वीं शताब्दी में इसने संसार से विनिर्माता, व्यापारी, माल-वाहक, बैंकर और विनियोजक की स्थिति अर्जित की तथा अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या का रहन-सहन में ऊंचे स्तर पर भरण-पोषण करने में समर्थ बन गया। इसकी, भाषा, संस्कृति एवं साहित्य का प्रसार संसार के कोने-कोने में हो गया। ग्रेट ब्रिटेन को आर्थिक दृष्टि से महान बनाने में निम्न घटकों का योगदान रहा है—

(1) आदर्श भौगोलिक स्थिति—यूरोप के उत्तर-पश्चिम कोने में स्थित ब्रिटिश द्वीपसमूह का कोई भी हिस्सा समुद्र-तट से 120 किलोमीटर से अधिक दूरी पर नहीं है। पश्चिमी यूरोप के औद्योगिक देशों के निकट होने के साथ-साथ यह संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सुदूरपूर्व के देशों के निकट (समुद्री मार्गों के माध्यम से) भी पड़ता है। इंगलिश चैनल इसे यूरोप के दूसरे देशों से अलग करती है। भौगोलिक पृथकता के कारण यहाँ दीर्घकाल तक शान्ति एवं व्यवस्था बनी रही, जिसने ग्रेट ब्रिटेन को तकनीकी एवं औद्योगिक विकास की ओर बढ़ने का सुनहरा

अवसर प्रदान किया। आदर्श भौगोलिक स्थिति ने ग्रेट ब्रिटेन को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान दिलाया। वर्तमान में इसका विदेशी व्यापार संसार के कुल विदेशी व्यापार का 10 प्रतिशत भाग है।

(2) **छिछला समुद्री-तट**— चारों ओर से समुद्र से घिरा होने के कारण ब्रिटेन निवासियों का समुद्र के साथ निकट का सम्पर्क है। समुद्री आतंक से निर्भीक होकर उन्होंने विश्व के विभिन्न भागों में 'उपनिवेश' स्थापित किए तथा 'ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता' की कहावत चरितार्थ की। छिछले समुद्र-तट के कारण ग्रेट ब्रिटेन में मत्स्य व्यवसाय ने अच्छी प्रगति की है। ब्रिटेन का समुद्री बेड़ा बहुत सुदृढ़ है जो इसकी सफलता एवं शक्ति का प्रमुख कारण रहा है।

(3) **प्राकृतिक बन्दरगाह**—ग्रेट ब्रिटेन में प्राकृतिक बन्दरगाहों की बहुलता है। यहाँ कुल मिलाकर 300 से भी अधिक बन्दरगाह हैं, जिनमें से 11 बन्दरगाह (लन्दन, ग्लासगो, ब्रिस्टल, बेलफास्ट, मिडिलसबरी, लिवरपूल, मानचेस्टर, साउथैम्पटन, न्यूकेसिल, हल और स्वान्सी) व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। संसार के किसी भी देश में ब्रिटेन के बराबर प्राकृतिक बन्दरगाह नहीं हैं। ब्रिटेन के आर्थिक विकास में प्राकृतिक बन्दरगाहों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। ये समुद्री तूफानों से पूर्णतः सुरक्षित हैं तथा वर्ष भर खुले रहते हैं।

(4) **अनुकूल जलवायु**—यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन शीत प्रदेश में स्थित है, किन्तु इसके किनारों से होकर बहने वाली गल्फस्ट्रीम की धारा इसकी जलवायु को अधिक शीतल होने से बचाती है। गर्मियों में इसका अधिकतम तापक्रम 63°F तथा सर्दियों में न्यूनतम तापक्रम 39°F रहता है। अनुकूल जलवायु ग्रेट ब्रिटेन के आर्थिक विकास में सहायक रही है। ब्रिटिश श्रमिकों की ऊँची कार्य-कुशलता का रहस्य बहुत-कुछ अनुकूल जलवायु में निहित है।

(5) **नियमित जलवर्षा**—समुद्र की ओर से बहने वाली पश्चिमी हवायें ग्रेट ब्रिटेन में वर्ष भर नियमित रूप से जल बरसाती हैं। यहाँ बौछार के रूप में जल की वर्षा होती है, जिसके कारण मिट्टी का कटाव कम होता है। नियमित जलवर्षा के कारण यहाँ सिंचाई के कृत्रिम साधनों की विशेष आवश्यकता नहीं है। भारत की तरह, ब्रिटेन की कृषि अनिश्चित एवं अलाभप्रद व्यवसाय नहीं है। ब्रिटिश कृषि की उत्पादकता का स्तर अत्यन्त ऊँचा है। यहाँ पहाड़ों पर स्थित झरने जल-विद्युत के मुख्य स्रोत हैं। पिनाइट पर्वत से निकलने वाली नदियाँ वर्ष भर जल से ओत-प्रोत रहती हैं।

(6) **प्रचुर खनिज सम्पदा**—ग्रेट ब्रिटेन में लोहा, कोयला, चीनी-मिट्टी, टिन, सीसा, जस्ता, निकिल, क्रोमाइट, बॉक्साइट, चूने का पत्थर, टंगस्टन, आदि खनिज पदार्थ प्रचुरता से उपलब्ध हैं। आधारभूत उद्योगों के विकास हेतु आवश्यक खनिज आसपास के क्षेत्रों में उपलब्ध है। यहाँ कोयला पिछले 700 वर्षों से निकाला

जा रहा है। आज भी विश्व के कोयला-उत्पादक देशों में इसका तीसरा स्थान है। खनिज लोहे के भण्डार लंकाशायर, यार्कशायर, कम्बरलैण्ड, नार्थ हेम्पटनशायर स्टेफर्डशायर और वेलस में स्थित हैं। खनिज पदार्थों की प्रचुरता ने ही यहां औद्योगिक क्रान्ति को प्रेरित किया। साउथगेट (Southgate) के शब्दों में, "यदि वाष्प इंजिन के निर्माण हेतु ग्रेट ब्रिटेन में खनिज लोहा तथा उसे गलाने के लिये कोयला उपलब्ध नहीं होता, तब औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात नहीं हो पाता।'

(7) **वनस्पति**—समूचा ब्रिटेन पहाड़ों, पठारों, ढलों, झीलों तथा नदियों से ओत-प्रोत है। नम जलवायु तथा तरह-तरह की मिट्टियों के कारण यहां विभिन्न प्रकार की वनस्पति पाई जाती है, जिससे विभिन्न प्राथमिक व्यवसायों को बढ़ावा मिला है। उत्तम जलवायु, स्वच्छ जल एवं चारे की सुलभता के कारण ढालों में पशुपालन, भेड़पालन और डेरी उद्योग विकसित हुआ है। यहां दक्षिण-पूर्व के निचले मैदानी भाग की मिट्टी अत्यन्त उपजाऊ है जिसमें विविध फसलें उगाई जाती हैं।

(8) **अंग्रेजों की देश-भक्ति**—रोमनों के ब्रिटेन आगमन से पूर्व ब्रिटेन पिछड़े हुए निवासियों का देश था। रोमनों के बाद ब्रिटेन में एंग्लों-सेक्सन, जर्मन तथा दूसरी जातियों के व्यक्ति आए और बस गए। कालान्तर में जातीय भावनाएं नष्ट हो गईं तथा विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से ऐसी जाति का जन्म हुआ, जो एक सूत्र में बंधी हुई तथा देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत थी। साहसी भावना और कठोर परिश्रम के आधार पर यह जाति (अंग्रेज) ग्रेट ब्रिटेन को आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से महान बनाने में सफल हुई।

(9) **सामाजिक एवं धार्मिक उदारता**—ब्रिटिश समाज व्यक्तिगत समानता एवं स्वतन्त्रता के आदर्श पर आधारित है। इसमें रूढ़िवादिता के स्थान पर प्रगतिशीलता तथा धार्मिक कट्टरता के स्थान पर उदारता के दर्शन होते हैं। मध्य-युगीन ब्रिटिश समाज में कुछ अंश तक रूढ़िवादिता विद्यमान थी, किन्तु मैनोरियल कृषि-प्रणाली समाप्त हो जाने पर यह भावना नष्ट हो गई। जिस समय ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, उस समय तक ब्रिटिश समाज इतना उदार बन चुका था कि उसने क्रान्ति के फलस्वरूप उपस्थित सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों का विरोध नहीं किया। ब्रिटिश समाज में स्वयं को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप ढालने की क्षमता विद्यमान थी। इसीलिये 'धर्म' ब्रिटेन के आर्थिक विकास में बाधक नहीं बन पाया।

(10) **सुदृढ़ प्रशासन**—12वीं शताब्दी तक ब्रिटेन का प्रशासन सुदृढ़ बन चुका था। कालान्तर में यह और अधिक सुदृढ़ बना तथा राजतन्त्र की छत्र-छाया में संसदीय प्रणाली (जनतन्त्र) का विकास हुआ। सुदृढ़ प्रशासन के कारण ब्रिटेन में दीर्घकाल में आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था बनी रही, जो इसके आर्थिक विकास में सहायक सिद्ध हुई। जिस समय यूरोप के दूसरे देश युद्धों या आन्तरिक कलह में उलझे रहे, उस समय आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था ने ग्रेट ब्रिटेन के निवासियों

को तकनीकी एवं औद्योगिक विकास का सुनहरा अवसर प्रदान किया।

(11) शिक्षा एवं साहित्य—शिक्षा के क्षेत्र में नये प्रयोग सर्वप्रथम ग्रेट ब्रिटेन ने ही आरम्भ किए। ब्रिटेन के बढ़ते हुए विदेशी व्यापार तथा औपनिवेशिक साम्राज्य ने अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य को विश्व के कोने-कोने तक फैला दिया। शिक्षित जनशक्ति का विशाल दल ग्रेट ब्रिटेन की महत्वपूर्ण उपलब्धि था। शिक्षित जनशक्ति प्रगतिशील अर्थव्यवस्था द्वारा उत्पन्न नए-नए साधनों को अपनाकर विकास को गतिमान करने में सफल हुई।

(12) वैज्ञानिक एवं तकनीकी आविष्कार—वाष्प शक्ति का आविष्कार 1710 में न्यूकमेन (Newcomen) ने कोयले की खानों से पानी निकालने के लिये किया था। 1765 में जेम्स वाट (James Watt) ने वाष्प इंजिन के निर्माण एवं प्रयोग को मितव्ययी बना दिया। वाष्पशक्ति को प्रयोग में लाने के लिये विभिन्न मशीनों के आविष्कार ने ब्रिटेन को ऐसी महान शक्ति प्रदान की, जो उस समय तक संसार के दूसरे देशों के लिये सर्वथा अज्ञात थी। ये आविष्कार कारीगरों और वैज्ञानिकों ने मिलकर किए थे। इन आविष्कारों ने उत्पादन, व्यापार और परिवहन के क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किए; क्योंकि आविष्कारों को मूर्त रूप देने के लिये ग्रेट ब्रिटेन में गतिशील उद्यमी वर्ग विद्यमान था।

निष्कर्ष—ग्रेट ब्रिटेन में आर्थिक विकास हेतु आवश्यक भौगोलिक (प्राकृतिक) एवं सामाजिक परिस्थितियाँ विद्यमान थीं। इन परिस्थितियों से लाभ उठाने के लिये ब्रिटेन-निवासियों ने 16वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी तक कठोर परिश्रम किया। उन्हें विकास की प्रारम्भिक अवस्था में अवश्यम्भावी समस्याओं का सामना करना पड़ा। इन समस्याओं का समाधान भी उन्हें स्वयं खोजना पड़ा 19वीं शताब्दी में उन्होंने ब्रिटेन को विश्व का सर्वोच्च राष्ट्र बना दिया। तकनीकी परिवर्तनों के आधार पर यहां कृषि, उद्योग, परिवहन, वाणिज्य एवं व्यवसाय के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण से उदार अंग्रेजों ने इन परिवर्तनों का स्वागत किया तथा स्वयं को परिवर्तित सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लिया। ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में उपस्थित विकास केवल ब्रिटेन तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु दूसरे देशों में भी फैलने लगे। ब्रिटेन के अनुभवों से लाभ उठाकर दूसरे देशों ने भी अपना औद्योगिक विकास किया। विदेशी व्यापार के क्षेत्र में अपने अनुभव, विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य से एकत्रित पूंजी, विशाल सामुद्रिक शक्ति तथा दक्ष जनशक्ति के आधार पर ब्रिटेन ने अपनी अर्थव्यवस्था को बिल्कुल नया रूप प्रदान किया है।

प्रश्न 2—ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की प्रधान विशेषताओं की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये।

Briefly discuss the main features of British economy.

उत्तर—फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के समय (1789) ई० से लेकर प्रथम महा-

युद्ध (1914) तक औद्योगिक एवं व्यापारिक दृष्टि से ग्रेट ब्रिटेन की समूचे विश्व में सर्वोच्चता कायम रही। प्रथम महायुद्ध तथा तीसा की महामन्दी ने ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था को गहरा आघात पहुंचाया। विश्व का आर्थिक नेतृत्व ग्रेट ब्रिटेन के हाथों से निकलकर सयुक्त राज्य अमेरिका के हाथों में चला गया। द्वितीय महायुद्ध ने ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था को विल्कुल अस्त-व्यस्त कर दिया। युद्धोत्तरकाल में ब्रिटेन का औपनिवेशिक ,साम्राज्य समाप्त हो गया। यद्यपि इस समय विश्व का आर्थिक नेतृत्व संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस को प्राप्त है; तथापि आज भी ग्रेट ब्रिटेन आर्थिक, राजनैतिक एवं साँस्कृतिक दृष्टि से संसार का विकसित देश माना जाता है।

ब्रिटिश-अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ—ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(1) राष्ट्रीय आय एवं प्रतिव्यक्ति आय का ऊंचा स्तर—1965 में ग्रेट ब्रिटेन का कुल राष्ट्रीय उत्पादन (विदेशों से प्राप्त निवल अर्जनों सहित) 9,953 करोड़ डॉलर था, जो 1984 में बढ़कर 42,537 करोड़ डॉलर हो गया। स्थिर मूल्यों के आधार पर विगत 10 वर्षों में ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय में 30 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। अतः ब्रिटेन में आर्थिक प्रगति की दर 3 प्रतिशत वार्षिक मानी जा सकती है, जो परिपक्व अर्थव्यवस्था के लिये पर्याप्त है। 1984 में यहाँ प्रतिव्यक्ति औसत आय 8,570 डॉलर थी अर्थात् औसत भारतीय की वार्षिक आय से 35 गुनी अधिक। विगत 10 वर्षों में ग्रेट ब्रिटेन के मूल्य-स्तर में केवल 28 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, जबकि मजदूरियों में 53 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। युद्धोत्तरकालीन मुद्रा-स्फीति पर नियन्त्रण रखकर ग्रेट ब्रिटेन व्यक्तिगत आय के वास्तविक मूल्य को गिरने से रोकने में सफल रहा है।

(2) उद्योग-प्रधान अर्थव्यवस्था—औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात ब्रिटिश अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान से बदलकर उद्योग-प्रधान बन गई। 1870 से लेकर 1913 तक ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के कृषि-क्षेत्र में संलग्न श्रमशक्ति में 46 प्रतिशत की गिरावट आई, जिसका आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। 1870 और 1913 के बीच ब्रिटेन की वास्तविक राष्ट्रीय आय में 137 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस समय ग्रेट ब्रिटेन की केवल 2 प्रतिशत श्रमशक्ति कृषि-क्षेत्र में संलग्न है। 42 प्रतिशत श्रमशक्ति उद्योग-क्षेत्र में तथा शेष 56 प्रतिशत श्रमशक्ति सेवा-क्षेत्र में संलग्न है। 1984 में ग्रेट ब्रिटेन को अपने कुल राष्ट्रीय उत्पादन का 2 प्रतिशत कृषि-क्षेत्र से, 34 प्रतिशत उद्योग-क्षेत्र से तथा शेष 64 प्रतिशत सेवा-क्षेत्र से प्राप्त हुआ था। स्पष्टतः ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में विनिर्माणी उद्योगों की प्रधानता है तथा प्राथमिक उपक्रमों का अत्यन्त गौणस्थान है।

(3) मिश्रित अर्थव्यवस्था—'मिश्रित अर्थव्यवस्था' का विचार सर्वप्रथम ग्रेट ब्रिटेन ने 1946 में अपनाया। ग्रेट ब्रिटेन की मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजी

एवं सार्वजनिक उपक्रमों का सह-अस्तित्व विद्यमान है। रेलवे प्रणाली, कोयले की खानें, डाक तार एवं रेडियो-प्रसारण, विद्युत और गैस का उत्पादन एवं वितरण, वायु तथा सड़क परिवहन लोक क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। आर्थिक प्रगति के मूल्यांकन तथा आर्थिक विकास की गति तीव्र करने के लिये ब्रिटेन में 'आर्थिक नियोजन' (जो मिश्रित अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषता है) का आश्रय लिया गया है। नियोजन कार्य में सहयोग देने के लिये राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद, आर्थिक मामलों का विभाग आर्थिक विकास कमेटियाँ तथा क्षेत्रीय आर्थिक नियोजन परिषदें स्थापित की गई हैं।

(4) **जनांकिकीय विशेषतायें**—1981 की जनगणना के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन की कुल जनसंख्या 55.3 मिलियन है। 1961 में यह 52.7 मिलियन थी। इस तरह दो दशकों के बीच ब्रिटिश जनसंख्या में केवल 26 लाख की वृद्धि हुई अर्थात् जनसंख्या वृद्धि की दर 0.5 प्रतिशत वार्षिक से मामूली अधिक रही। जनसंख्या के आकार की दृष्टि से ग्रेट ब्रिटेन का विश्व में चौदहवां स्थान है, जबकि जनगणना की दृष्टि से इसका पांचवाँ स्थान है। यहां जनसंख्या का घनत्व 231 व्यक्ति प्रति-वर्ग किलोमीटर है। जन्म-दर 13.5 प्रति हजार तथा मृत्यु-दर 12 प्रति हजार है। कुल जनसंख्या में श्रमशक्ति (कार्यशील जनसंख्या) का अनुपात 65 प्रतिशत है। कृषि-क्षेत्र में केवल 2 प्रतिशत श्रमशक्ति संलग्न है। शेष श्रमशक्ति उद्योग, व्यापार, खनन, परिवहन, संचार, सरकारी और घरेलू सेवाओं में संलग्न है। ब्रिटेन में साक्षरता का स्तर शत-प्रतिशत है। केवल 8 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में और शेष 92 प्रतिशत शहरी क्षेत्रों में निवास करती है। प्रति एक हजार पुरुषों के पीछे 1,170 स्त्रियाँ हैं।

(5) **रहन-सहन का ऊंचा स्तर**—एशियाई देशों की अपेक्षा ब्रिटेन-निवासियों का रहन-सहन का स्तर बहुत ऊंचा है। इसके दो मुख्य कारण हैं—प्रतिव्यक्ति आय का ऊंचा स्तर तथा परिवार का छोटा आकार। ब्रिटेन में लगभग 1.5 करोड़ परिवार हैं, जिनमें से 70 प्रतिशत की सदस्य-संख्या तीन-चार से अधिक नहीं है। ब्रिटेन-निवासियों का आहार संतुलित और पौष्टिक है। उनके आहार में मांस, मक्खन, पनीर, फल और सब्जी की अधिकता रहती है। औसत ब्रिटिश नागरिक को उपने दैनिक आहार से 3,336 कैलोरीज ऊर्जा प्राप्त होती है। जीवन की दूसरी सुविधाओं के विचार से भी ब्रिटेन-निवासी बहुत आगे हैं। ब्रिटेन में 80 प्रतिशत परिवारों के पास टेलीविजन सैट तथा 33 प्रतिशत परिवारों के पास मोटरकार हैं। प्रति एक हजार व्यक्तियों के पीछे 262 मोटर गाड़ियाँ, 314 टेली-फोन तथा 672 रेडियो सैट हैं।

(6) **पूंजी-निर्माण का ऊंचा स्तर**—एशियाई देशों की अपेक्षा ग्रेट ब्रिटेन में घरेलू बचत एवं निवेश (पूंजी-निर्माण) का स्तर बहुत ऊंचा है। 1956 में घरेलू बचत की राशि 3,604 मिलियन ,पौण्ड थी जो 1984 में बढ़कर 27,750

मिलियन पौण्ड हो गई। कुल राष्ट्रीय बचत का 40 प्रतिशत भाग निर्गमित कम्पनियों से तथा 10 प्रतिशत सार्वजनिक निगमों से प्राप्त होता है। शेष 50 प्रतिशत बचतें व्यक्तियों, सरकारी एवं अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं से प्राप्त होती हैं। 1950 में घरेलू बचत एवं निवेश की दर कुल राष्ट्रीय उत्पादन की 11 प्रतिशत थी जो 1984 में बढ़कर 24 प्रतिशत हो गई।

(7) **कृषि एवं उद्योग**—ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में उद्योग-धन्धों की अपेक्षा कृषि का महत्व बहुत कम है। कृषि, पशुपालन एवं मत्स्य व्यवसाय से केवल 50 प्रतिशत खाद्य-आवश्यकताओं की पूर्ति हो पाती है। शेष 50 प्रतिशत खाद्य-सामग्री विदेशों से आयात करनी पड़ती है। ब्रिटेन में कृषि-जोतों का औसत आकार 55 हैक्टेयर है। यान्त्रिक कृषि के विस्तार के कारण ब्रिटेन की 2 प्रतिशत जनसंख्या ही कृषि-क्षेत्र पर आश्रित है। यहाँ 90 प्रतिशत कृषि-फार्मों को विद्युत की सुविधा उपलब्ध है। कृषि-उत्पादकता (भूमि-उत्पादकता एवं श्रम-उत्पादकता) का स्तर अत्यन्त ऊंचा है। विगत 10 वर्षों में यहाँ कृषि-श्रमिकों की मजदूरी में 60 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

तकनीकी ज्ञान, खनिज-पदार्थों की सुविधा तथा कच्चे-माल का आयात ग्रेट ब्रिटेन के औद्योगिक विकास में सहायक रहा है। यहाँ आधारभूत उद्योगों का जाल-सा बिछा हुआ है। उपभोक्ता-वस्तु उद्योग अनेक प्रकार की वस्तुएं निर्मित करते हैं। सार्वजनिक एवं सैनिक महत्त्व के उपकरणों को छोड़कर, अन्य सभी उद्योगों का संचालन निजी व्यक्तियों या कम्पनियों के हाथ में है। निजी क्षेत्र के उद्योगों को सरकार अनेक प्रकार की सहायता प्रदान करती है, जैसे—आवश्यक सेवाओं की व्यवस्था, सूचना एवं परामर्श, औद्योगिक अनुसन्धान आदि। श्रम, आयात-निर्यात तथा भूमि-उपयोग से सम्बन्धित प्रतिबन्धों को छोड़कर, सरकार ने उद्योग-धन्धों पर अन्य प्रतिबन्ध नहीं लगाये हैं। उद्योगों की उत्पादकता बढ़ाने तथा उत्पादित माल की किस्म सुधारने में भी ब्रिटिश सरकार ने सहायता की है।

(8) **परिवहन और संचार**—ग्रेट ब्रिटेन में रेल, सड़क, वायु एवं जल यातायात की सुविधाओं का पर्याप्त विस्तार हुआ है। ग्रेट ब्रिटेन की 7.3 प्रतिशत श्रमशक्ति परिवहन एवं संचार सेवाओं में संलग्न है। इन सेवाओं का राष्ट्रीय आय में अंशदान लगभग 8 प्रतिशत रहता है। यहाँ प्राकृतिक बन्दरगाहों की बहुलता है। ब्रिटेन की जलयान-क्षमता विश्व की जलयान-क्षमता का 14 प्रतिशत है। यहाँ विशाल जलयानों का निर्माण होता है। वायु परिवहन के क्षेत्र में दो निगम कार्यशील हैं—ब्रिटिश समुद्र-पारीय एयरवेज तथा ब्रिटिश यूरोपियन एयरवेज।

(9) **श्रम-कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा**—ब्रिटेन के श्रमिक भली-भाँति संगठित एवं सम्पन्न हैं। 'ट्रेड यूनियन कांग्रेस' श्रमिक-संगठनों की केन्द्रीय संस्था है। श्रमिकों की सौदाकारी शक्ति सुदृढ़ है। अधिकांश औद्योगिक विवादों का

निपटारा श्रमिकों एवं सेवायोजकों के प्रतिनिधियों की आपसी बातचीत द्वारा हो जाता है। श्रमिकों का पृथक राजनीतिक दल (लेबर पार्टी) भी है जिसने कई बार चुनाव जीतकर अपनी सरकार बनाई है। श्रम-सन्नियमों के अन्तर्गत श्रम-कल्याण कार्यों की न्यूनतम व्यवस्था विद्यमान है। बेवरिज योजना पर आधारित सामाजिक सुरक्षा का विस्तृत कार्यक्रम लागू है, जिसने ब्रिटिश श्रमिकों को जीवन की समस्त चिन्ताओं से मुक्त कर दिया है।

(10) **विदेशी व्यापार**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में इस समय ग्रेट ब्रिटेन को चौथा स्थान प्राप्त है। संसार के कुल आयात-निर्यात व्यापार में इसका हिस्सा 10 प्रतिशत है। इसके कुल आयात का आधा भाग खाद्य-पदार्थों तथा औद्योगिक कच्चे-माल के रूप में होता है। कुल निर्यात का आधा भाग इंजीनियरिंग उत्पादों के रूप में होता है। द्वितीय महायुद्धकाल में तथा उसके पश्चात् ब्रिटेन का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो गया था। इसे ठीक करने के लिये 1949 में ब्रिटिश सरकार ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। 1966 में उसे पौण्ड-स्टर्लिंग का पुनः अवमूल्यन करना पड़ा। इस समय ब्रिटेन का व्यापार-सन्तुलन घाटे में रहता है, किन्तु यह घाटा अदृश्य आयातों की अपेक्षा अदृश्य निर्यातों के आधिक्य से पूरा हो जाता है।

(11) **मुद्रा, बैंकिंग एवं मूल्य-स्तर**—ब्रिटेन की बैंकिंग प्रणाली अत्यन्त सुदृढ़ है। 'बैंक ऑफ इंगलैण्ड' संसार का सबसे प्राचीन केन्द्रीय बैंक है, जो ब्रिटिश सरकार की मौद्रिक नीतियां क्रियान्वित करता है। ब्रिटिश मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के निपटारे में काम आने वाली प्रमुख मुद्रा है। ब्रिटेन में व्यापारिक बैंकिंग का अधिकांश कार्य 5 बड़े बैंकों में केन्द्रित है, जिनकी देशभर में शाखाएं विद्यमान हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय आरम्भ हुई मूल्य-वृद्धि की प्रवृत्ति ब्रिटेन में आज भी विद्यमान है, किन्तु यह भारत की तरह अधिक तीव्र नहीं है। विगत 10 वर्षों में ब्रिटेन के मूल्य-स्तर में 28 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

(12) **राजस्व**—ब्रिटेन में राष्ट्रीय आय के साथ कराधान का अनुपात 29.2 प्रतिशत है। कर-राजस्व में प्रत्यक्ष करों का हिस्सा 65.8 प्रतिशत है। प्रत्यक्ष करों में आय-कर अधिभार, मृत्यु-कर तथा लाभकर प्रमुख हैं। परोक्ष करों में उत्पादन-शुल्क, क्रय-कर तथा आयात-निर्यात शुल्क मुख्य हैं। सार्वजनिक व्यय की सबसे बड़ी मद प्रतिरक्षा है। इसके बाद सामाजिक सेवाओं (शिक्षा, चिकित्सा, सामाजिक सहायता एवं जन-कल्याण) का स्थान है। सार्वजनिक व्यय के क्षेत्र में तीसरा स्थान आर्थिक सेवाओं (गृह-निर्माण, सड़क-विकास, औद्योगिक अनुसन्धान, कृषि एवं सम्बद्ध कार्य को प्राप्त है।

———

2

ब्रिटेन में कृषि-क्रान्ति

(Agricultural Revolution in Britain)

प्रश्न 1—इंगलैण्ड की कृषि-क्रान्ति की प्रधान विशेषतायें समझाइए तथा इसके सामाजिक-आर्थिक परिणामों की व्याख्या कीजिए।

Explain the main features of Agriarian Revolution of England and discuss its socio-economic consequences.

(3) **फसल चक्र की नई पद्धति**—कृषि-क्रान्ति से पूर्व ब्रिटेन में एक-तिहाई कृषि-भूमि प्रतिवर्ष परती छोड़ी जाती थी। अब कृषि-भूमि को परती छोड़ना बन्द हो गया तथा फसल-चक्र (Rotation of Crops) की नई पद्धति अपनाई गई। यह लार्ड टाउनशेड (Townshed) द्वारा चलाई गई चतुर्वर्षीय पद्धति थी। इस पद्धति के सर्वाधिक प्रचलित स्वरूप के अन्तर्गत चार वर्षों में क्रमशः गेहूं, रामपर्ण (Clover), जौ तथा शल्जम की खेती की जाती थी।

(4) **कृषि-कला में क्रान्तिकारी परिवर्तन**—ग्रेट ब्रिटेन की कृषि तकनीक में तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए—(I) जल-निकासी की उपयुक्त व्यवस्था; (II) खेतों की जुताई, बुवाई तथा फसलों की कटाई में मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग; [illegible] ब्रिटेन की निर्वाह खेती की व्यापारिक खेती में [illegible] हुआ था। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप व्यक्तियों के दृष्टिकोण तथा आवश्यकताओं में परिवर्तन आया था। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्य-आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वैज्ञानिक कृषि की आवश्यकता थी। कृषि-क्रान्ति इन सब परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम थी।

कृषि-क्रान्ति के कारण

ग्रेट ब्रिटेन में आई कृषि-क्रान्ति के लिये निम्न घटक उत्तरदायी थे—

(1) **जनसंख्या में तीव्र वृद्धि**—ग्रेट ब्रिटेन की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी, जिसके कारण खाद्यान्नों की माँग में भारी वृद्धि हुई। दूसरी ओर, नैपोलियन युद्धों के कारण ब्रिटेन के लिये खाद्यान्न का आयात करना सम्भव नहीं था। ऐसी स्थिति में खाद्यान्न की अतिरिक्त माँग की पूर्ति कृषि का घरेलू उत्पादन बढ़ाकर ही सम्भव थी। इसके लिए कृषि-तकनीक एवं संगठन में परिवर्तन आवश्यक था, जिसकी अभिव्यक्ति 'घेराबन्दी आन्दोलन' में हुई। इस आन्दोलन के अन्तर्गत छोटी-छोटी

जोतों को मिलाकर बड़े-बड़े फार्म स्थापित किए जाने लगे तथा अधिक पूँजी एवं नए-नए औजारों के आधार पर खेती की जाने लगी।

(2) खाद्यान्न के ऊंचे मूल्य—तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण खाद्यान्नों की माँग और मूल्यों में वृद्धि स्वाभाविक थी। 1689 में पारित खाद्यान्न-सहायता अधिनियम से भी मूल्य-वृद्धि को प्रोत्साहन मिला था। मूल्य-वृद्धि के कारण कृषि का कार्य लाभदायक हो गया। इससे कृषि-क्षेत्र में अधिक पूँजी के निवेश को प्रोत्साहन मिला।

(3) कृषि का पूंजीकरण—कृषि-क्षेत्र में पूँजी के बढ़ते हुए प्रयोग ने कृषि-क्रान्ति के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। वणिकवादी पद्धति के अन्तर्गत ब्रिटिश व्यापारियों और व्यवसायियों ने विदेशी व्यापार के माध्यम से बहुत अधिक धन कमाया था। उन्हें भूमि खरीदने तथा पूंजी-गहन खेती करने की प्रेरणा मिली, क्योंकि उस समय ब्रिटेन में 'भूमि' राजनीतिक शक्ति एवं सामाजिक प्रतिष्ठा का मुख्य आधार थी।

(Enclosure) सुविधाजनक बन गई। 1760 से लेकर 1849 तक लगभग 80 लाख एकड़ भूमि की घेराबन्दी की गई। 1875 में घेराबन्दी आयुक्त की कमेटी का गठन हुआ जो गाँवों में जाकर घेराबन्दी कार्य की देखभाल करती थी। खुले खेतों के स्थान पर भूमि की घेराबन्दी और चकबन्दी ब्रिटिश कृषि-क्रान्ति की प्रमुख विशेषता थी। इस अवधि में दलदली भूमि को कृषि-योग्य बनाने के प्रयास भी किए गए। भूमि की घेराबन्दी और चकबन्दी से कृषि-उत्पादन एवं उत्पादकता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

(2) **पूंजी का बढ़ता हुआ प्रयोग तथा बड़े फार्मों की स्थापना**—ब्रिटिश पूंजीपतियों ने उपनिवेशों से अर्जित आय का प्रयोग कृषि-क्षेत्र में आरम्भ कर दिया। उन्होंने लघु कृषकों की भूमि खरीदकर बड़े-बड़े फार्मों की स्थापना की। बड़े किसानों और पूंजीपतियों के लिये उन्नत कृषि-आगतों का प्रबन्ध करना सम्भव था। अतः कृषि-क्षेत्र में बड़े पैमाने पर पूंजी का प्रयोग किया जाने लगा। छोटे किसान भूमि हीन श्रमिकों में परिणत हो गए।

(3) **फसल चक्र की नई पद्धति**—कृषि-क्रान्ति से पूर्व ब्रिटेन में एक-तिहाई कृषि-भूमि प्रतिवर्ष परती छोड़ी जाती थी। अब कृषि-भूमि को परती छोड़ना बन्द हो गया तथा फसल-चक्र (Rotation of Crops) की नई पद्धति अपनाई गई। यह लार्ड टाउनशेड (Townshed) द्वारा चलाई गई चतुर्वर्षीय पद्धति थी। इस पद्धति के सर्वाधिक प्रचलित स्वरूप के अन्तर्गत चार वर्षों में क्रमशः गेहूं, रामपर्ण (Clover), जौ तथा शल्जम की खेती की जाती थी।

(4) **कृषि-कला में क्रान्तिकारी परिवर्तन**—ग्रेट ब्रिटेन की कृषि तकनीक में तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए—(I) जल-निकासी की उपयुक्त व्यवस्था; (II) खेतों की जुताई, बुवाई तथा फसलों की कटाई में मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग; [illegible] निर्वाह खेती को व्यापारिक खेती में [illegible] हुआ था। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप व्यक्तियों के दृष्टिकोण तथा आवश्यकताओं में परिवर्तन आया था। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्य-आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वैज्ञानिक कृषि की आवश्यकता थी। कृषि-क्रान्ति इन सब परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम थी।

कृषि-क्रान्ति के कारण

ग्रेट ब्रिटेन में आई कृषि-क्रान्ति के लिये निम्न घटक उत्तरदायी थे—

(1) **जनसंख्या में तीव्र वृद्धि**—ग्रेट ब्रिटेन की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी, जिसके कारण खाद्यान्नों की माँग में भारी वृद्धि हुई। दूसरी ओर, नैपोलियन युद्धों के कारण ब्रिटेन के लिये खाद्यान्न का आयात करना सम्भव नहीं था। ऐसी स्थिति में खाद्यान्न की अतिरिक्त माँग की पूर्ति कृषि का घरेलू उत्पादन बढ़ाकर ही सम्भव थी। इसके लिए कृषि-तकनीक एवं संगठन में परिवर्तन आवश्यक था, जिसकी अभिव्यक्ति 'घेराबन्दी आन्दोलन' में हुई। इस आन्दोलन के अन्तर्गत छोटी-छोटी

कृषि-उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि हुई। 1750 से लेकर 1780 तक प्रति एकड़ कृषि-उपज 50 प्रतिशत बढ़ गई। इससे कृषि-भूमि का लगान भी बढ़ गया। उत्पादकता के विचार से सम्पूर्ण विश्व में ब्रिटिश कृषि का सर्वोच्चता स्थापित हो गई।

(2) **पूंजीवादी कृषि का विकास**—कृषि-क्रान्ति के फलस्वरूप कृषि-क्षेत्र में पूंजी का प्रमुत्व बढ़ गया। कृषि-भूमि का स्वामित्व गिने-चुने पूँजीपतियों के हाथों में चला गया। छोटी-छोटी कृषि-जोतों के स्थान पर बड़े-बड़े फार्मों की स्थापना हुई, जिनमें वैज्ञानिक पद्धतियों तथा नए-नए औजारों द्वारा खेती की जाने लगी। इस तरह, व्यक्तिगत कृषि के स्थान पर पूंजीवादी कृषि का आविर्भाव हुआ। इससे कृषि-जोतों के अकार में वृद्धि हुई तथा घेराबन्दी आन्दोलन को बल मिला।

(3) **पशुओं की संख्या और उत्पादकता में वृद्धि**—कृषि-क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटेन में पशुओं और भेड़ों की संख्या बढ़ गई। उनकी नस्ल सुधर गई तथा उत्पादकता का स्तर पर्याप्त ऊँचा हो गया। औसत भेड का वजन 28 पौण्ड से बढ़कर 80 पौण्ड हो गया।

(4) **लघु कृषकों का अन्त**—कृषि-क्रान्ति के फलस्वरूप कृषि-भूमि लघु कृषकों के हाथ से निकलकर पूंजीपतियों के हाथ में चली गई। 1740 से लेकर 1780 तक लगभग 50 हजार छोटे-छोटे फार्म समाप्त हो गए। 1850 तक लघु कृषक पूर्णतः विलुप्त हो गए। फलतः ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन कृषि-श्रमिकों का सर्वहारा वर्ग उदय हुआ जो अपनी आजीविका के लिये पूर्णतः मजदूरी पर आश्रित रहने लगा।

(5) **कृषि का यन्त्रीकरण**—कृषि क्रान्ति के फलस्वरूप कृषि-कार्यों में यन्त्रों का प्रयोग किया जाने लगा। भूमि की जुताई-बुवाई तथा फसलों की कटाई में नई पद्धतियों का प्रयोग आरम्भ हुआ। यान्त्रिक खेती के विस्तार से कृषि-क्षेत्र में श्रम की मांग घट गई। इसका कृषि-श्रमिकों की मजदूरी पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

(6) **भूस्वामियों का प्रभुत्व**—कृषि-क्रान्ति के पश्चात भूमि को सामाजिक प्रतिष्ठा एवं राजनीतिक शक्ति का साधन समझा जाने लगा। फलतः भूस्वामियों का सामाजिक और राजनीतिक प्रमुत्व बढ़ गया। ब्रिटिश संसद मुख्य रूप से भूस्वामियों के नियन्त्रण में आ गई।

(7) **ग्रामीण जनसंख्या का पलायन**—गिने-चुने पूंजीपतियों के हाथों मे कृषि-भूमि केन्द्रित हो जाने तथा कृषि-कार्यों में श्रम की आवश्यकता घट जाने से ग्रामीण क्षेत्र का सर्वहारा वर्ग आजीविका की तलाश में औद्योगिक केन्द्रों या उपनिवेशों की ओर पलायन करने लगा। फलतः गांवों की जनसंख्या कम होने लगी।

(8) **ग्रामीण वर्ग-विभेद**—कृषि-क्रान्ति के फलस्वरूप ग्रामीण-क्षेत्रों में वर्ग-विभेद बिल्कुल स्पष्ट हो गया। ग्रामीण समाज तीन वर्गों में बंट गया — (1) भूस्वामी, जिन्हें भूमि से आय प्राप्त होती थी, किन्तु जो स्वयं खेती नहीं करते

थे । (ii) लगान पर भूमि लेकर खेती करने वाले काश्तकार। (iii) भूमिहीन कृषि-श्रमिक ।

कुल मिलाकर, ब्रिटेन की कृषि-क्रान्ति आर्थिक दृष्टिकोण से उचित थी; किन्तु, इसके सामाजिक परिणाम अत्यन्त विनाशकारी थे। यद्यपि कृषि-क्रान्ति के फलस्वरूप कृषि-तकनीक में सुधार हुआ, कृषि-उपज बढ़ गई, भूस्वामियों का लाभ तथा भूमि का लगान बढ़ गया; तथापि इससे लघु कृषक नष्ट हो गए तथा ग्रामीण सर्वहारा वर्ग का जन्म हुआ, जिसका भूमि से कोई सम्बन्ध नहीं था, जिसके अधिकार में उत्पत्ति का कोई साधन नहीं था और जो भूमिहीन के साथ-साथ कार्यहीन भी था।

प्रश्न 2—19वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में ब्रिटिश कृषि की स्थिति का उल्लेख कीजिए। कृषकों की सहायतार्थ सरकार ने कौन से कदम उठाए थे ?

Describe the condition of British agriculture in the last quarter of 19th century. What steps had been taken by the Government to help the agriculturists ?

अथवा

"यदि 19वीं शताब्दी का तृतीय चतुर्थांश ब्रिटिश कृषि के लिए स्वर्णिम युग था, तब अन्तिम चतुर्थांश घोर मन्दी का समय था" व्याख्या कीजिए।

"If the third quarter of 19th century was the golden age of British agriculture, the last quarter was the time of unrelieved and unexampled depression." Discuss.

उत्तर—यद्यपि 19वीं शताब्दी के आरम्भ तक ब्रिटिश कृषि के उत्पादन में आशाजनक वृद्धि हुई, तथापि इससे बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्य-आपूर्ति की समस्या आंशिक रूप से हल हो पाई। 1750 से लेकर 1801 तक ब्रिटेन की जन-संख्या और खाद्य-पदार्थों की माँग में 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1793 से लेकर 1815 तक ब्रिटेन लगातार फ्रांस के साथ युद्ध में उलझा रहा। इस अवधि में ब्रिटेन के लिए आयात द्वारा खाद्यान्न की आपूर्ति बढ़ाना अधिक कठिन हो गया। 1809 और 1810 के दो वर्षों में खराब फसल के कारण ब्रिटेन में खाद्यान्न का अभाव और भी बढ़ गया। अनाज की कीमत बढ़कर 160 शिलिंग प्रति क्वाटर तक पहुँच गई। चूँकि कीमत-वृद्धि से मुख्यत: बड़े किसान लाभान्वित हुए थे, इसलिए घराबन्दी आन्दोलन की गति अधिक तीव्र हो गई। 1815 तक विशालकाय घेराबन्दी फार्म ग्रामीण अर्थव्यवस्था की सामान्य इकाई बन गए तथा खुले खेतों की प्रणाली अपवाद-स्वरूप हो गई।

1815 में शान्ति की स्थापना के साथ ब्रिटेन के लिए बड़ी मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना सम्भव हुआ। फलत: खाद्यान्नों के मूल्य में गिरावट आई, जिसका भूस्वामियों की समृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव दिखाई दिया। भूस्वामियों के हितों की

रक्षा के लिए ब्रिटिश संसद ने 1815 में 'अनाज अधिनियम' पारित किया। इसके अन्तर्गत विभिन्न अनाजों के लिए मूल्य की अधिकतम सीमा तय की गई। अधिनियम के अनुसार किसी अनाज का तब तक आयात नहीं किया जा सकता था, जब तक कि घरेलू बाजार में उसका मूल्य निर्धारित सीमा से अधिक न हो जाए। इस अधिनियम का प्रबल विरोध हुआ और अन्ततः 1846 में ब्रिटिश सरकार को यह अधिनियम रद्द करना पड़ा।

ब्रिटिश कृषि का स्वर्णिम युग—ग्रेट ब्रिटेन के आर्थिक इतिहास में 1845 से लेकर 1875 तक का समय 'ब्रिटिश कृषि का स्वर्णिम युग' कहा जाता है। इस काल में कृषि की उन्नत पद्धतियों (जिन्हें 18वीं शताब्दी के अन्त तथा 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्रेष्ठतर किसानों ने आरम्भ किया था) का व्यापक प्रयोग किया जाने लगा। शाही कृषि समिति के गठन तथा कृषक गोष्ठियों एवं कृषि प्रदर्शनियों के आयोजन से नई कृषि-तकनीक के प्रचार-प्रसार में सहायता प्राप्त हुई थी। फलतः नई कृषि पद्धतियों को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाने लगा। कृषि रसायनशास्त्र के विकास से कृत्रिम खादों का प्रयोग सम्भव हुआ जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि हुई। रेलों के विस्तार से कृषि-उत्पादों की बिक्री के लिए विस्तृत बाजार खुल गया। रेलों ने कृषि-आगतों (बीज, उर्वरक एवं यन्त्र) की उपलब्धता भी सस्ती और सुविधाजनक बना दी। इन सब कारणों से कृषि व्यवसाय में पूंजी का प्रयोग बढ़ गया तथा नवीन कृषि पद्धतियों का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाने लगा। कृषि-भूमि पर आश्रित जनसंख्या का अनुपात उत्तरोत्तर घटता गया, जबकि कृषि-भूमि की उत्पादकता एवं उत्पादन में निरन्तर वृद्धि होती रही। 1811 में ब्रिटिश कृषि पर आश्रित जनसंख्या का अनुपात 34 प्रतिशत था, जो 1861 तक घटकर केवल 10 प्रतिशत रह गया। यह ब्रिटिश कृषि के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का परिणाम था।

यद्यपि 1846 में अनाज अधिनियम की समाप्ति तथा खाद्यान्न पर आयात-शुल्क की समाप्ति से ब्रिटिश व्यापारियों के लिए विदेशों से खाद्यान्न का आयात करना सरल हो गया था; तथापि, कुछ कारणों से यह सम्भव नहीं हो पाया। उस समय ससार के सभी देशों की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी तथा किसी भी देश के पास खाद्यान्न की इतनी प्रचुरता नहीं थी कि वह ब्रिटेन को खाद्यान्न दे सके। इस अवधि में सयुक्त राज्य अमेरिका आन्तरिक कलह में, रूस क्रीमियन युद्ध में तथा जर्मनी पड़ौसी देशों के युद्ध में व्यस्त था। अतः ब्रिटेन को निर्यात करने के लिए उनके पास पर्याप्त खाद्यान्न नहीं था। आस्ट्रेलिया और कैलिफोर्निया में स्वर्ण की खोज तथा दूसरे कारणों से रोजगार की प्रचुरता थी तथा मजदूरी में वृद्धि की प्रवृत्ति विद्यमान थी, जिससे इन दोनों देशों में खाद्य-पदार्थों की माँग और कीमत बढ़ रही थी। परिणामतः ब्रिटेन के सम्मुख अपना कृषि-उत्पादन बढ़ाने के सिवाय अन्य कोई विकल्प नहीं था। इस अवधि में ब्रिटिश कृषि के लिए विदेशी प्रतियोगिता का

पूर्णतः अभाव था। इन अनुकूल परिस्थितियों का ब्रिटिश कृषकों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया।

ब्रिटिश कृषि का अवसादकाल – यदि 19वीं शताब्दी का तृतीय चतुर्थांश ब्रिटिश कृषि के लिए स्वर्णिम युग था, तब अन्तिम चतुर्थांश अति-पीड़क एवं अवि-स्मरणीय अवसाद (मन्दी) का समय था। ग्रेट ब्रिटेन में गेहूं का औसत मूल्य, जो 1871 और 1875 के बीच 55 शिलिंग प्रति क्वाटर था, 1891 और 1895 के बीच घटकर 28 शिलिंग प्रति क्वाटर रह गया। भूमि का लगान भी घट गया। परिणामतः काश्तकारों के साथ-साथ भूस्वामियों की आर्थिक स्थिति भी खराब हो गई। इसी समय ब्रिटिश कृषि-उत्पादों को विदेशी प्रतियोगिता का भी सामना करना पड़ा। परिणामतः कृषि-मूल्यों में गिरावट की प्रवृत्ति को बल मिला। इस प्रवृत्ति का ग्रेट ब्रिटेन में कृषित-क्षेत्र एवं कृषि-उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। गेहूँ की बुवाई का क्षेत्र 1873 में 37 लाख एकड़ से घटकर 1900 तक केवल 19 लाख एकड़ रह गया। बड़े-बड़े भूस्वामी कृषि-भूमि को चरागाहों मे परिणित करने लगे। कृषि-क्षेत्र से स्थिर पूंजी हटाई जाने लगी। परिणामतः जहाँ 1845 में गेहूँ का घरेलू उत्पादन ब्रिटिश जनसंख्या की 90 प्रतिशत आवश्यकता-पूर्ति के लिए पर्याप्त था, वहीं 1906 में यह केवल 10 प्रतिशत आवश्यकता-पूर्ति के लिए पर्याप्त रह गया। 1875 में ब्रिटेन ने 124 मिलियन पौण्ड मूल्य का खाद्यान्न आयात किया था। 1905 में उसका आयात-मूल्य बढ़कर 205 मिलियन पौण्ड हो गया। आयातित सस्ते खाद्यान्न के साथ ब्रिटिश किसानों के लिए प्रतिस्पर्धा करना बहुत कठिन था; विशेषकर, ऐसे समय, जबकि ब्रिटेन स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपना रहा था और दूसरे देश (जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, आदि) संरक्षणवादी नीति का अनुसरण कर रहे थे। अतः बाध्य होकर ब्रिटिश किसान पशु-पालन, भेड़-पालन तथा फलों एवं सब्जियों की खेती की ओर प्रवृत्त हुए। 1876 से लेकर 1906 तक ब्रिटेन में चारण-भूमि के क्षेत्र में 33 प्रतिशत की वृद्धि हुई। परन्तु, विदेशी प्रति-योगिता का ब्रिटेन के मांस और डेरी उद्योगों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। प्रशीतन विधि के आविष्कार के कारण विदेशों से मांस, पनीर, आलू और फलों का आयात बढ़ गया।

अवसादकाल में ब्रिटिश कृषि के लिए दूसरी कठिनाइयों के साथ-साथ श्रम की कठिनाई भी उपस्थित हुई। एक ओर, कृषि-श्रमिक (जो श्रम-संघों के सदस्य बन चुके थे) अपनी मजदूरी में वृद्धि का आग्रह कर रहे थे तथा दूसरी ओर, कृषक उनकी मजदूरी (जो पहले कम थी) और भी कम करना चाहते थे। बाध्य होकर बहुत-से कृषि-श्रमिकों ने गाँव छोड़ दिया तथा शहरों की शरण ली। फलतः ग्रामीण क्षेत्रों में श्रमिकों का अभाव हो गया।

कृषि-अवसाद के कारणों की जाँच करने के लिए सरकार ने ड्यूक ऑफ रिचमाण्ड की अध्यक्षता में 1882 में शाही कृषि आयोग नियुक्त किया। आयोग ने

कृषि-संकट की उपस्थिति के लिए निकृष्ट फसल, लगान में वृद्धि, पशु-रोग, कृषि-प्रशिक्षण का अभाव, अनुचित रेलवे-भाड़ा, विदेशी प्रतियोगिता का दबाव, आदि कारणों को उत्तरदायी ठहराया। 1893 में लार्ड एवर्स्ले (Eversley) की अध्यक्षता में दूसरे शाही कृषि आयोग की नियुक्ति हुई। आयोग ने चांदी के मूल्य में गिरावट को अवसाद का मुख्य कारण गिनाया तथा अवसादकाल में किसानों एवं भूस्वामियों की पूँजी में उपस्थित क्षति की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। आयोग ने तत्कालीन परिस्थितियों में विपणोद्यान (Market Gardening), फलोत्पादन, पशुपालन, पुष्पोत्पादन, मुर्गीपालन तथा आलू की खेती करने का सुझाव दिया।

कृषि-पुनर्गठन के उपाय—अवसाद का ब्रिटिश कृषि पर बड़ा ही गम्भीर प्रभाव पड़ा था। इस प्रभाव को दूर करने के लिए कृषि का पुनर्गठन किया गया। 19वीं शताब्दी के अन्त में बड़े-बड़े फार्मों को तोड़कर छोटे-छोटे फार्म बनाने का आन्दोलन आरम्भ हुआ। कृषि-श्रमिकों को श्रम-संघों के आधार पर संगठित किया गया। स्त्रियों और बच्चों को काम पर लगाकर तथा कृषि-यन्त्रों का प्रयोग बढ़ाकर कृषि-श्रम की न्यूनता पाटी गई। अब तक ब्रिटेन में सहकारिता आन्दोलन की पर्याप्त प्रगति नहीं हो पाई थी; क्योंकि एक तो, ब्रिटेन-निवासी व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित थे और दूसरे, अहस्तक्षेपवादी नीति के कारण सरकार ने इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए विशेष प्रयास नहीं किया था। अब सरकार ने सहकारिता आन्दोलन पर विशेष बल दिया। 1914 तक सहकारी समितियों का प्रयोग कृषि-सुधार तथा कृषि-आगतों (वित्त एवं उपकरण) के वितरण हेतु किया जाने लगा।

सरकार ने कृषि को छोटे स्तर पर संगठित करने का निश्चय किया। इस उद्देश्य से 1882 में 'आबण्टन अधिनियम' पारित हुआ जिसके अनुसार अतिरिक्त भूमि छोटे किसानों को दी जाने लगी। 1889 में स्थापित 'कृषि-मण्डल' को कृषि-सुधार का व्यापक उत्तरदायित्व सौंपा गया। 1892 में पारित 'लघु जोत अधिनियम' के अन्तर्गत जिला परिषदों को भूमि खरीदने, घेराबन्दी करने तथा उसे छोटे किसानों को एक से पचास एकड़ तक की जोतों में बेचने का अधिकार दिया गया। लघु कृषकों को भूमि खरीदने के लिए सरकार द्वारा ऋण-सहायता उपलब्ध करायी गई। यह अधिनियम अधिक प्रभावोत्पादक नहीं हुआ तथा 1 92 से लेकर .906 तक केवल 790 एकड़ भूमि अर्जित की जा सकी। अत: 1907 में 'लघु जोत तथा आबण्टन अधिनियम' पारित किया गया। इसके अन्तर्गत जिला परिषदों को अधिकार दिया गया कि वे भूस्वामियों को भूमि बेचने के लिए बाध्य कर सकती हैं। इससे कृषि-पुनर्गठन आन्दोलन को विशेष बल मिला तथा 1918 तक 184 हजार एकड़ भूमि खरीदी एवं वितरित की गई। 1906 में पारित एक विधान के अनुसार किसानों को कोई भी फसल उगाने का अधिकार दिया गया। लघु कृषकों को तरह-तरह की सुविधाएं प्रदान की गईं। उन्हें ट्रेड यूनियनों के आधार पर संगठित होने तथा सहकारिताओं की स्थापना का अधिकार दिया गया।

1899 से लेकर 1914 तक ब्रिटिश कृषि में चार महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए—(i) पशु पालन व्यवसाय अधिक लोकप्रिय हो गया। (ii) वैज्ञानिक ढंग पर मुर्गी-पालन, मक्खन एवं पनीर का उत्पादन आरम्भ हुआ। (iii) फलों, फूलों और सब्जियों की खेती में पर्याप्त वृद्धि हुई। (iv) गेहूं, जौं और आलू की खेती घट गई।

प्रश्न 3—ब्रिटिश कृषि की वर्तमान स्थिति और प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

Describe the present position and main features of British agriculture.

उत्तर— प्रथम महायुद्ध की तरह, द्वितीय महायुद्ध का समय भी ब्रिटिश कृषकों के लिये समृद्धि का समय था। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ग्रेट ब्रिटेन अपनी 70 से 80 प्रतिशत तक खाद्य-आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेशी आयात पर निर्भर था। युद्धकाल में इतने बड़े पैमाने पर खाद्यान्न का आयात सम्भव नहीं था। अत: कृषि-उत्पादन बढ़ाने पर विशेष बल दिया गया। इस कार्य में कृषि-अनुसंधान परिषद तथा कृषि-विकास परिषद ने महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। फलतः गेहूं के उत्पादन में 90 प्रतिशत, आलू के उत्पादन में 100 प्रतिशत, दूसरी सब्जियों के उत्पादन में 35 प्रतिशत तथा पशु-शालाओं के उत्पादन में 22 प्रतिशत की वृद्धि हुई। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर स्थायी कृषि-विकास के लिये सरकार ने व्यापक कृषि-नीति का अनुसरण किया। इस नीति का आधार 1947 का कृषि अधिनियम था, जिसका प्रमुख उद्देश्य कृषि-उत्पादन में वृद्धि तथा कृषि-मूल्यों में स्थायित्व लाना था। इस अधिनियम का ब्रिटिश कृषि पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। 1939 को आधार वर्ष मानते हुए कृषि-उत्पादन का निर्देशांक 1962 में बढ़कर 186 हो गया। कृषि-विपणन को सुविधाजनक बनाने के लिये सरकार ने 1954 में 'आलू विपणन बोर्ड' को पुनर्गठित किया तथा 1957 में 'अण्डा विपणन बोर्ड' एवं 'सूअर उद्योग विकास बोर्ड' की स्थापना की।

ब्रिटिश कृषि की वर्तमान स्थिति—यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन एक औद्योगिक राष्ट्र है तथा अपनी जनसंख्या की 50 प्रतिशत खाद्य-आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विदेशी आयात पर निर्भर है, तथापि कृषि यहां का महत्वपूर्ण व्यवसाय है। विगत कुछ वर्षों में ब्रिटिश कृषि ने उल्लेखनीय प्रगति की है। इसकी प्रगति में सरकार की भूमिका प्रशंसनीय रही है। वित्तीय सहायता के अतिरिक्त; सरकार ने कृषकों के लिए तकनीकी एवं परामर्शदायी सेवा तथा कृषि-उत्पादन का उचित मूल्य दिलाने की व्यवस्था की है। सरकार का मुख्य उद्देश्य कृषि को प्रतिस्पर्धी व्यवसाय के रूप में संगठित करना है। आजकल कृषि-विकास के लिए ग्रेट ब्रिटेन में विभिन्न राष्ट्रीय संगठन कार्य कर रहे हैं, जैसे—कृषि-भूमि आयोग, राष्ट्रीय कृषि-परामर्शदायी सेवा, कृषि-सुधार परिषद; कृषि-भूमि सेवा तथा वस्तु-विपणन बोर्ड। यद्यपि संसार में सभी

जगह कृषि का कार्य विभिन्न प्रकार की जोखिमों से परिपूर्ण है, तथापि ब्रिटिश सरकार इन जोखिमों को यथासम्भव घटाने के लिये प्रयत्नशील है।

इस समय ग्रेट ब्रिटेन की कुल 230 लाख हैक्टेयर भूमि में से 150 लाख हैक्टेयर भूमि कृषि के अन्तर्गत है। कृषि-क्षेत्र में लगभग 8 लाख व्यक्ति संलग्न हैं जो ग्रेट ब्रिटेन के सकल राष्ट्रीय उत्पादन में केवल दो प्रतिशत अंशदान करते हैं। विगत कुछ वर्षों में ब्रिटिश कृषि के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है जो निम्न तालिका से स्पष्ट है—

कृषि-फसल/पशु-उत्पाद	1939	1966	1984
गेहूं (लाख टन)	16.5	34·9	150·0
जौ ,, ,,	7·6	88·1	110·5
जई ,, ,,	19·4	11·0	5·2
आलू ,, ,,	48·7	864·0	740·0
चुकन्दर ,, ,,	4·1	56·0	88·0
दूध (करोड़ लीटर)	155·6	255·0	155·9
अण्डे (करोड़ दर्जन)	54·5	118·9	102·0
मांस (लाख टन)	12·9	24·3	32.0

तालिका से स्पष्ट है कि युद्ध-पूर्व उत्पादन की अपेक्षा 1984 में गेहूं का उत्पादन 9 गुना अधिक, जौ का उत्पादन साढ़े चौदह गुना अधिक, आलू का उत्पादन 15 गुना अधिक तथा चुकन्दर का उत्पादन लगभग 22 गुना अधिक था।

ब्रिटिश कृषि की विशेषतायें

वर्तमान में ब्रिटिश कृषि की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(1) कृषि-जोतों की संख्या एवं आकार—उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार 1984 में कुल कार्यशील जोतों की संख्या 240 हजार थी (इसमें चरागाह की इकाइयाँ सम्मिलित नहीं थीं)। इनमें 220 हजार पूर्णकालिक जोतें थीं, जिनका औसत आकार इंगलैण्ड में 145 एकड़ तथा वेलस में 15[illegible] एकड़ था। अंशकालिक जोतें (जो कृषक परिवार को अंशकालीन रोजगार प्रदान करती हैं) की संख्या 20 हजार थी। कृषि-कार्य में संलग्न आठ लाख व्यक्तियों में से एक तिहाई कृषक और शेष दो-तिहाई कृषि-श्रमिक थे।

(2) भू-स्वामित्व—ग्रेट ब्रिटेन में कृषि-कार्य करने वाले थोड़े व्यक्ति ही भूस्वामी हैं। इनमें से अधिकांश काश्तकार (Tenants) हैं, जो भूमि पर खेती करने तथा पशु-धन एवं चल-साधन रखने के अधिकारी हैं। प्रक्षेत्र-भवनों के निर्माण तथा

भूमि के विकास का दायित्व भूस्वामियों पर है। संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य एवं कृषि आयोग की गणना के अनुसार, इंगलैण्ड और वेल्स की 35 प्रतिशत कृषि-भूमि पर स्वयं भूस्वामी (स्थायी कृषक) खेती करते हैं। 49 प्रतिशत भूमि पर काश्तकार (लगान के बदले) खेती करते हैं। शेष 16 प्रतिशत भूमि पर ऐसे व्यक्ति खेती करते हैं, जिनके पास आधी अपनी तथा आधी किराए की भूमि होती है।

(3) **कृषि-प्रणालियाँ**—ग्रेट ब्रिटेन के विभिन्न भागों में मिट्टी और जलवायु की भिन्नता के साथ-साथ कृषि-प्रणालियों की भिन्नता भी विद्यमान है। उदाहरण के लिए इंगलैण्ड और वेल्स में 245 लाख भूमि पर खेती की जाती है तथा शेष 49 लाख एकड़ भूमि पर घास उगाई जाती है। स्कॉटलैण्ड में 43 लाख एकड़ भूमि पर खेती होती है तथा शेष 124 लाख एकड़ भूमि पर घास उगाई जाती है। उत्तरी द्वीपों में 21·8 लाख एकड़ भूमि पर खेती की जाती है और शेष 6·9 लाख एकड़ भूमि पर घास उगाई जाती है।

(4) **यन्त्रीकरण**—ग्रेट ब्रिटेन में कृषि-कार्य मुख्यतः यन्त्रों द्वारा किया जाता है। अधिकांश कृषि-जोतें बड़े आकार की हैं, जिन पर यन्त्रों का प्रयोग सस्ता और सुविधाजनक सिद्ध होता है। कृषि-क्षेत्र पर ट्रैक्टरों का जितना अधिक घनत्व ब्रिटेन में है, उतना संसार के अन्य किसी देश में नहीं है। ब्रिटेन के 90 प्रतिशत कृषि-फार्मों के लिए विद्युत-शक्ति की सुविधा उपलब्ध है।

(5) **सरकारी सहायता की प्रधानता**—ग्रेट ब्रिटेन में कृषि के विकासार्थ सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार की सहायता उपलब्ध करायी जाती है। 1957 के 'कृषि अधिनियम' के अन्तर्गत किसानों को भूमि-सुधार हेतु एक-तिहाई धनराशि सरकारी अनुदान के रूप में मिलती है। 1963 के 'कृषि (पंचमेल प्रावधान) अधिनियम' के अन्तर्गत किसानों को सस्ती दर पर विद्युत तथा अन्न-संचय गृहों का एक-तिहाई निर्माण-व्यय सरकारी अनुदान के रूप में मिलता है। 1967 के 'कृषि अधिनियम' के अन्तर्गत छोटे-छोटे फार्मों के सम्मिश्रण का 50 प्रतिशत व्यय सरकार द्वारा वहन किया जाता है। 1964 के 'कृषि और बागवानी अधिनियम' के अन्तर्गत भी किसानों को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। मूल्य-समर्थन नीति के अन्तर्गत सरकार प्रतिवर्ष विभिन्न कृषि-फसलों के न्यूनतम मूल्य तय करती है। यदि बाजार में कृषि-उत्पादों के मूल्य इससे नीचे हो जाते हैं, तब किसानों को होने वाली क्षति की पूर्ति भी सरकार द्वारा की जाती है।

(6) **पूँजीवादी खेती**—ब्रिटिश कृषि मुख्यतः पूँजीवादी आधार पर संगठित है। खेती की इकाई (कार्यशील जोत) का औसत आकार बड़ा है। कृषि-कार्य में पूँजी तथा यन्त्रों का अधिक प्रयोग होता है। अधिकांश कृषि-भूमि पर थोड़े-से व्यक्तियों का स्वामित्व है। आजीविका के वैकल्पिक साधन उपलब्ध होने के कारण ब्रिटिश जनता का भू-सम्पत्ति से उतना अधिक लगाव नहीं है, जितना कि भारत सरीखे अल्प-विकसित देशों में, जहाँ कृषि ही आजीविका का मुख्य साधन है।

3

ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति

(Industrial Revolution in Britain)

प्रश्न 1—क्या 1750 और 1850 के बीच इंगलैण्ड में उपस्थित परिवर्तनों को 'औद्योगिक क्रान्ति' की संज्ञा देना ठीक है ? औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम ब्रिटेन में ही क्यों घटित हुई ?

Is it correct to call the changes which took place in England between 1750 and 1850 as industrial revolution ? Why did the industrial revolution occur first in England ?

उत्तर—साधारण बोलचाल की भाषा में 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग हिंसात्मक, चमत्कारिक तथा विलक्षण उथल-पुथल के लिए किया जाता है; किन्तु क्रान्ति' के लिए आकस्मिक तथा हिंसात्मक होना कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। 'क्रान्ति' शब्द का वास्तविक अर्थ मौलिक परिवर्तनों से है, जो क्रमिक एवं अगोचर (अगम्य) भी हो सकते हैं। वर्तमान युग में 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग रोस्टोव द्वारा वर्णित 'आत्म-स्फूर्ति अवस्था' के अर्थ में किया जाता है। रोस्टोव (Rostow) के अनुसार, "आत्म स्फूर्ति वह मध्यान्तर है, जिसके दौरान निवेश-दर ऐसे ढंग से बढ़ती है कि प्रति व्यक्ति वास्तविक उत्पादन बढ़ जाए तथा यह प्रारम्भिक वृद्धि उत्पादन-तकनीकों तथा आय के प्रवाह की रचना में ऐसा मौलिक परिवर्तन उपस्थित करती है, जो निवेश स्तर तथा प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धिशील प्रवृत्ति को स्थायित्व प्रदान करे।"

ब्रिटेन में औद्योगिक परिवर्तनों की प्रकृति—18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ग्रेट ब्रिटेन के औद्योगिक क्षेत्र में जो परिवर्तन उपस्थित हुए, वे इतने अधिक व्यापक एवं महत्वपूर्ण थे कि उन्हें 'औद्योगिक क्रान्ति' की संज्ञा दी जाती है। साउथगेट (Southgate) के शब्दों में, "जिस तरह 'कूट-नीतिक क्रान्ति' अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आमूल परिवर्तन, 'कृषि-क्रान्ति', कृषि-तकनीक एवं संगठन में मौलिक परिवर्तन तथा 'सामाजिक क्रान्ति' कतिपय सामाजिक वर्गों के सापेक्षिक महत्व में परिवर्तन होता है; ठीक उसी प्रकार ब्रिटेन की 'औद्योगिक क्रान्ति' औद्योगिक पद्धति में (हस्त-कर्म से शक्ति-चालित यन्त्रों द्वारा कार्य की ओर) तथा औद्योगिक संगठन में (घर पर कार्य से कारखानों में कार्य की ओर) परिवर्तन थी।"

18वीं शताब्दी के मध्य तक ग्रेट ब्रिटेन एक कृषि-प्रधान देश था। उद्योग-धन्धे अविकसित अवस्था में थे। आधुनिक विनिर्माणी उद्योग या तो आरम्भ नहीं हो पाए थे या लघु स्तर पर संगठित थे। व्यापार की मात्रा भी सीमित थी। नगरों की संख्या कम थी। उनका आकार भी छोटा था। ब्रिटेन की 80 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में निवास करती थी, जो अपनी आजीविका के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि पर निर्भर थी। कृषि का दस्तकारियों के साथ मिश्रण था। अव्यस्त मौसम में कृषक परिवार दस्तकारी का कार्य करता था; जिससे उसे अतिरिक्त आय प्राप्त होती थी। नोल्स (Knowles) के शब्दों में, "औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व अंग्रेजों की सामान्य तस्वीर उन्हें उद्योगपति के रूप में नहीं, अपितु सम्पन्न कृषक के रूप में प्रकट करती है।" औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व ब्रिटिश उद्योगों का संगठन गृह-प्रणाली (Domestic System) के आधार पर हुआ था। कारीगर अपने परिवार की सहायता से घर पर ही उत्पादन-कार्य करता था। यन्त्रों का प्रयोग बहुत कम होता था। स्थानीय कच्चे-माल का प्रयोग होता था। श्रम-विभाजन का सरल रूप प्रचलित था।

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन की औद्योगिक प्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुए। जो कार्य पहले हाथों से किया जाता था, वह अब शक्ति-चालित यन्त्रों द्वारा किया जाने लगा। जो कार्य पहले शिल्पी के घर पर किया जाता था, वह अब कारखाने में किया जाने लगा। बड़े पैमाने पर विनिर्माणी उद्योग स्थापित होने लगे। औद्योगिक वस्तुओं का बाजार स्थानीय की बजाय देशव्यापी तथा उससे भी आगे अन्तर्राष्ट्रीय हो गया। कारखाना-प्रणाली ने परिवहन-साधनों के विकास को प्रोत्साहित किया। व्यक्ति गांव छोड़कर शहरों में आने लगे, जिससे औद्योगिक केन्द्रों में भीड़-भाड़ की समस्या उत्पन्न हुई। कारखाना-प्रणाली के विकास से औद्योगिक श्रमिकों के पृथक् वर्ग का आविर्भाव हुआ, जो अपनी आजीविका के लिए मजदूरी पर आश्रित रहने लगा। औद्योगिक केन्द्रों में साथ-साथ रहने और काम करने से श्रमिकों में संगठन की भावना विकसित हुई। अपने संगठनों के माध्यम से श्रमिक कार्य दशाओं में सुधार तथा मजदूरी में वृद्धि की मांग करने लगे। परिणामत: श्रमिकों और उद्योगपतियों के बीच टकराव की नौबत आने लगी। औद्योगिक प्रणाली में परिवर्तनों से जनसंख्या, राष्ट्रीय उत्पादन, विदेशी व्यापार तथा संचार-व्यवस्था में भी मौलिक परिवर्तन उपस्थित हुए।

इन परिवर्तनों के लिए 'औद्योगिक क्रान्ति' शब्द के प्रयोग की उपयुक्तता ठहराते हुए नोल्स ने लिखा है, "औद्योगिक क्रान्ति शब्द का प्रयोग इसलिए नहीं किया जाता कि परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र थी, अपितु इसलिए किया जाता है कि पूर्ण होने पर ये परिवर्तन मौलिक थे।" इसी प्रकार ब्राइन (Brine) ने लिखा है, "परिवर्तन इतने व्यापक एवं गहरे थे, गुण-दोष के अनोखे सम्मिश्रण थे और मौलिक

प्रगति एवं सामाजिक पीड़ा के ऐसे नाटकीय संयोग थे कि इन्हें 'क्रान्तिकारी' कहना ही उपयुक्त होगा।" चूँकि ये परिवर्तन आकस्मिक न होकर क्रमिक रूप में उपस्थित हुए थे, इसलिए कुछ विद्वान इन परिवर्तनों के लिए 'औद्योगिक उद्‌विकास' शब्द का प्रयोग उचित मानते हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटिश वस्त्र-उद्योग में संगठनात्मक सुधार तथा नए-नए यन्त्रों के प्रयोग का कार्य 70-75 वर्षों तक चलता रहा। यद्यपि शक्ति के साध-स्वरूप वाष्प इंजन का आविष्कार 18वीं शताब्दी के आरम्भ में हो चुका था; किन्तु 19वीं शताब्दी के मध्य तक इसने 'जल-चक्र' (Water Wheel) का स्थान नहीं लिया था। गृह-प्रणाली से कारखाना-प्रणाली में परिवर्तन का कार्य भी अल्पकाल में पूरा नहीं हो पाया था। निस्सन्देह ब्रिटेन की औद्योगिक परिस्थितियों में मूलभूत परिवर्तन उपस्थित हुए; किन्तु ये किसी भी अर्थ में आकस्मिक नहीं थे। परन्तु जैसा कि साउथगेट ने लिखा है, "यदि ब्रिटिश उद्योग में 1850 की स्थिति की तुलना 1770 में विद्यमान स्थिति से की जाए; तब औद्योगिक क्षेत्र में हुए परिवर्तनों का महत्व अंगीकार करना पड़ेगा तथा उन्हें 'क्रान्तिकारी' कहना अधिक उपयुक्त रहेगा।"

औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम ब्रिटेन में ही क्यों ? जिस समय ग्रेट ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति हुई, उस समय यूरोप में ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी तीन प्रमुख राष्ट्र माने जाते थे। औद्योगिक परिवर्तनों के प्रारम्भिक वर्षों में फ्रांस ब्रिटेन का मुख्य प्रतियोगी था और ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक समृद्धिशाली था। ब्रिटेन की अपेक्षा फ्रांस के पास अधिक जनशक्ति, अधिक पूंजी और विस्तृत बाजार (घरेलू एवं विदेशी) उपलब्ध था। फ्रांस के आयात-निर्यात भी ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक थे। परन्तु ब्रिटेन की तरह फ्रांस में बैंकिंग प्रणाली विकसित नहीं हो पाई थी तथा औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करने वाले व्यापार संघों का अभाव था। फ्रांस के सम्राट अपनी वंशानुगत समस्याओं में उलझे रहते थे। अतः वे देश की आर्थिक प्रगति के बारे में अधिक सोच नहीं पाते थे। फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति ने फ्रांस का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त कर डाला था और नोल्स के शब्दों में, "यदि फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति ने फ्रांस का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त न किया होता, तब ब्रिटेन की बजाय फ्रांस ही औद्योगिक क्रान्ति का प्रणेता होता।" दूसरी ओर, जर्मनी को औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत का श्रेय इसलिए प्राप्त नहीं हो सका, क्योंकि उस समय जर्मनी में औद्योगिक विकास हेतु आवश्यक पूंजी का अभाव था और जर्मनी सैनिक गतिविधियों पर अधिक खर्च कर रहा था। ग्रेट ब्रिटेन को औद्योगिक क्रान्ति का प्रणेता बनाने में निम्न घटकों ने सहयोग दिया था—

(1) **आवश्यक पृष्ठ भूमि की उपस्थिति**—औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व ब्रिटेन में वाणिज्य के प्रति सरकार की अनुकूल, स्वतन्त्र घरेलू व्यापार, समृद्ध एवं विकासरत वस्त्रोद्योग (जो निर्मित माल का यूरोपीय महाद्वीप में निर्यात करता था), संयुक्त स्कन्ध कम्पनियां तथा विकसित बैंकिंग प्रणाली विद्यमान थी। इस तरह औद्योगिक

क्रान्ति के लिए आवश्यक पृष्ठ भूमि की उपस्थिति ने ब्रिटेन को नेता बनने का अवसर प्रदान किया।

(2) **राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिरता**—यद्यपि 18वीं शताब्दी में ब्रिटेन ने अनेक युद्धों में भाग लिया था, किन्तु ये युद्ध ब्रिटेन की भूमि पर नहीं लड़े गए। फलतः ब्रिटेन में आन्तरिक शान्ति बनी रही। वालपोल (Walpole) की विवेक-नीति ने ब्रिटेन को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाया था। अतः राजनीतिक स्थिरता के साथ-साथ ब्रिटेन को आर्थिक स्थिरता भी प्राप्त हुई। इन परिस्थितियों से औद्योगिक विकास में अत्यधिक सहायता मिली।

(3) **बड़े पैमाने पर पूंजी-संग्रह**—17वीं और 18वीं शताब्दी में उपनिवेशों के साथ व्यापार में ब्रिटेन ने बहुत अधिक पूंजी एकत्रित कर ली थी। ब्रिटेन का सामाजिक एवं धार्मिक वातावरण भी पूंजी-संग्रह को प्रोत्साहित करने के पक्ष में था। 'बैंक ऑफ इंगलैण्ड' के नेतृत्व में ब्रिटेन की बैंकिंग प्रणाली ने भी पूंजी-संचय तथा उसके उचित निवेश में योगदान किया। कुल मिलाकर, पूंजी-संचय ने औद्योगिक क्रान्ति के लिए आधार का कार्य किया।

(4) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता**—यूरोप के अधिकांश देशों में दास-प्रथा 19वीं शताब्दी के अन्त तक प्रचलित रही। इन देशों में श्रमिक कानून द्वारा भूमि से बंधे थे। वे खानों या कारखानों में काम करने नहीं जा सकते थे। दूसरी ओर, ब्रिटेन-निवासी 16वीं शताब्दी से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आनन्द ले रहे थे। वे देश-विदेश में विचरण करने, पूंजी-संचय करने तथा उद्योग-व्यापार आरम्भ करने के लिए स्वतन्त्र थे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ने ब्रिटेन को औद्योगिक क्रान्ति का प्रणेता बनने में सहयोग दिया।

(5) **प्राकृतिक सुविधाएं**—ग्रेट ब्रिटेन की भौगोलिक एवं प्राकृतिक परि-स्थितियों ने भी उसके औद्योगिक विकास में सहयोग दिया। ब्रिटेन की जलवायु स्वास्थ्यप्रद थी और प्राकृतिक संसाधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। लोहा और कोयला सरीखे खनिज-भण्डार एक-दूसरे के समीप स्थित थे। कोयले ने शक्ति के साधन का कार्य किया तथा लोहे ने यन्त्रों का निर्माण सम्भव बनाया। ब्रिटेन की भौगोलिक स्थिति विदेशी व्यापार के लिए विशेष रूप से अनुकूल थी।

(6) **विस्तृत बाजार की उपलब्धि**—उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री हेतु ब्रिटेन के पास उपनिवेशों के रूप में विस्तृत बाजार उपलब्ध था। इससे विशाल-स्तरीय उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

(7) **परिवहन-सुविधाओं का विकास**—यूरोप के दूसरे देशों की अपेक्षा ब्रिटेन में परिवहन के अधिक और अच्छे साधन उपलब्ध थे, जिनसे वस्तुएं ढोने में अधिक सुविधा होती थी। परिवहन-सुविधाओं के विकास से भी औद्योगिक क्रान्ति में सहायता मिली।

(8) **श्रमिकों का अभाव**—उद्योग और व्यापार की बढ़ती हुई माँग के अनुरूप ब्रिटेन में श्रमिकों की स्वल्पता थी। इससे यन्त्रों के अधिकाधिक आविष्कार एवं प्रयोग को प्रोत्साहन मिला जो औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत में सहायक बना।

(9) **बैंकिंग प्रणाली का विकास**—विदेशी व्यापार पूंजी-संचय में सहायता प्रदान करने के लिए ब्रिटेन में बैंकिंग प्रणाली बिकसित हो चुकी थी। देश के विभिन्न भागों में फैले बैंक पूंजी एकत्रित करके लन्दन के मुद्रा-बाजार में भेजते थे, जहाँ से उसका निवेश विभिन्न उद्योग-व्यवसायों में किया जाता था।

(10) **सामुद्रिक शक्ति**—अन्य देशों की अपेक्षा ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति सुव्यवस्थित थी। इसी शक्ति के आधार पर वह अपना विशाल साम्राज्य स्थापित कर पाया उसका बढ़ता हुआ विदेशी व्यापार, जो उसके द्रुत औद्योगीकरण में सहायक बना, भी सामुद्रिक शक्ति की ही देन था।

(11) **वैज्ञानिक प्रगति**—18वीं शताब्दी में ब्रिटेन में कई प्रमुख वैज्ञानिक हुए, जिन्होंने नए-नए आविष्कारों द्वारा उत्पादन-प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तनों को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त, ब्रिटेन-निवासियों की संगठनात्मक योग्यता भी औद्योगिक क्रान्ति में सहायक बनी।

(12) **सरकार की संरक्षणवादी नीति**—सरकार ने ब्रिटेन से कच्चे माल के निर्यात पर तथा ब्रिटेन में निर्मित-माल के आयात पर रोक लगा रक्खी थी। उद्देश्य यह था कि ब्रिटेन-निवासी यथासम्भव स्वदेश-निर्मित वस्तुओं का ही उपभोग करें। दूसरी ओर, ब्रिटेन से निर्मित-माल के निर्यात तथा ब्रिटेन में कच्चे-माल के आयात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। सरकार की संरक्षणवादी नीति ब्रिटेन के औद्योगिक विकास तथा उपनिवेशों के आर्थिक शोषण में सहायक बनी। प्रसिद्ध इतिहासकार ब्रुक्स आदम (Brooks Adam) ने भारतीय धन की लूट-खसोट को ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति का सबसे महत्वपूर्ण कारण माना है।

प्रश्न 2—ग्रेट ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति की प्रमुख विशेषताएं क्या थीं ?

What were the main features of industrial revolution of Great Britain ?

अथवा

"इंगलैण्ड की तथाकथित औद्योगिक क्रान्ति में छः महत्वपूर्ण परिवर्तनों का समावेश था जो परस्पर-निर्भर थे।" व्याख्या कीजिए।

"The so-called industrial revolution of England comprised six great changes, all of which were interdependent." Discuss.

उत्तर—18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रिटेन की औद्योगिक पद्धति एवं औद्योगिक संगठन में उपस्थित मौलिक परिवर्तनों को ही 'औद्योगिक क्रान्ति' की संज्ञा दी जा जाती है। ये परिवर्तन आकस्मिक न होकर क्रमिक थे, किन्तु इनके प्रभाव अत्यन्त विस्तृत थे।

औद्योगिक क्रान्ति की विशेषताएं

नोल्स (Knowles) के शब्दों में, "ब्रिटेन की तथाकथित औद्योगिक क्रान्ति में छः बड़े परिवर्तन या विकास सम्मिलित थे, जो सभी एक दूसरे पर आश्रित थे।" इन परिवर्तनों को 'औद्योगिक क्रान्ति की विशेषताएं' माना जा सकता है। ये परिवर्तन निम्नलिखित थे —

(1) **इन्जीनियरी का विकास**—औद्योगिक क्रान्ति के अन्तर्गत उद्योग-धन्धों में यन्त्रों का व्यापक प्रयोग सम्मिलित था। अतः ऐसे प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता अनुभव हुई, जो यन्त्रों का निर्माण एवं मरम्मत कर सकें तथा उनमें वांछित सुधार कर सकें। इस तरह, औद्योगिक क्रान्ति से इन्जीनियरी के विकास को प्रोत्साहन मिला।

(2) **लोहा एवं इस्पात उद्योग का विकास**—वस्तुतः 'इन्जीनियरी का विकास' लोहा एवं इस्पात उद्योग के विकास से सम्बन्धित था; क्योंकि यन्त्रों के निर्माण हेतु लोहे एवं इस्पात की आवश्यकता पड़ती है। अतः 'लोहा एव इस्पात उद्योग का विकास' औद्योगिक क्रान्ति की दूसरी प्रमुख विशेषता थी। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व ब्रिटेन लोहा-निर्माण का कार्य छुट-पुट रूप से जंगलों तथा नदियों के आसपास केन्द्रित था। परन्तु वाष्प इन्जिन के आविष्कार के पश्चात् लोहा एवं इस्पात उद्योग खनिज लोहे एवं कोयले की खानों के समीप केन्द्रित होने लगा।

(3) **वस्त्रोद्योग में जल एवं वाष्प-चालित यन्त्रों का प्रयोग**—औद्योगिक क्रान्ति की तीसरी प्रमुख विशेषता वस्त्र-उद्योग में जल एवं वाष्प-चालित यन्त्रों का प्रयोग है। इन यन्त्रों का प्रयोग पहले सूत की कताई में आरम्भ हुआ तथा बाद में वस्त्र की बुनाई में। इन यन्त्रों में हरग्रीव्स की 'स्पिनिंग जेनी' (Spining Jenny), आर्कराइट का 'वाटर फ्रेम' (Water Frame), क्रॉम्पटन का 'म्यूल' (Mule) तथा कार्टराइट का 'पावर लूम' (Power Loom) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सूत की कताई और बुनाई के क्षेत्र में उपस्थित यान्त्रिक परिवर्तनों ने उस महान परिवर्तन के लिए प्रारम्भिक प्रेरणा का कार्य किया जो शनैः शनैः औद्योगिक क्रान्ति के रूप में घटित हुआ।

(4) **रासायनिक उद्योग का विकास**—सूती वस्त्रोद्योग के विकास के साथ-साथ वस्त्रों की रंगाई, धुलाई और छपाई के लिए रासायनिक पदार्थों की माँग भी बढ़ने लगी। इससे रासायनिक उद्योग के विकास को प्रोत्साहन मिला। जिस तरह सूती-वस्त्र उद्योग के विकास का रासायनिक उद्योग पर अनुकूल प्रभाव उपस्थित हुआ; उसी प्रकार रासायनिक उद्योग के विकास का इंजीनियरिंग, लोहा एवं इस्पात तथा धातु-शोधन उद्योगों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा।

(5) **कोयला उद्योग का विकास**—इन्जीनियरिंग, लोहा एवं इस्पात तथा रासायनिक उद्योगों का विकास मुख्य रूप से कोयले पर आधारित था। 'कोयला' लोहा गलाने, इस्पात बनाने तथा वाष्प इंजिन परिचालित करने का मुख्य साधन

था। अतः दूसरे उद्योगों के विकास हेतु कोयला उद्योग के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। खानों के भीतर से पानी निकालने तथा कोयले को पृथ्वी की सतह पर लाने में वाष्प इंजिन का प्रयोग किया जाने लगा।

(6) **यातायात के साधनों का विकास** – औद्योगिक केन्द्रों तक कच्चा-माल ले जाने तथा उद्योगों द्वारा निर्मित माल दूरस्थ बाजारों में पहुँचाने के लिये यातायात के सस्ते एवं शीघ्रगामी साधनों का विकास आवश्यक था। अतः यातायात के साधनों के विकास को प्राथमिकता दी गई। जेम्स वाट (Janes Watt) द्वारा वाष्प चालित इंजिन के आविष्कार ने परिवहन के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवहन उपस्थित किया। परिवहन के यान्त्रिक साधनों के विकास से प्राकृतिक बाधाओं का भय समाप्त हो गया तथा औद्योगिक विकास को बल मिला।

औद्योगिक क्रान्ति के रूप में उपस्थित सभी परिवर्तन एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। क्रान्ति का सूत्रपात ब्रिटेन के सूती-वस्त्र उद्योगों में हुआ था। सूती-वस्त्र उद्योग की उन्नति से शनैः शनैः ऊनी और रेशमी वस्त्रोद्योग प्रभावित हुए। वस्त्र उद्योगों की प्रगति के इन्जीनियरिंग, लोहा एवं इस्पात, कोयला तथा रासायनिक उद्योग प्रभावित हुए। विभिन्न प्रकार के उद्योगों की प्रगति के प्रभावस्वरूप परिवहन के साधनों का विकास हुआ। इस तरह, औद्योगिक क्रान्ति के रूप में उपस्थित परिवर्तनों ने ग्रेट ब्रिटेन के औद्योगिक विकास का द्वार खोल दिया।

नोल्स (Knowles) की राय में ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति की दो मुख्य अवस्थाएं थीं जो यातायात के साधनों के विकास की प्रकृति से सम्बन्धित थीं। इनमें प्रथम अवस्था 'पक्की सड़कों तथा नहरों का युग' तथा द्वितीय अवस्था 'रेलों का युग' थी। प्रथम अवस्था 1770 से आरम्भ होकर 1840 तक विद्यमान रही, जबकि द्वितीय अवस्था 1770 से आरम्भ होकर 1914 तक विद्यमान रही।

औद्योगिक क्रान्ति की प्रथम अवस्था सड़कों तथा आन्तरिक जल-मार्गों के विकास से सम्बन्धित थी। इस अवस्था (अवधि) में मुख्यतः कोयले और लोहे की खानों, इन्जीनियरिंग एवं वस्त्र उद्योगों का विकास हुआ। व्यवसायिक इकाइयाँ छोटे आकार वाली थीं जो व्यक्तिगत या पारिवारिक आधार पर स्थापित की जाती थीं और जिनके लिये थोड़ी पूंजी आवश्यक होती थी। श्रमिकों के संगठनों का रूप स्थानीय था।

औद्योगिक क्रान्ति की द्वितीय अवस्था रेलों तथा वाष्प-शक्ति द्वारा परिचालित जलयानों के विकास से सम्बन्धित थी। यातायात के इन साधनों के विकास के साथ-साथ उद्योग-धन्धों का भी द्रुत गति से विकास आरम्भ हुआ। रेलों और जलयानों के निर्माण हेतु लोहे एवं इस्पात की मांग में भारी वृद्धि हुई, जिसका लोहे एवं इस्पात उद्योग के विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। इस अवधि में ऊनी, सूती एवं वस्त्रोद्योगों के साथ-साथ जूट, रबड़, पेट्रोलियम आदि उद्योगों का भी तीव्र गति से विकास आरम्भ हुआ। रेलों और जलयानों के निर्माण से आन्तरिक एव विदेशी व्यापार में भारी वृद्धि हुई। अतः औद्योगिक इकाइयाँ बड़े पैमाने पर संगठित

की जाने लगीं। विशालस्तरीय औद्योगिक इकाइयों की स्थापना संयुक्त पूंजी कम्पनियों के आविर्भाव से सम्भव हुई; क्योंकि एक व्यक्ति या परिवार के लिये बड़ी मात्रा में पूंजी जुटाना तथा बड़े व्यवसायों का संचालन सम्भव नहीं था। 'रेलवे युग' में बैंकों तथा वित्तीय संस्थानों का भी तेजी से विकास हुआ। संयुक्त पूंजी कम्पनियों के निर्माण के साथ-साथ व्यावसायिक क्षेत्र में गलाकाट प्रतियोगिता भी उपस्थित हुई। प्रतियोगिता से बचने के लिये 19वीं शताब्दी के अन्त में विभिन्न प्रकार के सम्मेलनों (ट्रस्ट, कार्टेल, पूल, रिंग और सिन्डीकेट) का निर्माण आरम्भ हुआ। श्रमिकों के संगठन का स्वरूप भी स्थानीय से बदलकर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हो गया।

प्रश्न 3—ग्रेट ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति के सामाजिक-आर्थिक परिणामों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

Examine critically the socio-economic effects of the industrial revolution of Great Britain.

उत्तर—औद्योगिक क्रान्ति से ग्रेट ब्रिटेन में एक नए युग का सूत्रपात हुआ जिसने ब्रिटेन की काया ही पलट दी। नोल्स (Knowles) के अनुसार, "औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम थे—

नई जनता, नए वर्ग, नई नीतियाँ, नई समस्याएँ तथा नए साम्राज्य।" जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) के शब्दों में, "नेपोलियन के साथ युद्धों एवं कृषिजन्य परिवर्तनों के साथ-साथ औद्योगिक क्रान्ति ने ब्रिटेन के रहन-सहन को अत्यधिक प्रभावित किया। इसके परिणामस्वरूप गाँव और छोटे-छोटे कस्बे निर्जन हो गए; गृह-प्रणाली समाप्त हो गई तथा व्यक्ति कारखानों में सेवायोजकों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण एवं अनुशासन के अन्तर्गत काम करने लगे। औद्योगिक श्रमिकों के नए वर्ग का आविर्भाव हुआ, जिसने अपने सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक हितार्थ संघर्ष करना आरम्भ किया। राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि हुई तथा व्यापारी, भूस्वामी और उद्योगपति अधिक धनवान बन गए। विदेशी व्यापार भी अधिक विकसित हुआ तथा ब्रिटेन प्रमुख उत्पादक राष्ट्र बन गया। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति ने कुछ नई समस्याओं को भी जन्म दिया, जैसे—नगरों की जनसंख्या में भारी वृद्धि, वर्ग-संघर्ष आदि।"

औद्योगिक क्रान्ति के आर्थिक परिणाम—ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति के निम्न आर्थिक परिणाम प्रकट हुए—

(1) नए उद्योगों का जन्म—औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व ब्रिटेन में ऊनी और सूती वस्त्र तथा लोहा उद्योग की नींव पड़ चुकी थी। औद्योगिक क्रान्ति ने इन उद्योगों को आधुनिक रूप प्रदान किया तथा नए उद्योगों को जन्म दिया, जैसे—रसायन एवं इंजीनियरिंग उद्योग। प्रमुख उद्योगों के विकास से पूरक एवं सहायक उद्योगों को जन्म मिला।

(2) **व्यापार में वृद्धि**—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटेन के घरेलू और विदेशी व्यापार में तेजी से वृद्धि हुई। उद्योगों में निर्मित वस्तुओं का बड़े पैमाने पर निर्यात किया जाने लगा, किन्तु उद्योगों के लिए विदेशी कच्चे-माल (विशेष रूप से कपास) की माँग बढ़ गई। व्यापार की प्रकृति में भी परिवर्तन हुआ। पहले ब्रिटेन के विदेशी व्यापार में विलास-वस्तुओं की प्रधानता रहती थी, किन्तु अब दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं का महत्व बढ़ गया।

(3) **नए क्षेत्रों का विकास**—पहले ब्रिटेन के दक्षिणी और पश्चिमी क्षेत्रों में ही उद्योग-धन्धे स्थापित थे, किन्तु अब उत्तरी क्षेत्र में उद्योग-धन्धे स्थापित हो गए। फलतः दूसरे क्षेत्रों की तरह, ब्रिटेन का उत्तरी क्षेत्र भी औद्योगिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बन गया।

(4) **नगरों का विकास**—औद्योगिक क्रान्ति ने ब्रिटेन में बड़े-बड़े नगरों को जन्म दिया। व्यक्ति गाँव छोड़कर औद्योगिक केन्द्रों की ओर जाने लगे। धीरे-धीरे औद्योगिक केन्द्रों ने विशाल नगरों का रूप धारण कर लिया। इनमें अत्यधिक भीड़-भाड़ और गन्दगी रहने लगी। महामारियों का प्रकोप रहने लगा तथा मृत्यु-दर बढ़ गई।

(5) **कारखाना प्रणाली का विकास**—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप औद्योगिक संगठन में परिवर्तन उपस्थित हुआ। गृह-प्रणाली के स्थान पर कारखाना प्रणाली विकसित हुई। औद्योगिक पद्धति भी बदल गई। उत्पादन-कार्य बड़े पैमाने पर और बड़े-बड़े यन्त्रों द्वारा किया जाने लगा। श्रमिक सेवायोजकों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण एवं अनुशासन में काम करने लगे।

(6) **पूंजी के महत्व में वृद्धि**—बड़े पैमानें पर उत्पादन हेतु अधिक मात्रा में पूंजी की आवश्यकता पड़ने लगी। फलत: औद्योगिक संगठन में श्रम के स्थान पर पूंजी का महत्व बढ़ गया। अपनी रोजी-रोटी के लिए श्रमिक पूर्ण रूप से पूंजीपतियों पर आश्रित हो गए।

(7) **मिश्रित पूंजी कम्पनियों की स्थापना**—विशालस्तरीय उपक्रम की स्थापना हेतु किसी अकेले व्यक्ति या परिवार द्वारा बड़ी मात्रा में पूंजी जुटाना सम्भव नहीं था। अतः मिश्रित पूंजी कम्पनियों की स्थापना आरम्भ हुई जिनकी पूंजी शेयरों में विभक्त होती थी तथा जिसके शेयर कोई भी व्यक्ति खरीद सकता था। प्रारम्भ में असीमित दायित्व वाली कम्पनियाँ स्थापित हुईं, किन्तु 19वीं शताब्दी के मध्य से सीमित दायित्व वाली कम्पनियां स्थापित होने लगीं।

(8) **उत्पादन में वृद्धि तथा लागत में कमी**—उद्योगों में यन्त्रों के प्रयोग से उत्पादन तेजी से बढ़ा तथा बड़े पैमाने के उत्पादन की बचतें सुलभ होने से लागतों में गिरावट आई। लागत घटने से मूल्य भी घटे जिसका माँग पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। माँग बढ़ने से उत्पादन-वृद्धि प्रोत्साहित हुई। सन् 1800 और 1850 के बीच उपभोक्ता-वस्तुओं

(2) **व्यापार में वृद्धि**—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटेन के घरेलू और विदेशी व्यापार में तेजी से वृद्धि हुई। उद्योगों में निर्मित वस्तुओं का बड़े पैमाने पर निर्यात किया जाने लगा, किन्तु उद्योगों के लिए विदेशी कच्चे-माल (विशेष रूप से कपास) की माँग बढ़ गई। व्यापार की प्रकृति में भी परिवर्तन हुआ। पहले ब्रिटेन के विदेशी व्यापार में विलास-वस्तुओं की प्रधानता रहती थी, किन्तु अब दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं का महत्व बढ़ गया।

(3) **नए क्षेत्रों का विकास**—पहले ब्रिटेन के दक्षिणी और पश्चिमी क्षेत्रों में ही उद्योग-धन्धे स्थापित थे, किन्तु अब उत्तरी क्षेत्र में उद्योग-धन्धे स्थापित हो गए। फलतः दूसरे क्षेत्रों की तरह, ब्रिटेन का उत्तरी क्षेत्र भी औद्योगिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बन गया।

(4) **नगरों का विकास**—औद्योगिक क्रान्ति ने ब्रिटेन में बड़े-बड़े नगरों को जन्म दिया। व्यक्ति गाँव छोड़कर औद्योगिक केन्द्रों की ओर जाने लगे। धीरे-धीरे औद्योगिक केन्द्रों ने विशाल नगरों का रूप धारण कर लिया। इनमें अत्यधिक भीड़-भाड़ और गन्दगी रहने लगी। महामारियों का प्रकोप रहने लगा तथा मृत्यु-दर बढ़ गई।

(5) **कारखाना प्रणाली का विकास**—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप औद्योगिक संगठन में परिवर्तन उपस्थित हुआ। गृह-प्रणाली के स्थान पर कारखाना प्रणाली विकसित हुई। औद्योगिक पद्धति भी बदल गई। उत्पादन-कार्य बड़े पैमाने पर और बड़े-बड़े यन्त्रों द्वारा किया जाने लगा। श्रमिक सेवायोजकों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण एवं अनुशासन में काम करने लगे।

(6) **पूंजी के महत्व में वृद्धि**—बड़े पैमाने पर उत्पादन हेतु अधिक मात्रा में पूंजी की आवश्यकता पड़ने लगी। फलत: औद्योगिक संगठन में श्रम के स्थान पर पूंजी का महत्व बढ़ गया। अपनी रोजी-रोटी के लिए श्रमिक पूर्ण रूप से पूंजीपतियों पर आश्रित हो गए।

(7) **मिश्रित पूंजी कम्पनियों की स्थापना**—विशालस्तरीय उपक्रम की स्थापना हेतु किसी अकेले व्यक्ति या परिवार द्वारा बड़ी मात्रा में पूंजी जुटाना सम्भव नहीं था। अत: मिश्रित पूंजी कम्पनियों की स्थापना आरम्भ हुई जिनकी पूंजी शेयरों में विभक्त होती थी तथा जिसके शेयर कोई भी व्यक्ति खरीद सकता था। प्रारम्भ में असीमित दायित्व वाली कम्पनियाँ स्थापित हुईं, किन्तु 19वीं शताब्दी के मध्य से सीमित दायित्व वाली कम्पनियां स्थापित होने लगीं।

(8) **उत्पादन में वृद्धि तथा लागत में कमी**—उद्योगों में यन्त्रों के प्रयोग से उत्पादन तेजी से बढ़ा तथा बड़े पैमाने के उत्पादन की बचतें सुलभ होने से लागतों में गिरावट आई। लागत घटने से मूल्य भी घटे जिसका माँग पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। माँग बढ़ने से उत्पादन-वृद्धि प्रोत्साहित हुई। सन् 1800 और 1850 के बीच उपभोक्ता-वस्तुओं

का उत्पादन 2.4 प्रतिशत वार्षिक (औसतन) दर से तथा पूंजीगत-वस्तुओं का उत्पादन 3.4 प्रतिशत वार्षिक (औसतन) दर से बढ़ा।

(9) आर्थिक विषमता में वृद्धि—निस्सन्देह औद्योगिक क्रान्ति में बड़े पैमाने पर सम्पत्ति का सृजन किया, किन्तु सृजित सम्पत्ति गिने-चुने हाथों में केन्द्रित होने से आय एवं सम्पत्ति का वितरण अधिक विषम हो गया।

(10) राष्ट्रीय आय एवं रोजगार में वृद्धि—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जनसंख्या की अपेक्षा राष्ट्रीय आय तेजी से बढ़ी। औद्योगिक विस्तार के साथ-साथ रोजगार का भी विस्तार हुआ, जिससे श्रमिकों की आर्थिक स्थिति में सुधार आया।

(11) परिवहन के साधनों का विकास—औद्योगिक क्रान्ति के कारण 18वीं शताब्दी के अन्त में तथा 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में परिवहन के साधनों का तेजी से विकास हुआ। इसका स्वयं औद्योगिक विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ा; क्योंकि वस्तुओं का बाजार अधिक विस्तृत हो गया था।

(12) कृषि का यन्त्रीकरण—औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात बहुत से व्यक्ति गाँव छोड़कर शहरों में जा बसे। गाँवों में श्रमिकों का अभाव उत्पन्न हो गया, जिससे कृषि-कार्य में बाधा पड़ी। श्रम की कठिनाई को देखते हुए कृषि में यन्त्रों का प्रयोग किया जाने लगा तथा बड़े-बड़े कृषि-फार्म स्थापित हुए।

(13) व्यापारिक नीति में परिवर्तन—औद्योगिक क्रान्ति ने ब्रिटिश सरकार की व्यापारिक नीति को भी प्रभावित किया। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व ब्रिटेन में वणिकवादी नीति प्रचलित थी, जिसके अन्तर्गत स्वदेशी उद्योगों को पूरा-पूरा संरक्षण प्राप्त था। औद्योगिक क्रान्ति के बाद स्वतन्त्र व्यापार नीति का अनुसरण किया गया, क्योंकि ब्रिटिश उद्योगों के लिये विदेशी प्रतियोगिता का भय नहीं रह गया था।

(14) बीमा और बैंकिंग का विकास—औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि तथा व्यावसायिक क्षेत्र के विस्तार के कारण व्यापारिक लेन-देन बहुत बढ़ गया। इससे बीमा और बैंकिंग व्यवसाय के विकास को प्रोत्साहन मिला।

(15) मध्यम वर्ग का आविर्भाव—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप प्रमुख उद्योगों के विकास के साथ-साथ सहायक और पूरक उद्योग भी अस्तित्व में आए, जो मध्यम और लघु आकार के थे। सहायक उद्योगों ने मध्यम वर्ग (ठेकेदार, दूकानदार, व्यापारी, दलाल तथा उद्योगों के उच्च कर्मचारी) को जन्म दिया।

(16) उद्योगपतियों का संगठन—ब्रिटेन में उत्पादकों के संगठन 17वीं और 18 वीं शताब्दियों में भी विद्यमान थे, किन्तु ट्रस्ट एवं कार्टेल सरीखे संगठन 19वीं शताब्दी में ही जन्मे और विकसित हुए। इन संगठनों का उद्देश्य आपसी प्रतियोगिता समाप्त करना तथा सरकार की आर्थिक नीति पर प्रभाव डालकर अपना हित-संवर्धन करना था।

औद्योगिक क्रान्ति के सामाजिक परिणाम

ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति के निम्न सामाजिक परिणाम प्रकट हुए—

(1) **वर्ग-संघर्ष का उदय**—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटिश समाज दो वर्गों में बँट गया—पूँजीपति और श्रमिक। श्रम के शोषण द्वारा पूँजीपति निरन्तर धनवान होते गए तथा श्रमिक दरिद्रतर। ऑग (Ogg) एवं शार्प (Sharp) के शब्दों में, "सम्पत्तिहीन, मुद्रा-विहीन और गृह-विहीन श्रमिक केवल प्रतिहारी बनकर रह गए।" इससे श्रमिकों में असन्तोष का जन्म हुआ तथा अपना संगठन बनाकर (संगठित आधार पर) वे हित-संघर्ष के लिये प्रेरित हुए।

(2) **जनसंख्या में वृद्धि**—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप रोजगार के अवसर बढ़े, व्यक्तियों की आय बढ़ी तथा रहन-सहन के स्तर में सुधार आया। इससे जनसंख्या की वृद्धि प्रोत्साहित हुई। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह धीमी गति से बढ़ी, किन्तु 19वीं शताब्दी में जनसंख्या-वृद्धि की गति तेज हो गई। 1751 में ग्रेट ब्रिटेन की कुल जनसंख्या 55 लाख थी जो 1771 तक बढ़कर 60 लाख तथा 1801 तक 90 लाख हो गई। तदुपरान्त 1851 तक जनसंख्या बढ़कर दुगुनी तथा 1901 तक तिगुनी हो गई।

(3) **ग्रामीण जनसंख्या में कमी**—औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् व्यक्ति गाँव छोड़कर औद्योगिक केन्द्रों में जाकर बसने लगे। यान्त्रिक खेती के विस्तार ने भी उन्हें गाँव छोड़ने के लिये विवश किया। फलतः देश की कुल जनसंख्या में ग्रामीणों का अनुपात घटने लगा और निरन्तर घटता ही गया।

(4) **श्रमिकों का शोषण**—औद्योगिक क्रान्ति ने कारखाना-प्रणाली पर आधारित पूँजीवाद को जन्म दिया। सरकार की अहस्तक्षेपवादी नीति के कारण उद्योपतियों ने तरह तरह से श्रमिकों का शोषण किया। श्रमिकों से प्रतिदिन 18 घंटे काम लिया जाता। उन्हें मजदूरी का भुगतान वस्तुओं के रूप में किया जाता। कार्य से अनुपस्थित रहने या कार्य पर विलम्ब से पहुँचने पर उन्हें शारीरिक एवं आर्थिक दण्ड दिया जाता। श्रमिकों को अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुयें कारखाने में स्थित उद्योगपति की दूकान से खरीदनी पड़ती थीं। उन्हें मिल मालिक द्वारा उपलब्ध कराए गए मकानों में रहना पड़ता। अतः उनकी समूची मजदूरी समाप्त हो जाती तथा आवश्यकता पड़ने पर कर्ज भी लेना पड़ता।

(5) **पारिवारिक जीवन का ह्रास**—श्रमिकों को अधिक समय तक कारखानों में काम करना पड़ता था, जिसका उनके पारिवारिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

(6) **श्रमिकों की स्वतन्त्रता का अन्त**—औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व दस्तकार अपने घर पर स्वतन्त्रतापूर्वक काम करते थे, किन्तु अब उन्हें सेवायोजक के प्रत्यक्ष नियन्त्रण एवं कड़े अनुशासन में काम करना पड़ा। कार्य-निष्पादन के लिये वे यन्त्रों

पर निर्भर रहने लगे। उत्पादन-कार्य में श्रमिकों का महत्व घट गया तथा उनकी स्वतन्त्रता समाप्त हो गई।

(7) **स्वास्थ्य एवं नैतिकता की समस्या**—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों का जन्म हुआ। अव्यवस्थित ढंग से बसने के कारण ये भीड़भाड़ के अतिरिक्त गन्दगी के भी केन्द्र बन गये। इनका वातावरण अस्वस्थकर हो गया। इनमें मद्यपान, जुआखोरी तथा व्यभिचार बढ़ गया।

निष्कर्ष—कुल मिलाकर, औद्योगिक क्रान्ति से हुए आर्थिक लाभों का महत्व इस क्रान्ति के फलस्वरूप उपस्थित सामाजिक समस्याओं और बुराइयों के कारण बहुत घट गया। कुछ विद्वानों का मत है कि औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न कारखाना-प्रणाली ने किसी नई बुराई को जन्म नहीं दिया, अपितु पहले से ही विद्यमान बुराइयों को उजागर कर दिया था। वस्तुत: औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव ब्रिटेन तक सीमित नहीं रहे। आवास-प्रवास, ब्रिटिश साहित्य एवं तकनीकी ज्ञान के प्रसार तथा ब्रिटिश पूँजी के निवेश द्वारा ये संसार के दूसरे स्वतन्त्र देशों और उपनिवेशों में भी फैल गए। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक औद्योगिक क्रान्ति जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका, रूस और जापान में फैल गई। इस समय एशिया और अफ्रीका के विकासशील देश औद्योगिक क्रान्ति की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं।

प्रश्न 4—"यदि 1860 से लेकर 1873 तक का समय ब्रिटिश उद्योगों के लिये स्वर्णिम युग था, तब 19वीं शताब्दी का अन्तिम चतुर्थांश महान अवसाद का समय था।" व्याख्या कीजिये।

"If the period from 1850 to 1873 was the golden age of British industries, the last quarter of 19th Century was that of unrelived depression." Discuss

उत्तर—19 वीं शताब्दी के मध्य तक ग्रेट ब्रिटेन के उद्योग-धन्धे पर्याप्त विकसित हो चुके थे। उद्योगों द्वारा विनिर्मित माल बड़ी मात्रा में विदेशों को निर्यात किया जाता था। आयात प्रधानत: कच्चे-पदार्थों और खाद्यान्नों का किया जाता था। कुल मिलाकर ब्रिटेन 'संसार की वर्कशॉप' के रूप में कार्य करने लगा था।

ब्रिटिश उद्योगों का स्वर्णिम युग

1850 से लेकर 1873 तक का समय 'ब्रिटिश उद्योगों का स्वर्णिम युग' कहलाता है। इसे 'विक्टोरियन समृद्धि का युग' भी कहा जाता है। इस युग में ब्रिटिश कृषि, उद्योग एवं व्यापार की जो प्रगति हुई, वह इससे पहले कभी नहीं हुई थी। ब्रिटेन के औद्योगिक क्षेत्र की प्रगति विशेष रूप से उल्लेखनीय रही। इस अवधि में ब्रिटिश उद्योगों के द्रुत विकास हेतु मुख्य रूप से निम्न घटक उत्तरदायी थे—

(1) **विदेशी बाजार का विस्तार**—इस युग में ब्रिटिश उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं के बाजार का एशिया, अमेरिका और यूरोपीय महाद्वीपों में तेजी से विस्तार

हुआ। दूसरे यूरोपीय देशों के साथ उपनिवेश स्थापित करने की प्रतिद्वन्द्विता में ब्रिटेन की अन्तिम रूप से विजय हुई। फलत: ब्रिटिश उद्योगों द्वारा निर्मित माल की खपत के लिए उपनिवेशों के रूप में विस्तृत बाजार उपलब्ध हो गया। उपनिवेश ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे-माल की आपूर्ति के स्रोत भी बन गए।

(2) **संचार साधनों का विस्तार**--परिवहन और संचार के साधनों का विस्तार इस युग में ब्रिटिश उद्योगों की असाधारण समृद्धि का सबसे प्रमुख कारण था। देश के भीतर सड़कों और रेलों के विस्तार से औद्योगिक केन्द्रों तक कच्चा-माल पहुँचाना तथा विनिर्मित माल उपभोक्ता-केन्द्रों या बन्दरगाहों तक पहुँचाना सस्ता एव सुविधाजनक हो गया। इससे नये उद्योगों की स्थापना तथा पुराने उद्योगों के विस्तार में अपूर्व सहायता मिली। जहाजरानी के विकास से ब्रिटेन का संसार के लगभग सभी देशों के साथ सम्बन्ध जुड़ गया। फलत: ब्रिटेन के विदेशी व्यापार में अभूतपूर्व वृद्धि हुई तथा इसका ब्रिटिश उद्योगों की प्रगति पर अनुकूल प्रभाव पड़ा।

(3) **विदेशी प्रतियोगिता का अभाव**—इस काल में ब्रिटिश उद्योगों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार लगभग प्रतियोगिता रहित बना रहा; क्योंकि संसार के अन्य प्रमुख देश आन्तरिक अशान्ति या विदेशी आक्रमण के भय से त्रस्त थे। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका अपने गृह-युद्ध में फँसा था, रूस क्रीमियाई युद्ध के प्रभावों में मुक्त नहीं हो पाया था, जर्मनी फ्रांस को हड़पने की ताक में था और फ्राँस स्वयं को जर्मनी से बचाने में तल्लीन था। प्रतियोगिता रहित अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की उपलब्धता ने ब्रिटिश उद्योगों को उन्नति का सुनहरा अवसर प्रदान किया।

(4) **विदेशों में पूंजी-निवेश से लाभ**— इन वर्षों में संसार के बहुत से देशों में रेलवे, बन्दरगाहों, विद्युत शक्ति के विकास हेतु बड़े पैमाने पर ब्रिटिश पूंजी एवं जनशक्ति (तकनीकी विशेषज्ञ का प्रयोग किया गया। पूंजी-निवेश तथा तकनीकी विशेषज्ञों की सेवाओं के बदले ब्रिटेन को भारी में धन मिला, जिसने पूंजी-निर्माण का कार्य सुविधाजनक बनाकर ब्रिटिश उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण सहयोग दिया।

(5) **श्रम की कार्यक्षमता में वृद्धि**—इस युग में ब्रिटिश श्रमिकों की कार्यक्षमता में कई कारणों से वृद्धि हुई। सर्वप्रथम, औद्योगिक केन्द्रों में रोजगार की दशा संतोषजनक बनी रही। दूसरे, औद्योगिक श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि हुई। तीसरे, कारखानों में स्वच्छता एवं स्वास्थ्य की सुविधाओं पर विशेष बल दिया गया। चौथे, श्रमिकों के कार्य की दशाओं में सुधार हुआ। इन सब कारणों से श्रम की कार्यक्षमता बढ़ गई, जिसका औद्योगिक उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा।

परन्तु 'विक्टोरियन समृद्धि का युग' औद्योगिक विकास के लिए सर्वथा दोषमुक्त नहीं था। इस युग में भी ब्रिटेन के सूती एवं रेशमी वस्त्र-उद्योगों पर सम्मुख कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। अमेरिका गृह-युद्ध के कारण सूतीवस्त्र उद्योग के लिए अमेरिका से

कपास का आयात कठिन हो गया। इस कठिनाई के निवारण हेतु ब्रिटिश सूती मिल-मालिकों ने भारत में कपास की खेती को प्रोत्साहित करने का निर्णय लिया। इसी प्रकार फ्रान्सीसी रेशम उद्योग की प्रतियोगिता के कारण ब्रिटिश उद्योग को अवसाद का सामना करना पड़ा।

ब्रिटिश उद्योग के लिए अवसाद का युग

19वीं शताब्दी का अन्तिम चतुर्थांश ब्रिटिश उद्योगों के लिए महान अवसाद का समय था। 1874 में विक्टोरिया समृद्धि का युग समाप्त हो गया तथा ब्रिटिश उद्योगों को अवसाद की दीर्घकालीन अवधि का सामना करना पड़ा। अवसाद (मन्दी) की स्थिति किसी न किसी रूप में 1896 तक विद्यमान रही। इस अवधि में ब्रिटिश उद्योगों का उत्पादन घट गया तथा ब्रिटेन के विदेशी व्यापार की मात्रा भी कम हो गई। ब्रिटिश उद्योगों में अवसाद की स्थिति उत्पन्न होने के पीछे प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

(1) **विदेशी प्रतियोगिता का दबाव**—1879 के बाद विदेशी प्रतियोगिता (विशेषकर जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ) का बढ़ता हुआ दबाव ब्रिटिश उद्योगों में अवसाद की स्थिति का प्रमुख कारण था। बिस्मार्क के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण के पश्चात् उसका तीव्र गति से औद्योगीकरण आरम्भ हुआ। जर्मन उद्योगों को सरकारी सहायता एवं संरक्षण प्राप्त था। अतः विदेशी बाजार में वह ब्रिटेन का प्रमुख प्रतिस्पर्धी बन गया। दूसरी ओर, गृह-युद्ध के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका का भी तेजी से औद्योगीकरण आरम्भ हुआ तथा कुछ ही वर्षों में वह ब्रिटेन का प्रबल प्रतियोगी बन गया।

(2) **नवीन आविष्कार**—इस युग में कई नए आविष्कार हुए, जिन्होंने यूरोपीय देशों औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करके उनकी प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति बढ़ा दी। हेनरी बिसमेर (Henary Bessemer), साईमेन (Siemen) और गिलक्रिस्ट (Gilchrist) के आविष्कारों ने इस्पात तैयार करने वाली प्रक्रिया सुधार इस्पात सस्ता बना दिया। दूसरे वैज्ञानिकों ने स्टीमर का आविष्कार किया। इन आविष्कारों ने ब्रिटिश उद्योगों पर विदेशी प्रतियोगिता का दबाव बढ़ा दिया।

(3) **स्वेज नहर का निर्माण**—स्वेज नहर के निर्माण से पूर्व सभी जहाजों को उत्तमाशा अन्तरीय (Cape of Good Hope) होकर जाना पड़ता। इससे जर्मनी तथा दूसरे यूरोपीय देशों को सामान मंगाने और भेजने में कठिनाई होती थी। 1869 में स्वेज नहर का निर्माण हो गया। अब जर्मनी के भूमध्यसागरीय प्रदेशों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया। अत: पूर्वी देशों के साथ उसका व्यापार सुविधाजनक हो गया। इस तरह, व्यापारिक मार्ग बदल जाने से ब्रिटिश व्यापार एवं उद्योगों को भारी धक्का लगा।

(4) **पूंजी की कठिनाई**—अपने औद्योगिक विकास हेतु अमेरिका और जर्मनी ने ब्रिटेन के अनुभवों से लाभ उठाया। इन देशों ने पूंजी एकत्रित करने के

लिए विनियोग बैंक स्थापित किये, जबकि ब्रिटेन में संयुक्त स्कन्ध कम्पनियाँ (जिनकी संख्या अत्यन्त सीमित थी।) पूंजी बाजार में अपने शेयर बेचकर ही पूँजी एकत्रित करती थीं। अतः ब्रिटिश उद्योगों को पूँजी की स्वल्पता का सामना करना पड़ा जिसका उनके विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

(5) **स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अनुसरण**— इस युग में जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका संरक्षणवादी नीति के अन्तर्गत अपने उद्योग विकसित कर रहे थे, किन्तु ब्रिटेन अब भी स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अनुसरण कर रहा था। इस नीति के अनुसार, सरकार आर्थिक क्रिया कलाप के क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करती थी। सरकार की अहस्तक्षेपवादी नीति के कारण ब्रिटिश उद्योगों पर विदेशी प्रतियोगिता का दबाव पड़ने लगा।

औद्योगिक अवसाद का प्रभाव ब्रिटेन की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर पड़ा। कृषि एवं उद्योगों का उत्पादन तथा व्यापार की मात्रा घट गई। थोक मूल्यों में 40 प्रतिशत की गिरावट आयी, जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन के निर्यातों की अपेक्षा आयात अधिक बढ़े। अतः सरकार की अहस्तक्षेपवादी नीति के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई तथा घरेलू उद्योगों के लिए संरक्षण की माँग होने लगी।

प्रश्न 5—18वीं और 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन में हुई कृषिजन्य एवं औद्योगिक क्रान्ति के परस्पर-सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

Discuss the inter-relationship between agricultural and industrial revolution *that took* place in English *in* 18th and 19th Centuries.

उत्तर—यदि 'कृषि-क्रान्ति' का अर्थ कृषि-तकनीक एवं कृषि-संगठन में उपस्थित मौलिक परिवर्तनों से है, तब 'औद्योगिक क्रान्ति' का अर्थ औद्योगिक पद्धति एवं औद्योगिक संगठन में उपस्थित मौलिक परिवर्तनों से है। परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र हो सकती है अथवा धीमी (अर्थात परिवर्तन आकस्मिक हो सकते हैं अथवा क्रमिक); किन्तु पूर्ण होने पर परिवर्तन मौलिक अवश्य प्रतीत होते हैं।

कुछ विद्वान 'कृषि-क्रान्ति' को औद्योगिक क्रान्ति की पूर्व-दशा मानते हैं, जबकि अन्य 'औद्योगिक क्रान्ति' को कृषि-क्रान्ति की पूर्व-आवश्यकता ठहराते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि कृषि-क्रान्ति एवं औद्योगिक क्रान्ति न केवल परस्पर-सम्बन्धित हैं, अपितु द्रुत आर्थिक विकास की प्रमुख प्रेरक शक्तियाँ भी हैं। ब्राइस (Bryce) के शब्दों में, "कृषिजन्य एवं औद्योगिक क्षेत्रों का विकास घनिष्ठ रूप से गुंथा हुआ है। प्रत्येक क्षेत्र पर्याप्त अंश तक दूसरे क्षेत्र पर आश्रित है।" यूजीन स्टेले (Eugene Staley) के अनुसार, "कृषि-उत्पादकता बढ़ाए बिना औद्योगीकरण असम्भव है तथा औद्योगीकरण के अभाव में कृषिजन्य विकास थोथी कल्पना है।" कृषि-क्रान्ति के बिना ग्रामीण जनसंख्या की क्रयशक्ति न्यून बनी रहेगी जिसके कारण औद्योगीकरण की गति शिथिल बनी रहेगी। इसी प्रकार, औद्योगिक-क्रान्ति

के बिना कृषि-क्षेत्र का तेजी से विकास नहीं हो पाएगा; क्योंकि कृषि-क्षेत्र में उपलब्ध फालतू श्रमशक्ति के लिए लाभप्रद रोजगार जुटाना, कृषि-विकास हेतु उन्नत आगत (Inputs) उपलब्ध कराना तथा उसे ठोस तकनीकी-आधार प्रदान करने का श्रेय औद्योगिक क्रान्ति को ही होता है।

ब्रिटिश औद्योगिक एवं कृषि-क्रान्तियों में अन्तर्सम्बन्ध— ग्रेट ब्रिटेन में 'कृषि-क्रान्ति' तथा 'औद्योगिक क्रान्ति' के रूप में कृषि एवं उद्योग क्षेत्रों के अन्तर्गत तकनीकी एवं संगठनात्मक परिवर्तन साथ ही साथ उपस्थित हुए। दोनों क्षेत्रों में उपस्थित परिवर्तन पूर्णतया मौलिक थे। प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन की प्रक्रिया 18वीं शताब्दी के मध्य (1750) से आरम्भ हुई तथा 19वीं शताब्दी के मध्य (1850) तक पूरी हुई। दोनों क्षेत्रों में उपस्थित परिवर्तन 'आकस्मिक' न होकर 'क्रमिक' थे तथा 'साधारण' न होकर 'असाधारण' थे। कृषि-क्षेत्र और औद्योगिक-क्षेत्र में उपस्थित परिवर्तन इतने अधिक महत्वपूर्ण और मौलिक थे कि इन्हें क्रमशः 'कृषि-क्रान्ति' की संज्ञा दी गई। 18वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा 19वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध सही अर्थों में ब्रिटेन के लिए 'आर्थिक क्रान्तियों का युग' था, क्योंकि इस दौरान ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के लगभग सभी प्रमुख क्षेत्रों (कृषि, उद्योग, वाणिज्य एवं परिवहन) में क्रान्तिकारी परिवहन) में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए थे।

ब्रिटेन की कृषि एवं औद्योगिक क्रान्तियों के बीच परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। यदि कृषि क्रान्ति ने औद्योगिक क्रान्ति के लिए आधार प्रस्तुत किया, तब औद्योगिक क्रान्ति ने कृषि-क्रान्ति को सफल बनाने में यथोचित सहायता एवं प्रोत्साहन प्रदान किया। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व ब्रिटिश कृषक अपनी आजीविका के लिए कुछ अंश तक हस्तशिल्प पर निर्भर थे। हस्तशिल्प के माध्यम से ये अतिरिक्त आय अर्जित कर लेते थे। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के कारण सस्ती वस्तुओं का उत्पादन होने लगा तथा हस्तशिल्प द्वारा निर्मित वस्तुएं महंगी पड़ने लगीं। कारखानों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुओं की बाढ़ में अन्ततोगत्वा हस्तशिल्प का अवसान हो गया। ग्रामीण दस्तकार और छोटे किसान औद्योगिक केन्द्रों की शरण लेने के लिए विवश हुए। गांवों में कृषि-कार्यों के लिए श्रमिकों का अभाव उत्पन्न हुआ। इस स्थिति में बड़े-बड़े फार्मों की स्थापना तथा कृषि-कार्यों में यन्त्रों का प्रयोग आवश्यक हो गया। भूमि की जुताई, बुवाई और फसलों की कटाई के लिए नए-नए यन्त्रों का आविष्कार हुआ। 'यान्त्रिक कृषि का विस्तार' कृषि-क्रान्ति की प्रमुख विशेषता थी।

कृषि-क्रान्ति के कारण खेती-बारी में रासायनिक खादों, कृषि-मशीनरी तथा विद्युत शक्ति का प्रयोग तेजी से बढ़ने लगा। इससे ब्रिटेन में औद्योगिक विस्तार को प्रोत्साहन मिला। कृषि-यन्त्रों के निर्माण हेतु इंजीनियरिंग उद्योग का विकास हुआ तथा रासायनिक उर्वरकों के उत्पादन हेतु रासायनिक उद्योग का विकास हुआ। यदि ब्रिटेन में नए-नए उद्योगों की स्थापना नहीं हुई होती, तब निश्चय ही कृषि-

क्रान्ति सफल नहीं हो पाती, क्योंकि उस अवस्था में नए कृषि-आगतों की आपूर्ति असम्भव होती। उन्नत कृषि-आगतों की आपूर्ति द्वारा उद्योगों ने कृषि-क्रान्ति को सफल बनाया। दूसरी ओर, उद्योगों के लिए आवश्यक श्रम, कच्चा-माल तथा औद्योगिक जनसंख्या के लिए खाद्यान्न कृषि-क्षेत्र ने उपलब्ध कराया। यान्त्रिक खेती के विस्तार ने कृषि-क्षेत्र में श्रम की आवश्यकता कम कर दी तथा कृषि-क्षेत्र का यही 'फालतू' श्रम औद्योगिक केन्द्रों के लिए उपलब्ध हुआ। कृषि-क्रान्ति के फल-स्वरूप ब्रिटिश कृषि की उत्पादकता एवं उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई। कृषि-क्षेत्र में विपणन योग्य अतिरेक की मात्रा बढ़ गई, जो कच्चे-माल और खाद्यान्न के रूप में औद्योगिक क्षेत्र को प्राप्त हुई। कृषि-क्रान्ति ने कृषक-जनसंख्या की क्रयशक्ति बढ़ाकर ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगिक वस्तुओं की खपत भी बढ़ाई अर्थात् औद्योगिक वस्तुओं के लिए घरेलू बाजार का विस्तार किया। इस तरह, कृषि-क्रान्ति ने औद्योगिक प्रगति को प्रोत्साहित किया।

उद्योगों के साथ कृषि का 'अग्रगामी' एवं 'अधोगामी' दो तरह का सह-सम्बन्ध पाया जाता है। कृषि-क्षेत्र द्वारा उद्योगों के लिए विभिन्न आगतों (श्रम, कच्चा-माल और खाद्यान्न) की आपूर्ति 'अग्रगामी सह-सम्बन्ध' (Forward Linkage) कहलाता है; जबकि कृषि-क्षेत्र में उद्योगों द्वारा निर्मित माल की खपत 'अधोगामी सह-सम्बन्ध' (Backward Linkage) कहलाता है। कृषि-क्रान्ति के बिना उद्योगों के साथ कृषि का अग्रगामी सह-सम्बन्ध तो सुदृढ़ हो सकता है, किन्तु अधोगामी सह-सम्बन्ध निश्चित रूप से कमजोर बना रहता है। 'कृषि-क्रान्ति' कृषि-क्षेत्र में औद्योगिक माल की खपत बढ़ाकर उसका औद्योगिक क्षेत्र के साथ-अधोगामी सह-सम्बन्ध भी सुदृढ़ बना देती है। एक तो, कृषि-तकनीक बदल जाने से कृषि-क्षेत्र में रासायनिक उर्वरकों तथा कृषि-यन्त्रों (जिन्हें औद्योगिक क्षेत्र निर्मित करता है) की खपत बढ़ जाती है। दूसरे, ग्रामीण जनसख्या की क्रयशक्ति बढ़ जाने से ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योगों द्वारा निर्मित उपभोक्ता-पदार्थों की माँग बढ़ जाती है। ग्रेट ब्रिटेन में भी यही सब कुछ हुआ। औद्योगिक क्रान्ति ने उद्योगों में कृषि-उत्पादों तथा ग्रामीण श्रम की माँग बढ़ाकर कृषि-विकास को प्रोत्साहित किया; जबकि कृषि-क्रान्ति ने कृषि-क्षेत्र में औद्योगिक उत्पादों की खपत बढ़ाकर औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन दिया।

यदि 19वीं शताब्दी का तृतीय चतुर्थांश ब्रिटिश-कृषि एवं उद्योगों के लिए सम्मिलित रूप से स्वर्णिम युग था, तब 19वीं शताब्दी का अन्तिम चतुर्थांश दोनों के लिए महान अवसाद का समय था। विदेशी प्रतियोगिता के अभाव में ब्रिटिश कृषि एवं उद्योग 19वीं शताब्दी के तृतीय चतुर्थांश में खूब फले-फूले, किन्तु 19वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में विदेशी प्रतियोगिता का दबाव बढ़ जाने के कारण ब्रिटिश कृषि एवं उद्योग में अवसाद की स्थिति उत्पन्न हो गई। इन घटनाओं से भी ब्रिटेन की कृषि एवं औद्योगिक क्रान्तियों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध की पुष्टि होती है।

ब्रिटेन की कृषि क्रान्ति 'कृषि-संगठन में परिवर्तन' (लघु कृषि-जोतों के स्थान पर बड़े-बड़े फार्मों की स्थापना) तथा कृषि तकनीक में परिवर्तन' (प्राकृतिक खादों के स्थान पर रासायनिक खादों का प्रयोग, परम्परागत कृषि-औजारों के स्थान पर नवीन कृषि-यन्त्रों का प्रयोग, फसल-चक्र की पुरातन पद्धति के स्थान पर नई पद्धति का प्रयोग) का परिणाम थी। इसी प्रकार, ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति 'औद्योगिक संगठन में परिवर्तन' (गृह-प्रणाली के स्थान पर कारखाना प्रणाली का विकास) तथा 'औद्योगिक तकनीक में परिवर्तन' (हस्तकर्म का शक्ति-चालित यन्त्रों द्वारा कार्य में रूपान्तरण) का परिणाम थी।

4

ब्रिटेन के प्रमुख उद्योग

(Major Industries of Britains)

प्रश्न 1—ग्रेट ब्रिटेन के कोयला-उद्योग के विकास, वर्तमान स्थिति और समस्याओं की व्याख्या कीजिए।

Discuss the growth, present position and problems of coal industry of Great Britain

अथवा

"इंगलैंड के आर्थिक इतिहास की व्याख्या उसकी कोयला-खानों के इतिहास के रूप में की जा सकती है।" विवेचना कीजिए।

"The economic history of England can well be interpreted as the history of her Coal mines." Discuss.

उत्तर—ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति 'लोहा' एवं 'कोयला' दो आधारभूत पदार्थों पर आधारित थी। यदि लोहे ने मशीनरी को जन्म दिया, तब कोयले ने उसे गति (वाष्पशक्ति के निर्माण द्वारा) प्रदान की। साउथगेट (Southgate) के अनुसार ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति के अन्तर्गत जो मूलभूत परिवर्तन हुआ, वह हस्तकर्म के स्थान पर मशीनें द्वारा उत्पादन था। मशीनें 'शक्ति' से चलाई जाती थीं, जो आरम्भ में बहते हुए जल से प्राप्त होती थी। कालान्तर में शक्ति के साधन-स्वरूप वाष्प का महत्व ज्ञात हुआ। वाष्पशक्ति का आविष्कार होने पर इंजिनों के निर्माण हेतु लोहे की आवश्यकता हुई तथा उन्हें चलाने के लिये कोयले की। ग्रेट ब्रिटेन में खनिज

लोहे और कोयले की प्रचुरता थी तथा उनकी खानें आस-पास स्थित थीं। इसके अतिरिक्त, ब्रिटेन ने बड़ी मात्रा में कोयले का निर्यात भी किया तथा इसके बदले प्राप्त विदेशी पूँजी का औद्योगिक विकास हेतु प्रयोग किया। इस तरह कोयले ने ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति के लिए प्रमुख आधार का कार्य किया। सी० आर० फे० (C. R. Fay) के शब्दों में, "भौतिक दृष्टिकोण से कोयला ही ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति का प्रमुख कारण था।" स्पष्टतः ब्रिटेन के आर्थिक इतिहास की आर्थिक व्याख्या कोयला उद्योग के इतिहास के रूप में की जा सकती है।

कोयला उद्योग का प्रारम्भिक इतिहास—18वीं शताब्दी से पहले ब्रिटेन में कोयले का प्रयोग घरेलू कार्यों तक सीमित था। खानें छोटे आकार वाली थीं, जिनमे अधिक से अधिक 40 या 50 मजदूर काम करते थे। खानों में गहराई तक खुदाई की असुविधा के कारण कोयले का उत्पादन बहुत कम था। परिवहन की कठिनाई भी प्रबल थी। 18वीं शताब्दी में शहरी विकास तथा वाष्प इंजिन के आविष्कार के कारण कोयले की मांग में भारी वृद्धि हुई। 1709 में अब्राहम डर्बी ने कोक के रूप में प्रयोग करके लोहा गलाने में कोयले की उपयोगिता सिद्ध कर दी। 19वीं शताब्दी में रेलों और जलयानों के विकास ने भी कोयले की माँग बढ़ाई। इससे ब्रिटिश कोयला-उद्योग को विकास हेतु प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। कोयला-उद्योग में नए-नए आविष्कार हुए। 1710 में न्यूकोमेन (Newcomen) ने वाष्प इंजिन के आविष्कार द्वारा कोयला-खानों से पानी निकालने की समस्या सुलझाई। 1765 में जेम्स वाट (James Watt) द्वारा आविष्कृत इंजिन ने यह कार्य अधिक सुगम बना दिया। कोयले की खुदाई के लिए 'स्तम्भ और पोस्ट प्रणाली' अपनाई गई। बाद में इसे 'लॉंगवाल प्रणाली' द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया। 1815 में हम्फ्री डेवी ने सेफ्टी लैम्प के आविष्कार द्वारा खानों में प्रकाश की समस्या सुलझाई। 1839 में केबिल वायर्स के आविष्कार ने खानों से कोयला बाहर निकालने का कार्य सुगम बनाया। 1837 में हवा निकालने के पंखों (Exhaust Fans) के आविष्कार से खानों में हवा आने-जाने की कठिनाई सुलझ गई। कोयला काटने के यन्त्र, बिजली और लिफ्ट के आविष्कार ने खानों में गहरी सतह तक खुदाई का कार्य सम्भव बनाया। गैस द्वारा प्रकाश, इनकैन्डीसेन्ट मेंटल, इन्टरनल कम्बस्टन इंजिन तथा गैस स्टोव के आविष्कारों ने कोयला उद्योग में क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

ग्रेट ब्रिटेन में कोयले का उत्पादन 1800 में केवल 100 लाख टन था, जो 1860 में बढ़कर 800 लाख टन, 1900 में 2,250 लाख टन तथा 1913 में 2,870 लाख टन हो गया। 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन ने प्रचुर मात्रा में कोयले का निर्यात भी किया। निर्यात की मात्रा 1860 में 100 लाख टन (कुल उत्पादन की 12.5 प्रतिशत) से बढ़कर 1900 में 500 लाख टन (कुल उत्पादन की 24 प्रतिशत) तथा 1913 में 940 लाख टन (कुल उत्पादन की 33 प्रतिशत) हो गई। 1913 में ब्रिटेन के कोयला उद्योग में लगभग 11 लाख श्रमिक संलग्न थे। 1842

से कोयला खानों में स्त्रियों और बच्चों के रोजगार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। 1850 से खानों में निरीक्षण पद्धति लागू की गई। 1881 से गृह सचिव को खान-दुर्घटना के कारणों की जाँच का अधिकार दिया गया। 1911 में कोयला खानों से सम्बन्धित समस्त विधियों की संहिता बना दी गई।

अन्तर्महायुद्धकाल में कोयला उद्योग—प्रथम महायुद्ध का ब्रिटिश कोयला उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। युद्धकाल में श्रमशक्ति एवं यन्त्रों की स्वल्पता से कोयले का उत्पादन तथा निर्यात घट गया। युद्ध की समाप्ति पर सरकार ने कोयला उद्योग की स्थिति जाँचने के लिए 'शाही आयोग' नियुक्त किया, किन्तु इसकी सिफारिशें लागू नहीं हो पाईं। 1926 में हड़ताल के कारण कोयला उद्योग की स्थिति अत्यन्त खराब हो गई। सरकार ने हरबर्ट सेम्युल (Herbert Samuel) की अध्यक्षता में आयोग की नियुक्ति की। इसकी सिफारिशों के आधार पर कोयला उद्योग के लिए सरकारी सहायता बन्द कर दी गई। 1928 में 'केन्द्रीय कोयला खान संघ' की स्थापना हुई। सरकार ने विभिन्न खानों के लिए उत्पादन का कोटा निर्धारित किया तथा कोयले के निर्यात पर 25 प्रतिशत आर्थिक सहायता देने की घोषणा की। परन्तु 1929 में उत्पन्न संसारव्यापी मन्दी ने इस उद्योग की स्थिति में सुधार की आशा धूमिल बना दी। 1930 में पारित कोयला खान अधिनियम के अन्तर्गत सरकार ने खानों के विलयन का प्रयास किया। परन्तु सरकार को अधिक सफलता नहीं मिल पाई तथा कोयला उद्योग में उत्पादन एवं रोजगार की मात्रा निरन्तर घटती गई। कोयले का उत्पादन 1913 में 2,870 लाख टन से घटकर 1930 में 2,400 लाख टन तथा 1933 में 2,070 लाख टन रह गया। कोयले का निर्यात 1913 में 940 लाख टन से घटकर 1933 में 570 लाख टन रह गया। कोयला उद्योग में रोजगार की मात्रा 1913 में 11 लाख रह गई।

1933 के पश्चात् ब्रिटिश कोयला उद्योग की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। इसके लिए आयरलैण्ड, नार्वे और स्वीडन के साथ हुए व्यापारिक समझौते मुख्य रूप से उत्तरदायी थे। द्वितीय महायुद्ध के दौरान सरकार ने कोयले की पूर्ति नियमित बनाने के उद्देश्य से कोयला उद्योग को अनेक प्रकार के प्रोत्साहन दिए। 1942 में कोयला खान-श्रमिकों के लिए न्यूनतम मजदूरी तय की गई तथा 1944 में मजदूरी ढाँचे को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

कोयला उद्योग का राष्ट्रीयकरण—1946 में पारित 'कोयला खान राष्ट्रीयकरण अधिनियम' के अन्तर्गत जनवरी 1947 से ब्रिटिश सरकार ने समस्त कोयला खानों को अपने स्वामित्व और नियन्त्रण में ले लिया। कोयला उद्योग के प्रबन्ध हेतु 'राष्ट्रीय कोयला बोर्ड' की स्थापना की गई। कोयले की उत्पादन एवं वितरण प्रणालियों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए बोर्ड ने सम्पूर्ण देश को 8 कोयला क्षेत्रों में तथा इन 8 क्षेत्रों को 34 उप-क्षेत्र में विभक्त किया। बोर्ड के प्रमुख-प्रमुख कार्य तीन हैं—(1) कोयला उद्योग का वैज्ञानिक आधार पर सगठित एवं विकसित

करना। (ii) श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा पर समुचित ध्यान देना। (iii) जन हित को ध्यान में रखते हुए उचित मूल्य पर तथा उचित मात्रा में कोयला उपलब्ध कराना। 1947 से लेकर 1964 तक राष्ट्रीय कोयला मण्डल ने कोयला उद्योग के विकास हेतु 125 करोड़ का पूंजीगत निवेश किया। मण्डल ने तीन अनुसन्धान संस्थाएँ स्थापित की हैं—स्टाक आर्चर्ड में कोयला अनुसन्धान संस्थान, आइसवर्थ में खनन अनुसन्धान संस्थान तथा ब्रेटबी में केन्द्रीय इंजीनियरिंग संस्थान।

राष्ट्रीयकरण के बाद कोयला उद्योग में विवेकीकरण की नीति लागू की गई। अच्छे श्रम सम्बन्धों के लिए मजदूरी बढ़ाई गई, सप्ताह में 5 दिन काम का नियम लागू किया गया तथा पेन्शन स्कीम आरम्भ की गई। राष्ट्रीयकरण के बाद ब्रिटिश कोयला उद्योग की प्रगति निम्न तालिका में दर्शाई गई—

मद	1947	1957	1967
उत्पादन (लाख टन)	1,966	2,178	1,721
निर्यात („ „)	53	82	71
मशीनों द्वारा लदान (प्रतिशत)	5	22	88
रोजगार (लाख व्यक्ति)	6.8	6 9	4.0

उद्योग की वर्तमान स्थिति—इस समय ब्रिटेन के प्रमुख कोयला-उत्पादक क्षेत्र पाँच हैं—

(1) यार्कशायर, डर्बीशायर और नाटिंघम क्षेत्र (यहां से वार्षिक उत्पादन का 48 प्रतिशत कोयला प्राप्त होता है)। (ii) डर्नहम और नार्थम्बरलैण्ड क्षेत्र, (iii) दक्षिणी वेल्स क्षेत्र, (iv) स्काटलैण्ड क्षेत्र, (v) लँकाशायर और पश्चिम-मध्यवर्ती क्षेत्र। मार्च 1985 में ग्रेट ब्रिटेन की 169 कोयला खानों में उत्पादन का काम हो रहा था। कोयला उद्योग में संलग्न श्रमिकों की संख्या 4,26,800 थी। 1984 में कोयले का कुल उत्पादन 1,100 लाख टन हुआ। पिछले कुछ वर्षों से ब्रिटेन में कोयले का उपभोग घटता जा रहा है। अनुमान है कि उपभोग की वर्तमान दर पर ब्रिटेन का-कोयला भण्डार अगले 202 वर्षों के लिए पर्याप्त होगा।

उद्योग की समस्याएं–ब्रिटिश कोयला उद्योग की वर्तमान समस्याएँ 'उत्पादन एवं 'श्रम की आपूर्ति' से सम्बन्धित हैं। कोयला खानों के राष्ट्रीयकरण के बाद सर्वाधिक कोयला-उत्पादन 1956 में हुआ। तदुपरान्त इसमें निरन्तर गिरावट आई है। ब्रिटेन का समूचा कोयला-उद्योग यन्त्रीकृत है। कोयला खानों की गहराई को ध्यान में रखते हुए निकट भविष्य में अधिक सुधरे हुए यन्त्रों के प्रयोग की तथा अनार्थिक खानों को बन्द कर देने की आवश्यकता है, तभी इस उद्योग की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति बनी रह सकती है। खनिज तेल के अधिक प्रयोग के कारण विगत वर्षों में

कोयले का घरेलू उपभोग घटा है। विदेशी प्रतियोगिता बढ़ जाने के कारण कोयले का निर्यात भी घटा है। अत: कोयले को गैस, तेल आदि में परिणित करने के लिए अनुसन्धान की आवश्यकता है। कोयला उद्योग में अच्छे श्रम-सम्बन्धों के लिए श्रम-सन्नियमों का प्रभावी ढंग से परिपालन आवश्यक है।

प्रश्न 2— इंगलैण्ड के सूतीवस्त्र उद्योग के विकास, वर्तमान स्थिति और प्रधान समस्याओं का उल्लेख कीजिए।

State the growth, present position and main problems of Cotton textile industry of England.

उत्तर—ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत सूती वस्त्रोद्योग से ही हुई। इस उद्योग की उन्नति से शनैः-शनैः ऊनी और रेशमी वस्त्रोद्योग प्रभावित हुए। वस्त्र-उद्योगों की उन्नति का प्रभाव इन्जीनियरिंग, लोहा एवं इस्पात, रासायनिक तथा कोयला उद्योगों पर पड़ा। इन उद्योगों की प्रगति ने कृषि, परिवहन एवं वाणिज्य के क्षेत्रों में क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

उद्योग का प्रारम्भिक विकास—19वीं शताब्दी में ब्रिटेन का सूती वस्त्रोद्योग अपने चरमोत्कर्ष पर था। 1800 से 1860 तक इस उद्योग का अबाध गति से विकास हुआ। इसके कई कारण थे। सर्वप्रथम, 18वीं शताब्दी में सूती वस्त्रोद्योग से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण आविष्कार हुए, जिन्होंने इस उद्योग की काया ही पलट दी। इन आविष्कारों में जॉन के (John Kay) का फ्लाईंग शटल, जेम्स हारग्रीव्स (James Horgreaves) की स्पिनिंग जैनी, रिचर्ड आर्कराइट (Richard Ark-wright) का वाटर फ्रेम, क्राम्पटन (Crompton) का म्यूल तथा एडमण्ड कार्ट-राइट (Edmund Cartwright) का पावर लूम प्रमुख थे। दूसरे, ब्रिटिश सूती वस्त्रो-द्योग को अमेरिका सुविधापूर्वक कपास प्राप्त हो जाती थी। तीसरे, औपनिवेशिका साम्राज्य के रूप में सूती वस्त्र के लिए विस्तृत बाजार उपलब्ध था।

1860-64 के बीच अमेरिका में उपस्थित गृह-युद्ध से ब्रिटिश सूती-वस्त्र को भारी आघात पहुंचा, क्योंकि अमेरिकन कपास का आयात बिलकुल बन्द हो गया था। कपास की अपर्याप्त पूर्ति के कारण कई कारखाने बन्द हो गए। मिल-मालिकों द्वारा भारत, मिस्र, नेपाल और आस्ट्रेलिया में कपास की खेती के प्रयास किए जाने लगे। 1902 में "ब्रिटिश कपास उत्पादक संघ' की स्थापना की गई, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य के उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में कपास की खेती को प्रोत्सा-हन दिया। कच्चे-माल की अपर्याप्त पूर्ति के अतिरिक्त, ब्रिटिश सूती वस्त्रोद्योग को 1875-79 तथा 1885-89 के वर्षों में अल्पकालीन मन्दी का भी सामना करना पड़ा। इसके बावजूद, उद्योग निरन्तर प्रगति करता गया। 20वीं शताब्दी के आरम्भ में ग्रेट ब्रिटेन सूती वस्त्र का सबसे बड़ा निर्माता और निर्यातक देश था। 1914 में ब्रिटेन के सूती वस्त्रोद्योग में 590 लाख तकुवे तथा 8.05 लाख करघे

संलग्न थे। उद्योग प्रतिवर्ष 200 करोड़ पौण्ड कपास का प्रयोग करता था तथा इसमें 620 श्रमिक हजार संलग्न थे।

प्रथम महायुद्ध के दौरान तथा बाद में सूती वस्त्र-उद्योग – प्रथम महायुद्ध के समय इस उद्योग को विभिन्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इनमें कच्चे माल के आयात तथा निर्मित माल के निर्यात की कठिनाई सबसे प्रमुख थी। 'कपास की आपूर्ति' तथा 'सूती वस्त्र की बिक्री' इन दोनों बातों के लिए ब्रिटेन का यह उद्योग मुख्य रूप से विदेशों पर निर्भर था। युद्धकाल में जहाजों की कमी के कारण इस उद्योग को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। युद्ध की समाप्ति पर उद्योग की स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ, किन्तु यह सुधार अस्थायी था। 1913 की अपेक्षा 1924 में सूत का उत्पादन 30 प्रतिशत तथा सूती वस्त्र का उत्पादन 3 प्रतिशत घट गया। तदुपरान्त 'तीसा' की महामन्दी ने इस उद्योग में ह्रास की प्रक्रिया और भी तेज कर दी। 1924 की अपेक्षा 1930 में सूती वस्त्र का उत्पादन 41 प्रतिशत घट गया। ह्रास की प्रक्रिया रोकने के लिए सूती वस्त्रोद्योग में संयोजन आन्दोलन (Combination Movement) आरम्भ हुआ। कई निगम स्थापित किए गए, जिनमें 'लंकाशायर कॉटन निगम' का नाम उल्लेखनीय है। 1936 में पारित 'सूती वस्त्रोद्योग पुनर्गठन अधिनियम' के अन्तर्गत 'तकुआ बोर्ड' की स्थापना हुई, जिसे मिलों में लगे आवश्यकता से अधिक तकुवे हटाने का अधिकार दिया गया। 1939 में 'सूती वस्त्रोद्योग बोर्ड' की स्थापना हुई।

द्वितीय महायुद्ध काल में सूती वस्त्रोद्योग—द्वितीय महायुद्ध के समय सूती वस्त्र की माँग बढ़ जाने के कारण उद्योग ने राहत की सांस ली। उद्योग के उत्पादन में वृद्धि हुई, किन्तु इस पर सरकारी नियन्त्रण भी बढ़ गया। वस्त्र-वितरण के लिए सरकार को राशनिंग की व्यवस्था लागू करनी पड़ी। युद्ध के कारण उद्योग के समक्ष श्रमिकों का अभाव उपस्थित हो गया था। उद्योग से संलग्न श्रमिकों की संख्या 1939 में 11·6 लाख से घटकर 1946 में 8·4 लाख रह गई थी। इस कठिनाई के निवारण हेतु उद्योग में महिला श्रमिकों की संख्या बढ़ाई गई तथा विवेकीकरण की नीति अपनाई गई। विवेकीकरण द्वारा उद्योग की उत्पादन-क्षमता में पर्याप्त वृद्धि हुई। युद्धोत्तरकाल में सूतीवस्त्र की माँग बढ़ जाने से भी उद्योग का विकास प्रोत्साहित हुआ।

उद्योग की वर्तमान स्थिति—ब्रिटेन के उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों में उसके सूती वस्त्रोद्योग का आज भी प्रमुख स्थान है। राष्ट्र के कुल औद्योगिक उत्पादन में इस उद्योग का अंशदान लगभग 8 प्रतिशत है। 1984 में ब्रिटेन के वस्त्र-उद्योगों में लगभग 5 लाख श्रमिक कार्य करते थे, जिनमें से अधिकांश सूती वस्त्रोद्योग में संलग्न थे। आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका और न्यूजीलैण्ड ब्रिटिश सूत एवं सूती-वस्त्र के प्रमुख ग्राहक हैं। 1984 में ब्रिटेन के 35·6 करोड़ पौंड मूल्य के सूत एवं सूती-वस्त्र का निर्यात किया। विगत कुछ वर्षों से उद्योग में कृत्रिम रेशों का प्रयोग बहुत

बढ़ गया है। आजकल ब्रिटेन की 47 प्रतिशत सूती मिलें विशुद्ध रूप से सूती धागे एवं सूती वस्त्र का उत्पादन कर रही हैं; 41 प्रतिशत मिलें मिश्रित धागों और मिश्रित वस्त्रों का उत्पादन कर रही हैं तथा शेष 12 प्रतिशत मिलें पूर्णतः कृत्रिम रेशों के वस्त्र बनाने में संलग्न हैं। सूती वस्त्रोद्योग में यन्त्रों के आधुनिकीकरण हेतु सरकार और उद्योगपति दोनों ही प्रयत्नशील हैं। उद्योग से सम्बन्धित अनुसधानों को प्रोत्साहन देने के लिये 'सूत, रेशम एवं कृत्रिम रेशा अनुसन्धान संघ' की स्थापना की गई। 'ब्रिटिश सूती वस्त्रोद्योग अनुसंधान संघ' तथा 'ब्रिटिश शाही अनुसन्धान संघ' को मिलाकर एक नई संस्था का निर्माण किया गया है, ताकि अनुसन्धान-कार्य तेजी से आगे बढ़ सके।

उद्योग की समस्याएं

इस समय ब्रिटेन के सूती वस्त्रोद्योग की प्रमुख समस्याएं निम्नलिखित हैं—

(1) **निर्यात बढ़ाने की समस्या**— ब्रिटेन का सूती वस्त्रोद्योग प्रधानतः निर्यात पर आधारित है। परन्तु आजकल इस उद्योग को विदेशी बाजारों में कड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा था। पहले भारत, चीन, मिस्र और अफ्रीकी देश ब्रिटिश सूती वस्त्र के प्रमुख बाजार थे, किन्तु आजकल इन सभी देशों में सूती वस्त्रोउद्योग का विकास हो रहा है। एशियाई बाजार पर जापान ने अपना आधिपत्य जमा लिया है तथा यूरोपीय बाजार में ब्रिटेन को फ्रांसीसी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। इस स्थिति में ब्रिटिश उद्योग के लिये अपना निर्यात बढ़ाना कठिन हो गया है।

(2) **सन्यन्त्रों के आधुनिकीकरण की समस्या** -ब्रिटेन में सूती वस्त्र के अधिकांश सन्यन्त्र अत्यन्त पुराने हैं। इनमें यन्त्रों का आधुनिनीकरण आवश्यक है, अन्यथा यह उद्योग विदेशी प्रतियोगिता का सफलतापूर्वक सामना नहीं कर सकेगा। इसके अतिरिक्त, सूती वस्त्र के अधिकांश सन्यन्त्रों में आधिक्य क्षमता की समस्या भी विद्यमान है, जिसके कारण वस्त्र की उत्पादन-लागत अधिक बैठती है।

(3) **संयोजन आन्दोलन के उचित विकास की समस्या**—ब्रिटेन में सूती वस्त्रोद्योग पहले क्षैतिज आधार पर संगठित हुआ था, जिसके कारण उद्योग को विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अतः कालान्तर में उद्योग को उदग्र आधार पर संगठित करने की मांग होने लगी। आजकल उद्योग के एकीकरण (सयोजन) हेतु विशेष प्रयास किया जा रहा है।

(4) **उत्पादन-व्यय घटाने की समस्या**—सूती मिलों में आधिक्य क्षमता की उपस्थिति, मजदूरी का ऊँचा स्तर, प्राचीन तरीके के यन्त्रों का प्रयोग, आदि, कारणों से ब्रिटेन में सूती-वस्त्र की निर्माण-लागत अधिक आती हैं। फलतः विदेशी बाजारों में यह महंगा पड़ता है। सूती वस्त्र की उत्पादन-लागत घटाने की विशेष आवश्यकता है।

प्रश्न ३—सन् 1900 से ब्रिटिश लोहा एवं इस्पात उद्योग के विकास की

व्याख्या कीजिए। वे कौन सी परिस्थितियाँ थीं, जिन्होंने द्वितीय महायुद्ध के बाद इस उद्योग का राष्ट्रीयकरण कराया ?

Discuss the growth of British iron and steel industry since 1900. What were the circumstances which led to the nationalisation of this industry after second world war ?

उत्तर—लोहा एवं इस्पात को समस्त उद्योगों की कुंजी माना जाता है। वस्तुतः ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति सफल नहीं हुई होती, यदि इसे आधार प्रदान करने के लिए वहा लोहा एव इस्पात उद्योग का विकास नहीं होता। लोहा एवं इस्पात उद्योग के आधार पर ही ब्रिटेन में दूसरे उद्योगों का तेजी से विकास तथा परिवहन क्रान्ति सम्भव हो सकी।

उद्योग का प्रारम्भिक विकास—कोयला द्वारा लोहा लगाने की क्रिया में ब्रिटेन-निवासी 17वीं शताब्दी से ही प्रयत्नशील रहे। इसके अतिरिक्त, ब्रिटेन में ही वे समस्त आविष्कार हुए, जिनके बल पर 1' वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यहाँ इस्पात-निर्माण का अत्यधिक विस्तार हुआ। 18वीं शताब्दी के मध्य तक ब्रिटेन में लोहा गलाने के लिए लकड़ी का कोयला प्रयुक्त होता था। फलतः लोहा उद्योग मुख्यतः वनों के आस-पास स्थित था। लोहे का वार्षिक उत्पादन 18 हजार टन से भी कम था। ब्रिटेन को स्वीडन, रूस, अमेरिकी उपनिवेशों तथा दूसरे स्थानों से लोहे का आयात करना पड़ता था। इसी समय अब्राहम डर्बी ने कोकिंग कोयले के आविष्कार द्वारा लोहा गलाने की प्रक्रिया में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। लोहा गलाने में कोयले का प्रयोग आरम्भ होने से लोहा उद्योग की स्थापना वन-क्षेत्र से हटकर कोयला खानों के समीप होने लगी। 1760, 1784 और 1790 में लोहा एवं इस्पात उद्योग में तकनीकी विकास हुए। 1828 में नेलसन (Neilson) ने गर्म धमनभट्टी का आविष्कार किया, जिससे लोहा गलाने की प्रक्रिया तीव्र हो गई तथा ईंधन की बचत होने लगी।

ब्रिटेन के लोहा एवं इस्पात उद्योग को स्वीडन और रूस से आयातित लोहे पर लगाए गए सीमा-शुल्कों से विशेष सहायता मिली, क्योंकि ये शुल्क लगभग निषेधात्मक प्रकृति के थे। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जब इस उद्योग ने पर्याप्त प्रगति कर ली, तब ब्रिटिश सरकार ने आयात-शुल्क घटा दिए। रेलों, जलयानों और मशीनों के निर्माण हेतु लोहे और इस्पात की माँग में भारी वृद्धि हुई, जिससे लोहा एवं इस्पात उद्योग का तेजी से विकास होने लगा। 1870 में ग्रेट ब्रिटेन लोहे एवं इस्पात का उत्पादन तथा निर्यात करने वाला विश्व का शिरोमणि देश था। जर्मनी, फ्रांस और अमेरिका में ब्रिटेन के लोहे एवं इस्पात की भारी मांग थी। ब्रिटिश लोहा एवं इस्पात उद्योग की यह स्थिति 1890 तक बनी रही। तदुपरान्त लोहे एवं इस्पात के उत्पादन में ब्रिटेन की सर्वोच्चता समाप्त हो गई।

वर्तमान शताब्दी में उद्योग का विकास—20वीं शताब्दी के आरम्भ से ही ब्रिटेन के लोहा एवं इस्पात उद्योग में ह्रास की स्थिति उत्पन्न हो गई। लोहे और इस्पात के उत्पादन में अमेरिका और जर्मनी में ब्रिटेन को पिछाड़ दिया। 1913 में ब्रिटेन की अपेक्षा अमेरिका का इस्पात-उत्पादन चार गुना तथा जर्मनी का इस्पात-उत्पादन तीन गुना अधिक था। प्रथम महायुद्ध काल में अस्त्र-शस्त्र के निर्माण हेतु लोहे एवं इस्पात की मांग बढ़ जाने के कारण ब्रिटेन में इनका उत्पादन भी बढ़ा अर्थात् इस्पात का वार्षिक उत्पादन 80 लाख टन से बढ़कर 102 लाख हो गया। परन्तु युद्ध की समाप्ति पर उद्योग में पुनः ह्रास की स्थिति उत्पन्न हो गई। जर्मनी ने राशि पातन की नीति द्वारा ब्रिटेन के इस्पात उद्योग को गहरा आघात पहुंचाया। 1927 में फ्रांस, जर्मनी, लक्जेमबर्ग और बेल्जियम ने मिलकर 'अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल' की स्थापना की। फलतः ब्रिटेन से लोहे एवं इस्पात का निर्यात बहुत घट गया। अनुमान है कि वर्तमान शताब्दी के प्रथम तीस वर्षों में जहाँ जर्मनी के इस्पात-उत्पादन में 8 गुनी तथा अमेरिका के इस्पात-उत्पादन में 10 गुनी वृद्धि हुई वहीं ब्रिटेन के इस्पात-उत्पादन में केवल 2·5 गुनी वृद्धि हो पाई।

'तीसा' की महामन्दी का ब्रिटिश इस्पात उद्योग पर अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। बहुत-से कारखाने बन्द हो गए। 1924-30 के बीच इस्पात उद्योग में बेरोजगारी का अनुपात 20 प्रतिशत था, जो 1931 और 1932 में बढ़कर 40 प्रतिशत हो गया। तदुपरान्त यह घटने लगा तथा 1937 में केवल 10 प्रतिशत रह गया। द्वितीय महायुद्ध काल में लोहे और इस्पात की माँग बढ़ जाने से उद्योग की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। श्रम की न्यूनता पाटने के लिए उद्योग में नए-नए यन्त्रों का प्रयोग बढ़ाया गया। 1946 में इस्पात का उत्पादन 127·5 लाख टन था।

इस्पात उद्योग का राष्ट्रीयकरण—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार बनी, जो लोहा एवं इस्पात उद्योग के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में थी। 1949 में सरकार ने 'लोहा एव इस्पात अधिनियम' पारित कराया, जिसके अनुसार फरवरी 1952 तक इस उद्योग का अधिकांश भाग सरकारी स्वामित्व में ले लिया गया। उद्योग के प्रबन्ध हेतु एक स्वायत्तशासी निगम स्थापित किया गया। 1953 में ग्रेट ब्रिटेन में पुनः अनुदार दल की सरकार बनी, जिसने लोहा इस्पात उद्योग का अराष्ट्रीयकरण (Dinationalisation) कर दिया। उद्योग को निजी व्यवसाइयों के सुपुर्द करने के लिये 'लोहा एवं इस्पात सघारण एवं वसूली अभिकरण' (Iron and Steel Holding and Realisation Agency) की स्थापना की गई। उद्योग देखभाल के लिये 'लोहा एवं इस्पात बोर्ड' का गठन किया। 1964 तक केवल एक कम्पनी को छोड़कर, लोहे एवं इस्पात की सभी कम्पनियाँ निजी स्वमित्व में आ गयीं।

ब्रिटेन की लेबर पार्टी अराष्ट्रीयकरण की नीति के विरुद्ध थी। अत: पुन: सत्तारूढ़ होने पर उसने 1967 में इस्पात की 13 बड़ी-बड़ी कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया सरकार ने लोहा एवं इस्पात बोर्ड भंग कर दिया तथा सरकारी कम्पनियों के प्रबन्ध हेतु 'ब्रिटिश इस्पात निगम' की स्थापना की। इस तरह, ब्रिटेन में इस्पात-उत्पादन का 90 प्रतिशत भाग तथा इस्पात-उद्योग में सम्मिलित श्रमिकों का 70 प्रतिशत भाग सरकारी क्षेत्र में सम्मिलित हो गया। इस समय ब्रिटेन में छोटी-छोटी 200 इस्पात कम्पनियां निजी क्षेत्र के अन्तर्गत हैं, किन्तु उनका उत्पादन कुल राष्ट्रीय इस्पात उत्पादन का 10 प्रतिशत से अधिक नहीं है। **ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार ने इस्पात उद्योग का राष्ट्रीयकरण तीन मुख्य कारणों से किया—** (i) आर्थिक विकास की दर त्वरित करने तथा देश के विभिन्न भागों में आर्थिक प्रगति का समान वितरण सम्भव बनाने में सरकार ने लोहा एवं इस्पात उद्योग की महत्वपूर्ण स्थिति (भूमिका) स्वीकार की। (ii) सरकार की राय में लोहा एवं इस्पात उद्योग के विकास हेतु बहुत अधिक मात्रा में पूंजी का निवेश आवश्यक था। निजी क्षेत्र द्वारा इतनी अधिक पूंजी तब तक उपलब्ध नहीं कराई जा सकती थी, जब तक कि इस्पात के मूल्य बहुत ऊँचे निर्धारित न किये जायें। परन्तु निर्यात-वृद्धि एवं जनहित के विचार से इस्पात के ऊँचे मूल्यों का निर्धारण ठीक नहीं था। (iii) सरकार की राय थी कि अत्यधिक पूँजी-गहन होने के कारण लोहे और इस्पात उद्योग में एकाधिकारी प्रवृत्ति शीघ्रता से पनपती है। माँग और पूर्ति के बीच असन्तुलन उत्पन्न करके एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ व्यावसायिक चक्रों को बढ़ावा देती हैं। इस प्रवृत्ति को रोकने तथा जनहित में उचित मूल्य-नीति का अनुसरण करने के लिए सरकार ने उद्योग का राष्ट्रीयकरण आवश्यक ठहराया।

राष्ट्रीयकरण की योजना से ब्रिटेन के लोहा एवं इस्पात उद्योग को निश्चित लाभ हुआ है। इससे केन्द्रीय स्तर पर उत्पादन एवं बिक्री की कुशल व्यवस्था हुई है। उद्योग की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति बढ़ी है। कच्चे माल की व्यवस्था तथा अनुसन्धान के स्तर में सुधार आया है, जिससे अन्ततोगत्वा श्रमिकों को लाभ पहुँचा है। 1984 में ब्रिटेन ने 26 लाख टन तैयार इस्पात का उत्पादन किया, जबकि इस्पात उद्योग की कुल क्षमता 175 लाख टन थी। इस वर्ष ब्रिटेन ने 178 करोड़ पौण्ड मूल्य का 40 लाख टन तैयार इस्पात विदेशों को निर्यात किया। संसार के कोयला और इस्पात उत्पादक देशों में इस समय ग्रेट ब्रिटेन का पाँचवां स्थान है।

5

ब्रिटेन में व्यापारिक क्रान्ति
(Commercial Revolution in Britain)

प्रश्न 1—ब्रिटिश व्यापारिक क्रान्ति के प्रमुख कारणों का परीक्षण कीजिए तथा 19वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में ग्रेट ब्रिटेन पर इसके प्रभावों की व्याख्या कीजिये।

Examine the main causes of commercial revolution and discuss its effects on Great Britain during the second half of 19th century.

उत्तर—मध्य-युग तक ब्रिटेन में व्यापार का आकार एवं क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। देश के एक भाग से दूसरे भाग तक व्यापार बहुत कम होता था। विदेशी व्यापार गिनी-चुनी वस्तुओं और गिने-चुने देशों तक सीमित था। पूर्वी देशों के साथ व्यापार स्थल मार्ग द्वारा होता था और कुस्तुन्तुनिया इसका प्रधान केन्द्र था। 1453 में कुस्तुन्तुनिया पर तुर्कों का अधिकार हो जाने के कारण पूर्वी देशों के साथ व्यापार में बाधा उत्पन्न हो गई। अतः यूरोपीय देशों ने समुद्री मार्ग खोजने का प्रयास किया। 1492 में कोलम्बस ने अमेरिका तथा 1498 में वास्कोडिगामा ने भारत के समुद्री मार्ग का पता लगाया।

इन भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्र में चार महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जो निम्नलिखित थे—

(1) **नए व्यापारिक क्षेत्रों का आविर्भाव**—नए व्यापारिक मार्गों की खोज ने अमेरिका, पूर्वी द्वीपसमूह, एशियाई तथा अफ्रीकी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों की स्थापना में सहयोग दिया। 15वीं और 16वीं शताब्दी की भौगोलिक खोजों से अनेक नए प्रदेशों का पता चला था।

(2) **व्यापारिक कम्पनियों की स्थापना**—एकाकी व्यवसाय और साझेदारी संगठन सरीखी छोटी संस्थाओं के लिए दूरस्थ प्रदेशों के साथ व्यापार करना तथा बढ़ते हुए विदेशी व्यापार की वित्त-व्यवस्था करना सम्भव नहीं था। अतः बड़ी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियाँ स्थापित हुईं, जैसे—ईस्ट इण्डिया कम्पनी, रॉयल अफ्रीकन कम्पनी, साउथ सी (Sea) बबल कम्पनी तथा हडसन बे (Bay) कम्पनी। इन कम्पनियों को सरकार से विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन मिले।

(3) **वित्तीय संस्थाओं का विकास**— बड़े पैमाने पर व्यापार करने के लिए अधिक मात्रा में पूंजी की आवश्यकता पड़ी। इसकी पूर्ति के लिए वित्तीय संस्थाओं की स्थापना हुई 1690 में स्थापित 'बैंक ऑफ इंगलैंड' ने आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का विकास प्रोत्साहित किया।

(2) **राष्ट्रीय व्यापारिक नीति का विकास**—भौगोलिक खोजों के फलस्वरूप यूरोपीय देशों ने उपनिवेशों की स्थापना की। फलतः इनकी अर्थव्यवस्थाओं में स्थानीय व्यापारिक नीति के स्थान पर राष्ट्रीय व्यापारिक नीति विकसित हुई।

ब्रिटेन में व्यापारिक क्रान्ति का आविर्भाव—**15वीं** और 16वीं शताब्दी में उपस्थित व्यापारिक परिवर्तनों में ब्रिटेन का स्थान सर्वोपरि था। स्पेन और पुर्तगाल के साहसिक कार्यों (समुद्री मार्गों की खोज) से प्रेरणा पाकर ब्रिटेन-निवासियों ने भी समुद्री यात्राएँ आरम्भ कीं। इस कार्य में उन्हें स्पेन और पुर्तगाल से टक्कर लेनी पड़ी, जिसके पीछे सामुद्रिक प्रभुत्व की भावनाएं विद्यमान थीं। 1582 में स्पेन को पराजित करने बाद ब्रिटेन का समुद्री मार्गों पर प्रभुत्व बढ़ गया। वह स्वच्छन्दता-पूर्वक दूसरे देशों के साथ व्यापार करने लगा। कुतुबनुमा और दूसरे सामुद्रिक यन्त्रों के आविष्कार से जल-परिवहन की कठिनाइयाँ पर्याप्त घट गई थीं। **16वीं** शताब्दी में नौ-परिवहन के क्षेत्र में ब्रिटेन ने पर्याप्त प्रगति कर ली है। रानी एलिजाबेथ के शासनकाल में (जिसे ब्रिटिश इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है) ब्रिटेन की व्यापारिक क्रान्ति को विशेष प्रोत्साहन मिला। बड़ी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियों की स्थापना हुई, जिन्होंने विदेशी व्यापार द्वारा अल्पकाल में ही ब्रिटेन को सम्पन्न बना दिया। 1689 की 'गौरवपूर्ण क्रान्ति' (Glorious Revolution) के बाद ब्रिटेन में आधुनिक बैंकिंग एवं साख-प्रणाली का विकास हुआ। इससे ब्रिटिश विदेशी व्यापार की उन्नति में अपूर्व सहायता मिली।

18वीं शताब्दी के अन्त तथा 19वीं शताब्दी के आरम्भ में हुई परिवहन-क्रान्ति से ब्रिटेन की व्यापारिक क्रान्ति को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। इस अवधि में पक्की सड़कों का निर्माण आरम्भ हुआ। नदियों को नौका चालन योग्य बनाया गया। नौका चालन योग्य नहरों का निर्माण हुआ। परिवहन के क्षेत्र में वाष्पशक्ति का प्रयोग आरम्भ हुआ। रेलों और वाष्प जलयानों (Steam Ships) के विकास ने ब्रिटेन की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को 'विश्व अर्थव्यवस्था' में बदल दिया। यान्त्रिक परिवहन ने वस्तुओं और मनुष्यों को नई गतिशीलता प्रदान की। व्यापारिक क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटेन का विदेशी व्यापार बढ़ते-बढ़ते 19वीं शताब्दी के अन्त में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया।

व्यापारिक क्रान्ति के कारण

ब्रिटेन में व्यापारिक क्रान्ति का आविर्भाव निम्न कारणों से हुआ—

(1) **आदर्श भौगोलिक स्थिति**—ब्रिटेन की भौगोलिक स्थिति विदेशी व्यापार के लिये विशेष रूप से अनुकूल थी। संसार का कोई भी हिस्सा ब्रिटिश जलयानों की

पहुँच से बाहर नहीं था। उसके समुद्री-तट पर प्राकृतिक बन्दरगाह थे। नौका चालन योग्य नदियों के रूप में अन्तर्देशीय परिवहन के उत्तम साधन थे। समुद्री-परिवहन के क्षेत्र में उसे सर्वोच्चता प्राप्त थी। समुद्री मार्गों पर उसका प्रभुत्व कायम था।

(2) **विशाल साम्राज्य**— ब्रिटेन का औपनिवेशिक साम्राज्य विशाल था। उपनिवेश ब्रिटिश उद्योगों के लिये कच्चे-माल के महत्वपूर्ण स्रोत तथा निर्मित माल के लिए विस्तृत बाजार का कार्य करते थे।

(3) **सुविकसित साख एवं बैंकिंग प्रणाली**—ब्रिटिश व्यापार एवं व्यवसाय को प्रोत्साहित करने में उसकी सुविकसित साख, बैंकिंग और बीमा प्रणाली ने विशेष सहयोग प्रदान किया था।

(4) **विकसित उद्योग**—ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति सबसे पहले हुई थी। अतः वह बड़े पैमाने पर विनिर्मित माल का निर्यात करने की स्थिति में था। ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति ने उसकी व्यापारिक क्रान्ति के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

(5) **स्वतन्त्र व्यापार की नीति**—आर्थिक क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार की अबन्धवादी नीति ब्रिटेन के व्यापार-विस्तार में विशेष सहायक बनी। स्वतन्त्र व्यापारिक नीति का ब्रिटेन के विदेशी व्यापार पर प्रभाव का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 1846 में अनाज अधिनियम रद्द हो जाने के पश्चात् पाँच वर्षों की अल्पावधि में ही ब्रिटिश निर्यात-व्यापार का मूल्य 500 लाख पौण्ड से बढ़कर 1000 लाख पौण्ड (दुगुना) हो गया था।

व्यापारिक क्रान्ति के आर्थिक प्रभाव

ब्रिटिश व्यापारिक क्रान्ति के निम्न आर्थिक प्रभाव (परिणाम) प्रकट हुए—

(1) **रेलों का द्रुत विकास**—व्यापारिक क्रान्ति ने ब्रिटेन में रेलों का द्रुत विकास प्रोत्साहित किया। 1824 में स्टीफेन्सन (Stephenson) ने वाष्प-चालित रेलवे इन्जिन का आविष्कार किया। तदुपरान्त रेलों का तेजी से विकास आरम्भ हुआ। रेलों के विकास ने ब्रिटेन में औद्योगिक एवं व्यापारिक विस्तार सम्भव बनाया।

(2) **जहाजरानी का विकास**—व्यापारिक क्रान्ति से ब्रिटेन में जहाजरानी के विकास को प्रोत्साहन मिला। लोहे और कोयले की प्रचुरता ने यहाँ बड़े-बड़े समुद्री जहाजों का निर्माण सम्भव बनाया। प्रथम महायुद्ध के समय तक ब्रिटेन के पास सम्पूर्ण संसार के दो-तिहाई जहाज हो गए।

(3) **नए व्यापारिक केन्द्रों का आविर्भाव**—अपनी सामुद्रिक शक्ति के आधार पर ब्रिटेन कई नए प्रदेश खोजने तथा उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हुआ। इससे ब्रिटेन के औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास को प्रोत्साहन मिला।

(4) **विशाल ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना**—व्यापारिक क्रान्ति ने ग्रेट ब्रिटेन को औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना के लिये प्रेरित किया। धीरे-धीरे उसके

साम्राज्य में अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया और एशिया महाद्वीपों के अधिकतर भाग सम्मिलित हो गए ।

(5) **व्यापारिक वस्तुओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन**—15वीं और 16वीं शताब्दी में दालें और मसाले व्यापारिक महत्व की वस्तुएँ थीं । 17वीं शताब्दी में तम्बाकू, चाय, कहवा और चीनी भी व्यापारिक महत्व की वस्तुएँ बन गईं । 18वीं और और 19वीं शताब्दी में यान्त्रिक परिवहन विकास के कारण भारी और शीघ्रनाशवान वस्तुएँ (लोहा, कोयला, कपास, माँस-मछली, फल, दूध और अण्डे) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख अंग बन गईं ।

(6) **व्यावसायिक संगठन में परिवर्तन**—व्यापारिक क्रान्ति के कारण संसार के अनेक देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए । अतः विदेशी व्यापार हेतु एकाकी एवं साझेदारी संगठनों के स्थान पर बड़ी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियाँ स्थापित हुईं ।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का उदय**—व्यापारिक क्रान्ति ने स्थानीय एवं राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में बदल दिया । समूचा विश्व एक 'वृहद् बाजार' बन गया तथा वस्तुओं के मूल्य पर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का प्रभाव पड़ने लगा ।

(8) **विपणन पद्धति में परिवर्तन**—व्यापारिक क्रान्ति के फलस्वरूप वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाप निर्धारित हुए । वस्तुओं का विपणन नमूने की बजाय विवरण (Description) के आधार पर होने लगा । व्यापारिक नैतिकता के नियम निश्चित हुए । प्राचीन मेलों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक प्रदर्शनियाँ अयोजित की जाने लगीं । व्यापार में विज्ञापन का महत्व बढ़ गया ।

(9) **व्यापारिक विशिष्टीकरण**—व्यापारिक क्रान्ति के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों का आकार बढ़ जाने से औद्योगिक एवं व्यापारिक कार्य अलग-अलग हो गए । व्यापारिक कार्य भी दो भागों में बँट गया—थोक व्यापार और फुटकर व्यापार । व्यापारिक क्षेत्र में मध्यस्थों की लम्बी शृंखला का आविर्भाव हुआ ।

(10) **व्यावसायिक एकीकरण**—चूंकि वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा बढ़ गई थी, इसलिए बाजार में टिके रहने के लिये बड़े पैमाने की बचतें प्राप्त करना आवश्यक समझा गया । इसके लिए व्यावसायिक एकीकरण का जन्म हुआ । विक्रय के उद्देश्य से ट्रस्ट, पूल, कार्टेल, सिण्डीकेट आदि का निर्माण हुआ । इसके व्यापार में अत्यधिक प्रगति हुई ।

(11) **साख और बैंकिंग प्रणाली का विकास**—व्यापारिक क्रान्ति ने साख और बैंकिंग प्रणाली का विकास प्रोत्साहित किया । 'बैंक ऑफ इंगलैंड' के नेतृत्व में सुदृढ़ बैंकिंग प्रणाली विकसित हुई । समुद्री दुर्घटनाओं के विरुद्ध बीमा प्रणाली का विकास हुआ । लन्दन का मुद्रा-बाजार विदेशी प्रतिभूतियों तथा विनिमय-विपत्रों के

क्रय -विक्रय का केन्द्र बन गया। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के निपटारे में ब्रिटिश मुद्रा महत्वपूर्ण साधन बन गई।

व्यापारिक क्रान्ति के सामाजिक प्रभाव

ब्रिटिश व्यापारिक क्रान्ति के निम्न सामाजिक प्रभाव (परिणाम) उपस्थित हुए—

(1) मानव-गतिशीलता में वृद्धि—व्यापारिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप रेलवे और जहाजरानी के विकास ने मानव-गतिशीलता में भारी वृद्धि कर दी। गतिशीलता की वृद्धि ने 'सामाजिक क्रान्ति' का सूत्रपात्र किया, जो किसी भी अर्थ में राजनीतिक, वाणिज्यिक एवं वित्तीय परिवर्तनों से कम महत्वपूर्ण नहीं थी।

मानव-गतिशीलता में वृद्धि के प्रमुख परिणाम इस प्रकार थे—

(i) समाज में 'स्वावलम्बन' के स्थान पर 'परस्पर-निर्भरता' की भावना विकसित हुई। (ii) उत्पादन के क्षेत्र में विशिष्टीकरण बढ़ गया। फलतः उत्पादक-क्षमता बढ़ी तथा बड़े पैमाने पर सस्ती वस्तुओं का उत्पादन सम्भव हुआ। (iii) संसार के एक कौने से दूसरे कौने तक माल के आवागमन के कारण व्यक्तियों का रहन-सहन का स्तर सुधरा तथा अकाल की सम्भावना समाप्त हो गई। (iv) नए-नए व्यापारिक केन्द्रों का आविर्भाव हुआ तथा शहरी जनसंख्या में वृद्धि हुई। सन् 1800 में ब्रिटेन की 21·3 प्रतिशत जनसख्या शहरी थी, जो 1891 में बढ़कर 61·7 प्रतिशत हो गई। (v) विभिन्न देशों के बीच आवास-प्रवास को प्रोत्साहन मिला, जिससे सभ्यता का आदान-प्रदान हुआ तथा सकुचित भावनाएँ लुप्त हो गईं। (vi) संयुक्त परिवार प्रथा समाप्त हो गई तथा व्यक्तिवादी भावना का विस्तार हुआ।

(2) श्रमिकों के नए वर्ग का उदय—परिवहन-साधनों के विकास ने समाज में श्रमिकों के नए वर्ग (ड्राइवर, फायरमैन, क्लीनर, गार्ड, स्टेशन मास्टर, वर्कशॉप आपरेटर, मेकैनिक आदि) को जन्म दिया। व्यापारिक क्रान्ति ने समाज में व्यापारी वर्ग (बैंकर, आढ़तिया, दलाल, सेल्समैन, फुटकर दुकानदार आदि) विकसित किया।

(3) उपभोग-स्तर में सुधार—व्यापारिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो वस्तुएँ 1850 तक केवल धनी व्यक्तियों के लिये उपलब्ध थीं, 1900 तक सर्व साधारण के दैनिक उपभोग में सम्मिलित हो गईं। चाय, कहवा, चीनी, चावल और फल इसी प्रकार की वस्तुएँ थीं। फलतः सर्वसाधारण का उपभोग-स्तर सुधर गया।

(4) गृह-व्यवस्था में परिवर्तन— पहले बिस्कुट, रोटी, दूध, घी, मक्खन, डिब्बा-बन्द गोश्त आदि वस्तुएँ घर पर तैयार की जाती थीं। वितरणात्मक सुविधा के कारण अब ये वस्तुएँ बाजार से प्राप्त की जाने लगीं।

(5) राजकीय नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप में वृद्धि—व्यापारिक क्रान्ति से उत्पन्न आवास-प्रवास, प्रवास, बाजार, मुद्रा एवं साख तथा विदेशी विनिमय की समस्याओं से निपटने के लिए आर्थिक क्षेत्र में राजकीय नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप आवश्यक हो गया। अतः सरकारी नियन्त्रण और हस्तक्षेप में वृद्धि हुई।

प्रश्न 2—19वीं शताब्दी के दौरान और 20वीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटिश विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताएँ समझाइये। ब्रिटिश विदेशी व्यापार की वर्तमान स्थिति क्या है ?

Explain the main features of British foreign trade during 19th century and in early 20th century. What is the present position of British foreign trade ?

उत्तर—ग्रेट ब्रिटेन का विदेशी व्यापार, जो 17वीं और 18वीं शताब्दी से ही बढ़ रहा था; औद्योगिक, व्यापारिक एवं परिवहन क्रान्तियों के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी के अन्त तक बढ़कर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। ब्रिटिश विदेशी व्यापार में असाधारण वृद्धि के लिए कई घटक उत्तरदायी थे, जैसे—ब्रिटेन का विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य, सरकार की स्वतन्त्र-व्यापार नीति, सुविकसित बैंकिंग प्रणाली, यान्त्रिक परिवहन तथा विशाल स्तरीय उद्योगों का विकास। 1802 में ब्रिटिश विदेशी व्यापार का मूल्य केवल 720 लाख पौण्ड था, जिसमें 310 लाख पौण्ड के आयात तथा 410 लाख पौण्ड के निर्यात सम्मिलित थे। 1913 में ब्रिटिश विदेशी व्यापार का मूल्य बढ़कर 13,130 लाख पौण्ड (आयात-मूल्य 7,890 लाख पौण्ड और निर्यात-मूल्य 5,250 लाख पौण्ड) हो गया। निम्न तालिका 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश विदेशी व्यापार की प्रगति दर्शाती है—

(मूल्य लाख पौण्ड में)

अवधि	औसत आयात	औसत निर्यात	औसत पुनर्नियात
1855-59	1,460	1,160	230
1860-64	1,930	1,380	420
1865-69	2,379	1,810	490
1870-74	2,910	2,350	540
1875-79	3,200	2,020	550
1880-84	3,440	2,340	640
1885-89	3,180	2,660	610
1890-94	3,570	2,310	620
1895-99	3,930	2,380	600
1900	4,600	2,830	640

ब्रिटिश विदेशी व्यापार की विशेषताएँ

19वीं शताब्दी के दौरान और 20वीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटिश विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—

(1) विदेशी व्यापार के आकार में वृद्धि—इस अवधि में ब्रिटिश विदेशी व्यापार का आकार (मात्रा एवं मूल्य) निरन्तर बढ़ता रहा। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध

में वृद्धि की गति धीमी थी, किन्तु उत्तरार्द्ध में यह तीव्र हो गई। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी (प्रथम महायुद्ध तक) ब्रिटेन का विदेशी व्यापार बढ़ता रहा, यद्यपि इस समय तक दूसरे औद्योगिक देश उसके प्रतिद्वन्दी हो गए थे। विदेशी व्यापार में वृद्धि का श्रेय बीमा, बैंकिंग एवं साख-व्यवस्था की उन्नति परिवहन सुविधाओं (विशेषकर जहाजरानी) के विस्तार तथा औद्योगिक क्रान्ति को जाता है।

(2) **विदेशी व्यापार की बनावट में परिवर्तन**—औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप ब्रिटिश विदेशी व्यापार की रचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुआ। विनिर्मित वस्तुओं (वस्त्र, मशीनरी, रसायन, इस्पात तथा इंजीनियरिंग का सामान) का अधिकाधिक निर्यात होने लगा। आयातों में विलास-वस्तुओं की बजाय औद्योगिक कच्चे-पदार्थ और खाद्यान्न सम्मिलित हो गए। कृषि-क्रान्ति के फलस्वरूप खाद्यान्नों का आयात भी पहले से घट गया।

(3) **निर्यातों की अपेक्षा आयातों की अधिकता**—इस अवधि में ब्रिटेन के दृश्य निर्यातों की अपेक्षा दृश्य आयातों की अधिकता बनी रही, जिसका प्रमुख कारण घरेलू बाजार की आवश्यकता-पूर्ति था। सरकार की स्वतन्त्र व्यापार-नीति भी आयातों की वृद्धि में सहायक बनी। परन्तु अदृश्य निर्यातों की मदों से ब्रिटेन को मिलने वाली आय बहुत अधिक थी। उसकी जहाजरानी से प्राप्त आय ही संसार भर में जहाजरानी से मिलने वाली कुल आय की 50 प्रतिशत थी।

19वीं शताब्दी के अन्त तक व्यापारिक क्षेत्र में ब्रिटेन की सर्वोच्चता बनी रही। 20वीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटेन का निर्यात समूचे विश्व के निर्यात का 13 प्रतिशत तथा ब्रिटेन का आयात समूचे विश्व के आयात का 15 प्रतिशत था। प्रथम महायुद्ध के बाद ब्रिटेन की व्यापारिक स्थिति बदलने लगी; क्योंकि इस समय तक संसार के कई देशों में आर्थिक प्रगति हो चुकी थी। 1914 तक औद्योगिक माल के कुल अन्तर्राष्ट्रीय निर्यात में ग्रेट ब्रिटेन का हिस्सा 30 प्रतिशत था, जो घटकर 1929 तक 24 प्रतिशत और 193 तक 22 प्रतिशत रह गया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इसमें और भी गिरावट आई। 1969 में यह 12 प्रतिशत तथा 1980 में केवल 6 प्रतिशत रह गया।

ब्रिटिश विदेशी व्यापार की वर्तमान स्थिति—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में ब्रिटेन की स्थिति आज भी महत्वपूर्ण है। विनिर्मित माल के निर्यात में इसका चौथा स्थान है। प्रथम महायुद्ध तक ब्रिटेन का दो-तिहाई विदेशी व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों के साथ होता था। वर्तमान समय में राष्ट्रमण्डलीय देशों के साथ ब्रिटेन का विदेशी व्यापार केवल एक-तिहाई रह गया है। आजकल ब्रिटिश निर्यातों का 85 प्रतिशत भाग विनिर्मित वस्तुओं (इन्जीनियरिंग का सामान, मोटरगाड़ियाँ, धातुएँ, वस्त्र, रासायनिक पदार्थ, पैट्रोलियम तथा विद्युत-सम्बन्धी मशीनें) से सम्बन्धित होता है। आयात व्यापार में 37% हिस्सा खाद्य एवं पेय पदार्थों (चाय, तम्बाकू, खाद्यान्न, मक्खन, पनीर, आदि) का, 16 प्रतिशत हिस्सा औद्योगिक कच्चे पदार्थों (ऊन, कपास आदि) का, 25 प्रतिशत हिस्सा अर्द्ध-निर्मित माल का, 20 प्रतिशत हिस्सा

निर्मित माल का तथा शेष 2 प्रतिशत हिस्सा धातुओं और ईंधन का रहता है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश विदेशी व्यापार का आकार निरन्तर बढ़ा है, जो अंशत: आयात-निर्यात की मात्रा में वृद्धि का तथा अंशत: आयात-निर्यात वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि का परिणाम है। 1950 में ब्रिटेन के निर्यात-व्यापार का मूल्य 267 करोड़ पौण्ड था, जो 1960 में बढ़कर 355 करोड़ पौण्ड और 1970 में 800 करोड़ पौण्ड हो गया। दूसरी ओर, ब्रिटेन के आयात-व्यापार का मूल्य 1950 में 389 करोड़ पौण्ड से बढ़कर 1970 में 900 करोड़ पौण्ड हो गया। 1984 में ब्रिटेन का निर्यात-व्यापार 5,284 करोड़ पौण्ड तथा आयात-व्यापार 4,715 करोड़ पौण्ड मूल्य का था। इस वर्ष ब्रिटेन का 75 प्रतिशत निर्यात व्यापार तथा 65 प्रतिशत आयात-व्यापार विकसित देशों के साथ हुआ।

6

ब्रिटेन की औद्योगिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता

(Industrial and Commercial Supremacy of Britain)

प्रश्न 1—19वीं शताब्दी में इंगलैण्ड की औद्योगिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता के लिए कौन से घटक उत्तरदायी थे ?

What were the factors responsible for industrial and commercial supermacy of England during 19th Century ?

उत्तर—विश्व इतिहास में 19वीं शताब्दी को 'ब्रिटेन की शताब्दी' कहा जाता है। इस शताब्दी में ब्रिटेन राजनीतिक, औद्योगिक एवं व्यापारिक दृष्टि से ससार का सर्वोच्च (सर्वश्रेष्ठ) राष्ट्र था। नोल्स (Knowles) के शब्दों में, 19वीं शताब्दी यूरोप के किनारे बसे छोटे-से द्वीप (ब्रिटेन) के प्रभुत्व एवं संसारव्यापी प्रभाव की शताब्दी थी।" औद्योगिक क्रान्ति के साथ-साथ ब्रिटेन में कृषि-क्रान्ति, परिवहन-क्रान्ति और व्यापारिक क्रान्ति भी उपस्थित हुई। अत: लम्बे समय तक संसार का कोई भी देश ब्रिटेन की बराबरी नहीं कर पाया। सम्पूर्ण विश्व के एक-चौथाई भाग में अपना साम्राज्य स्थापित करके ब्रिटेन संसार का निर्माता और भाग्य-विधाता हो गया। वह संसार की भट्ठी, संसार का मालवाहक, संसार का जलयान-निर्माता, संसार का बैंकर, संसार की वर्कशॉप, संसार का निकासी-गृह

और संसार का व्यापारिक केन्द्र बन गया। संसार भर में ब्रिटेन की सर्वोच्चता प्रथम महायुद्ध तक कायम रही।

ब्रिटेन की सर्वोच्चता के कारण—19वीं शताब्दी में ग्रेट ब्रिटेन की औद्योगिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता के लिए निम्न घटक उत्तरदायी थे—

(1) **औद्योगिक क्रान्ति का अगुआ**—औद्योगीकरण के क्षेत्र में अगुआ (Pioneer) होने के नाते ब्रिटेन आर्थिक जगत का नेता बन गया। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत 1760 में हुई तथा 1850 तक उसका औद्योगिक प्रणाली पर्याप्त सुदृढ़ बन गई। संसार के दूसरे देशों में औद्योगीकरण का कार्य 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आरम्भ हुआ। इस समय तक ब्रिटेन औद्योगिक क्षेत्र में बहुत आगे निकल चुका था, जो उसकी आर्थिक सर्वोच्चता का मुख्य कारण बना।

(2) **निपुण एवं प्रशिक्षित श्रमिक**—चूंकि ब्रिटेन में औद्योगीकरण की शुरुआत सबसे पहले हुई, इसलिए दूसरे देशों के श्रमिकों की अपेक्षा ब्रिटिश श्रमिक अधिक दक्ष बन गए। वे उत्पादन-कार्य में यन्त्रों का प्रयोग करने के अभ्यस्त हो गए। 19वीं शताब्दी में ऐसे कुशल और प्रशिक्षित श्रमिकों का दूसरे देशों में नितान्त अभाव था। ब्रिटिश श्रमिक इतने अधिक कुशल थे कि वे विदेशों में हुए आविष्कार भी शीघ्रता से अपना लेते थे तथा उनकी क्रियाविधि सुधार लेते थे। प्रशिक्षित एवं दक्ष श्रमिकों की उपस्थिति ने ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया।

(3) **गतिशील उद्यमी** - कुशल एवं प्रशिक्षित श्रमिकों की तरह, ब्रिटेन में गतिशील उद्यमियों का भी सुदृढ़ वर्ग था, जो व्यावसायिक जोखिम उठाने तथा नवीन आविष्कार अपनाने में तनिक भी संकोच नहीं करता था। ब्रिटिश उद्यमियों ने उपनिवेशों की खानों, बागानों और रेलों में बड़े पैमाने पर पूंजी विनियोग किया। ब्रिटिश जहाजी कम्पनियाँ संसार भर का माल ढोती थीं। इन सेवाओं और विनियोगों के बदले ब्रिटेन को विदेशों से पर्याप्त धन मिला, जो उसके औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास में सहायक बना।

(4) **सहायक उद्योगों का विकास**—प्रमुख उद्योगों की स्थापना ने ब्रिटेन में सहायक और पूरक उद्योगों का विकास प्रोत्साहित किया। विशाल स्तरीय प्रमुख उद्योगों की तरह, ब्रिटेन में सहायक उद्योगों का विकास भी सबसे पहले हुआ। सहायक उद्योगों के विकास ने ब्रिटिश व्यापार को फैलने में सहायता की।

(5) **वित्तीय एवं बैंकिग प्रणाली का विकास**—औद्योगिक एवं व्यापारिक कार्यों की वित्त-व्यवस्था हेतु ब्रिटेन में बैंकिंग एवं वित्तीय संस्थाओं का विकास भी दूसरे देशों से बहुत पहले हुआ। 19वीं शताब्दी में लन्दन का मुद्रा-बाजार पर्याप्त विकसित हो चुका था। उसके विपत्र अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा की भाँति स्वीकार किये जाते थे। 19वीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटिश संस्थाओं का सम्बन्ध संसार के सभी भागों

से स्थापित हो चुका था। विकसित बैंकिंग एवं वित्तीय प्रणाली ब्रिटेन के आर्थिक विकास में सहायक बनी।

(6) **परिवहन एवं सचार-साधनों का विकास**—परिवहन एवं संचार-सुविधाओं का विकास भी ब्रिटेन में सबसे पहले हुआ। रेलों, सड़कों और नौकाचालन का विस्तार उसके औद्योगिक विकास एवं अन्तर्देशीय व्यापार में सहायक बना। जहाजरानी के विकास ने संसार के लगभग सभी देशों के साथ उसका व्यापार सम्भव बनाया। 19वीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटेन के पास संसार भर के दो-तिहाई समुद्री-जहाज हो गए अर्थात् वह संसार का सबसे बड़ा मालवाहक बन गया।

(7) **प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता**—ब्रिटेन के आधारभूत उद्योगों के विकास हेतु कोयले और लोहे के विशाल भण्डार उपलब्ध थे। लोहे और कोयले की खानें आसपास स्थित थीं जिससे इन आधारभूत उद्योगों के विकास में विशेष सुविधा हुई। लोहे और कोयले की प्रचुरता के कारण ब्रिटेन में रेलवे और जहाजरानी का विकास सम्भव हो पाया। वाष्प-शक्ति और नए-नए यन्त्रों का आविष्कार सबसे पहले ब्रिटेन में हुआ था। इन आविष्कारों ने ही कृषि, उद्योग, यातायात एवं विदेशी व्यापार के क्षेत्र में क्रान्तियों को जन्म दिया। कुल मिलाकर, प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता तथा ब्रिटेन-निवासियों की उद्यमी भावना ब्रिटेन को ससार का अग्रणी राष्ट्र बनाने में सहायक हुई।

(8) **आदर्श भौगोलिक स्थिति**—ब्रिटेन की भौगोलिक स्थिति विदेशी व्यापार के विकास हेतु सर्वथा उपयुक्त थी। संसार का कोई भी हिस्सा उसके जहाजों की पहुंच से बाहर नहीं पड़ता था। उसके समुद्री तट पर प्राकृतिक बन्दरगाह थे। नौकाचालन योग्य नदियों के रूप में अन्तर्देशीय परिवहन के उत्तम साधन उपलब्ध थे। समुद्री परिवहन के क्षेत्र में ब्रिटेन की सर्वोच्चता (जो उसकी भौगोलिक स्थिति का परिणाम थी) उसकी व्यापारिक सर्वोच्चता में सहायक बनी। भौगोलिक पृथक्ता ने उसे विदेशी युद्धों के प्रभाव से मुक्त रखकर औद्योगिक विकास में सहायता पहुँचाई।

(9) **विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य**—संसार के जिन-जिन देशों में ब्रिटेन-निवासी व्यापार के उद्देश्य से गए, धीरे-धीरे वे सभी देश ब्रिटेन के उपनिवेश बन गए। उपनिवेशों की स्थापना में अंग्रेजों को अपने पड़ोसी देशों से युद्ध भी करना पड़ा, किन्तु अन्त में विजय अंग्रेजों की हुई। 19वीं शताब्दी के अन्त तक एशिया, अफ्रीका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया महाद्वीपों का एक-चौथाई भाग ब्रिटेन के औपनिवेशिक साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। उपनिवेश ब्रिटिश उद्योगों के लिये कच्चे-माल के स्रोत तथा विनिर्मित माल के लिये बाजार बन गए। अतः ब्रिटेन के सम्मुख कच्चा माल प्राप्त करने और तैयार माल बेचने की कोई समस्या नहीं थी।

(10) **विदेशों में ब्रिटिश पूँजी का निवेश**—संसार के अनेक देशों में ब्रिटिश पूँजीपतियों ने रेलों, बन्दरगाहों, शक्ति-गृहों, टेलीफोन और तार, खानों और बागानों में बड़े पैमाने पर पूँजी का विनियोग किया। विदेशों में ब्रिटिश पूँजीपतियों द्वारा

स्थापित उद्योगों में ब्रिटिश मशीनरी और इन्जीनियरों का उपयोग किया जाता था। विदेशों में पूंजी-निवेश के कारण बड़ी मात्रा में लाभार्जन के साथ-साथ ब्रिटेन को अपने औद्योगिक एवं व्यापारिक विस्तार हेतु अनुकूल वातावरण भी उपलब्ध हुआ।

(11) **आन्तरिक शान्ति**—19वीं शताब्दी ग्रेट ब्रिटेन के किये आन्तरिक शान्ति की अवधि थी, यद्यपि इस बीच अन्य पश्चिमी देश आन्तरिक अशान्ति या विदेशी युद्ध में उलझे रहे। उदाहरण के लिये राज्य-क्रान्ति के समय से ही फ्रांस किसी न किसी युद्ध में लगा रहा, संयुक्त राज्य अमेरिका गृह-युद्ध में फँस गया तथा जर्मनी एकीकरण में उलझा रहा। ग्रेट ब्रिटेन में दीर्घकाल तक शान्ति और व्यवस्था बनी रही, जो द्रुत आर्थिक विकास के लिए अनिवार्य शर्त होती है।

(12) **स्वतन्त्र व्यापार की नीति**—स्वतन्त्र व्यापार की नीति ब्रिटेन को औद्योगिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता दिलाने में विशेष सहायक सिद्ध हुई; क्योंकि इस नीति के कारण ब्रिटेन सुविधापूर्वक कच्चे-माल का आयात तथा निर्मित माल का निर्यात कर सकता था। स्वतन्त्र व्यापार की नीति के माध्यम से ब्रिटेन अपने उपनिवेशों तथा उन स्वतन्त्र देशों का आर्थिक शोषण करता रहा, जो औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़े हुए थे। अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा बाजार तथा वित्तीय व्यवस्था का जितना व्यावहारिक ज्ञान ब्रिटेन को 1816 में था, उतना संयुक्त राज्य अमेरिका को 1931 में भी प्राप्त नहीं था।

नोल्स (Knowles) के शब्दों में, "कोयले की प्रचुर आपूर्ति, ब्रिटिश दस्तकारों की निपुणता, ब्रिटिश जहाजरानी की अद्वितीयता, ब्रिटिश संगठन की सार्वभौमिकता, विदेशों में ब्रिटेन का विस्तृत निवेश तथा ब्रिटिश विनिर्मित माल की उत्तमता ने संयुक्त रूप से मिलकर 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन का संसारव्यापी प्रभुत्व स्थापित किया।"

प्रश्न 2—19वीं शताब्दी के बाद ग्रेट ब्रिटेन की औद्योगिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता में ह्रास के कारण गिनाइये।

Account for the decline of industrial and commercial supremacy of Great Britain after 19th century.

उत्तर—19वीं शताब्दी में ग्रेट ब्रिटेन को विश्वभर में औद्योगिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता प्राप्त थी। ब्रिटिश उद्योग, व्यापार एवं साम्राज्य उन्नति के शिखर पर थे। 1870 के बाद ब्रिटेन की औद्योगिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता में ह्रास आरम्भ हो गया। यद्यपि अदृश्य व्यापार (बीमा, बैंकिंग, जहाजरानी आदि) के माध्यम से वह प्रथम महायुद्ध तक अपनी सर्वोच्चता कायम रख पाया; किन्तु दृश्य व्यापार के क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी और जापान ने उसे 1870 के बाद प्रबल चुनौती देना आरम्भ कर दिया। लोहा एवं इस्पात तथा कोयले के उत्पादन में जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका 1913 तक ब्रिटेन से आगे निकल गए। सूतीवस्त्र के उत्पादन में उसे जापान चुनौती देने लगा। 1913 तक जर्मनी और संयुक्त राज्य

अमेरिका यन्त्रों के निर्माण में ब्रिटेन की बराबरी करने लगे। प्रथम महायुद्ध ने ब्रिटेन को भारी क्षति पहुंचाई। अत: ब्रिटिश औद्योगिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता में ह्रास की प्रक्रिया, जो 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में आरम्भ हुई थी, प्रथम महायुद्ध काल में पूर्ण हो गई। अन्तर्महायुद्ध काल में ही ब्रिटेन के प्रमुख निर्यात-उद्योगों (लोहा, कोयला और सूतीवस्त्र) का महत्व घट गया। 1938 तक ब्रिटिश कोयले का निर्यात 1913 में कोयले के निर्यात से घटकर आधा रह गया। ब्रिटेन द्वारा निर्यातित लोहे एवं इस्पात की मात्रा 1913 में 50 लाख टन से घटकर 1936 में 36 लाख टन रह गई। 1918 और 1939 के बीच ब्रिटिश सूतीवस्त्र उद्योग का उत्पादन घटकर आधा रह गया; क्योंकि जापानी प्रतियोगिता के कारण सुदूर-पूर्वी देशों में ब्रिटिश सूतीवस्त्र का बाजार संकुचित हो गया था।

ब्रिटेन की सर्वोच्चता में ह्रास के कारण

1870 के पश्चात ब्रिटेन की औद्योगिक और व्यापारिक सर्वोच्चता में ह्रास के लिए उत्तरदायी थे—

(1) ब्रिटिश उद्योगों की उत्पादकता में ह्रास—1870 से पहले ब्रिटेन में औद्योगिक विकास की वार्षिक दर 4 प्रतिशत थी, जो 1870 के बाद घटकर केवल 1·8% रह गई। दूसरी ओर, 1870 के पश्चात् समूचे विश्व में औद्योगिक विकास की वार्षिक दर 3 प्रतिशत थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह 5 प्रतिशत और जर्मनी में 4 प्रतिशत वार्षिक थी। स्पष्ट है कि 1870 के पश्चात् ब्रिटिश उद्योगों की उत्पादकता में ह्रास उपस्थित हो गया, जो ब्रिटेन की सर्वोच्चता में ह्रास का मुख्य कारण था।

(2) दूसरे देशों का औद्योगिक विकास—1870 से पूर्व विदेशी बाजारों में ब्रिटेन का कोई प्रबल प्रतिद्वन्दी नहीं था, क्योंकि दूसरे देशों में औद्योगीकरण की शुरुआत भी नहीं हो पाई थी। 1870 के बाद जर्मनी, जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रांस का तेजी से औद्योगिक विकास होने लगा, जिसका ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। नव-विकसित देशों में ब्रिटिश वस्तुओं का बाजार लगभग समाप्त हो गया तथा अन्य बाजारों में ब्रिटेन को इन देशों की कड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। यद्यपि अदृश्य व्यापार के माध्यम से ब्रिटेन ने अपनी सर्वोच्चता की स्थिति कुछ समय तक बनाए रक्खी, तथापि अदृश्य व्यापार का प्रभाव भी अल्पकालीन सिद्ध हुआ; क्योंकि कुछ समय बाद दूसरे देशों ने भी बीमा, बैंकिंग और जहाजरानी का विकास कर लिया।

(3) पुराने संयंत्र एवं तकनीक का प्रयोग—ब्रिटिश उत्पादकों ने 19वीं शताब्दी के अन्त तक उत्पादन के तकनीकी पहलू पर विशेष ध्यान नहीं दिया। वे पुराने संयंत्र एवं तकनीक का प्रयोग करते रहे : दूसरी ओर, अमेरिका और जर्मनी में उन्नत तकनीक पर विशेष ध्यान दिया गया। सस्ते उत्पादन के बल पर इन देशों के लिए विदेशी बाजारों पर कब्जा करना सुगम हो गया। इसमें ब्रिटिश व्यापार

एवं उद्योगों को क्षति उठानी पड़ी। अन्तर्महायुद्ध काल में औद्योगिक अनुसन्धान पर जहां सोवियत संघ ने अपनी राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी राष्ट्रीय आय का आधा प्रतिशत व्यय किया वहीं ग्रेट ब्रिटेन का व्यय उसकी राष्ट्रीय आय का केवल 0·1 प्रतिशत रहा। फलत: औद्योगिक तकनीक के क्षेत्र में ब्रिटेन पिछड़ गया।

(4) **निर्यात-व्यापार में ह्रास**—औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भ से ही ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के लिए निर्यात-व्यापार का विशेष महत्व था, किन्तु 1870 के बाद उसके निर्यात-व्यापार में ह्रास उत्पन्न हो गया। 1870–74 के वर्षों में ब्रिटिश निर्यातों का वार्षिक मूल्य (औसतन) 235 मिलियन पौंड था, जो 1871–79 के वर्षों में घटकर 202 मिलियन पौंड रह गया। औद्योगिक माल के समूचे विश्व के निर्यात में ब्रिटेन का हिस्सा 1913 में 30 प्रतिशत था, जो 1929 तक घटकर 24 प्रतिशत और 1937 तक केवल 22 प्रतिशत रह गया। निर्यात-व्यापार में उत्तरोत्तर ह्रास के कारण ब्रिटेन की औद्योगिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता समाप्त हो गई।

(5) **स्वतन्त्र व्यापार की नीति**—प्रारम्भ में स्वतन्त्र व्यापार की नीति ब्रिटेन के औद्योगिक एवं व्यापारिक विस्तार में सहायक बनी; क्योंकि वह कच्चे-माल का आयात एवं निर्मित माल का निर्यात सुगमतापूर्वक कर लेता था। जब फ्रांस, जर्मनी और अमेरिका में औद्योगीकरण आरम्भ हुआ, तब इन देशों ने 'शिशु-उद्योग तर्क' के आधार पर संरक्षण की नीति अपनाई। विदेशी माल के आयात के विरुद्ध इन देशों ने ऊँची प्रशुल्क दीवारें खड़ी कर दीं। इस नीति का ब्रिटिश उद्योगों पर प्रतिकल प्रभाव पड़ा; क्योंकि उसके उद्योग मुख्य रूप से निर्यात पर आधारित थे। ब्रिटिश सरकार उस समय भी स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अनुसरण करती रही। फलत: उसके निर्यात घट गए और आयात बढ़ गए। इस तरह स्वतन्त्र व्यापार की नीति ब्रिटेन की औद्योगिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता के लिये अभिशाप सिद्ध हुई।

(6) **स्वर्णमान का प्रतिकूल प्रभाव**—प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक ब्रिटेन में स्वर्णमान प्रचलित रहा। स्वर्णमान के अन्तर्गत 'विनिमय-स्थिरता' स्वर्ण के अन्तर्गमन एवं बहिर्गमन पर आधारित थी। स्वतन्त्र व्यापार की नीति तथा दूसरे कारणों से 1870 के पश्चात ब्रिटेन अपनी अर्थव्यवस्था में इच्छित समायोजन नहीं कर पाया। निर्यातों की अपेक्षा आयातों की अधिकता के कारण उसके स्वर्ण-कोष घटने लगे, जिसका उसकी आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव (मुद्रा एवं साख की मात्रा, घरेलू माँग, कीमत-स्तर एवं उत्पादन में गिरावट) पड़ा तथा उसकी आर्थिक सर्वोच्चता घटने लगी।

(7) **उपभोक्ता वस्तुओं पर विशेष बल**—ब्रिटेन की औद्योगिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता का मुख्य आधार उसका निर्यात-व्यापार था जिसमें उद्योगों द्वारा निर्मित उपभोक्ता-माल की प्रधानता थी। दूसरी ओर, संसार के अन्य देश अपनी अधिकांश पूंजी उत्पादक-वस्तुओं (पूंजीगत-पदार्थों) में लगाना चाहते थे अर्थात् इन देशों में पूंजीगत वस्तुओं की माँग अधिक थी। यद्यपि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार ब्रिटेन में अपनी औद्योगिक व्यवस्था को समायोजित करने (अर्थात् पूंजीगत-पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने) का प्रयास भी किया, किन्तु उसकी समायोजन-प्रक्रिया अत्यन्त धीमी थी। फलतः उसकी आर्थिक सर्वोच्चता में ह्रास उपस्थित हो गया।

(8) **दोषपूर्ण मौद्रिक नीति** प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश सरकार की दोषपूर्ण नीति भी ब्रिटेन की आर्थिक सर्वोच्चता के लिये घातक सिद्ध हुई। 1925 में जब ब्रिटेन ने स्वर्णमान पुनः अपनाया, तब उसने युद्ध-पूर्व समता-दर पर ही स्वर्णमान अपनाया। दूसरे शब्दों में, ब्रिटेन ने अपनी मुद्रा का अधि-मूल्यन कर दिया, जिसका ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। विदेशी बाजारों में उसकी वस्तुएँ महँगी हो गईं। फलतः उसके निर्यात घट गए और आयात बढ़ गए।

7

ब्रिटिश व्यापारिक-नीति

(British Commercial Policy)

प्रश्न 1—इंगलैंड द्वारा स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अनुसरण खोज निकालिए और दर्शाइए कि इसने विभिन्न स्तरों पर इंगलैंड की अर्थव्यवस्था को कैसे प्रभावित किया।

Trace the adoption of free trade policy by England and show how it affected her economy at different stages.

उत्तर—16वीं, 17वीं और 18वीं शताब्दियों में दूसरे यूरोपीय देशों की तरह ब्रिटेन में भी वणिकवादी नीति प्रचलित रही। इस नीति का सार सम्पत्ति के संचय में निहित था, जो स्वर्ण के संचय द्वारा ही सम्भव था। चूंकि स्वर्ण विदेशों

से ही प्राप्त किया जा सकता था, इसलिए विदेशी व्यापार इसका एकमात्र स्रोत था तथा इस क्षेत्र में अनुकूल व्यापार-संतुलन आवश्यक था। व्यापार-सन्तुलन को अनुकूल बनाए रखने के लिये वणिकवादी नीति के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओं पर राजकीय नियमन एवं नियन्त्रण सम्मिलित था। प्रारम्भ में वणिकवादी नीति ब्रिटेन के आर्थिक विकास में सहायक रही, किन्तु 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह प्रभावहीन बन गई। इसका प्रबल विरोध हुआ तथा इसके स्थान पर स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाई गई।

स्वतन्त्र व्यापार की नीति क्यों अपनाई गई

स्वतन्त्र व्यापार की नीति, जिसे 'स्वछन्दता की नीति' (Leissez Faire Policy) भी कहा जाता है, का आविर्भाव 19वीं शताब्दी में हुआ। ग्रेट ब्रिटेन ने इस नीति का अनुसरण प्रथम महायुद्ध तक किया। ब्रिटेन द्वारा स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाए जाने के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

(1) वणिकवादी नीति के दोष—वणिकवादी नीति राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता पर बल देने के कारण रहन-सहन के स्तर की समुन्नति में बाधक थी। इस नीति से अन्तर्राष्ट्रीय विद्वेष को बल मिला। 18वीं शताब्दी में ब्रिटेन के फ्रांस और अमेरिका के साथ जो युद्ध हुए, वे पर्याप्त अंश तक वणिकवादी नीति के ही परिणाम थे। अत: रूसो (Roussacu) और बेन्थम (Bentham) सरीखे विद्वानों ने वणिकवादी नीति का प्रबल विरोध किया। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा का समर्थन करते हुए इन विद्वानों ने आर्थिक जीवन पर लगे प्रतिबन्धों को हटाने की माँग की। उनका विचार था कि सरकार का प्रत्येक कार्य विवेकपूर्ण नहीं होता।

(2) प्रतिष्ठित विचारधारा का प्रभाव—18वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो, आदि ने वणिकवादी पद्धति की कटु आलोचना की। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता से तथा प्राकृतिक स्वतन्त्रता को राजकीय हस्तक्षेप से श्रेयस्कर ठहराया। उनकी राय थी कि व्यक्ति और समाज के हितों में कोई विरोध नहीं है तथा व्यक्ति अपना कल्याण जितना स्वयं कर सकता है, सरकार उसका उतना कल्याण नहीं कर सकती। इन विद्वानों ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति का समर्थन किया, जिसका अभिप्राय था—'सबको स्वतन्त्र कर दो'।

(3) औद्योगिक क्रान्ति—औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात ब्रिटेन में हुआ। औद्योगिक संगठन एवं औद्योगिक तकनीक में हुए मौलिक परिवर्तनों के फलस्वरूप बड़े पैमाने पर वस्तुएं उत्पादित होने लगीं। इतने अधिक उत्पादन की मात्रा घरेलू बाजार में खपत सम्भव नहीं थी। अत: उद्योगपतियों द्वारा सरकार से व्यापारिक प्रतिबन्ध हटाने की माँग की जाने लगी, ताकि वे स्वतन्त्रतापूर्वक विदेशों को माल भेज सकें। लिप्सन (Lipson) के शब्दों में, "स्वतन्त्र व्यापार की शुरुआत व्यावहारिक विचारों

से निर्देशित थी। इसमें आर्थिक स्वतन्त्रता के सूक्ष्म सिद्धान्तों का वैसा प्रभाव सम्मिलित नहीं था, जैसा कि सामान्यत: माना जाता है।"

(4) **फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति**—1769 में घटित फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति ने मानव जाति को स्वतन्त्रता का सन्देश दिया। इसके प्रभावों से ब्रिटेन भी वंचित नहीं रह सका। फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के बाद 1793 से लेकर 1815 तक ब्रिटेन नेपोलियन के साथ युद्ध में फँसा रहा। नेपोलियन का उद्देश्य ब्रिटेन का निर्यात-व्यापार छिन्न-भिन्न करके उसकी आर्थिक शक्ति समाप्त कर देना था, किन्तु वह अपने प्रयास में असफल रहा। इस अवधि में ब्रिटेन अपना निर्यात-व्यापार बढ़ाने में प्रयत्नशील रहा। इस उद्देश्य से वह स्वतन्त्र व्यापार की ओर अग्रसर हुआ।

(5) **अमेरिकी स्वतन्त्रता-संग्राम**—ब्रिटिश प्रशुल्क-नीति और समुद्री-यातायात अधिनियम से तंग आकर अमेरिका-निवासियों ने 1775 में ब्रिटेन के विरुद्ध स्वतन्त्रता-संग्राम की घोषणा कर दी। यह युद्ध छ: वर्ष तक चला। अन्तत: अक्टूबर 1781 में अमेरिका स्वतन्त्र हो गया। इस युद्ध ने आर्थिक प्रतिबन्धों की निरर्थकता सिद्ध कर दी। अमेरिका के हाथ से निकल जाने पर ब्रिटेन स्वतन्त्र व्यापार की ओर अग्रसर हुआ।

(6) **स्वर्णमान का अपनाया जाना**—ब्रिटेन द्वारा स्वर्णमान अपनाए जाने के कारण भी उसके लिए वणिकवादी नीति का परित्याग आवश्यक हो गया। स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण का स्वतन्त्र प्रवाह तथा वस्तुओं का स्वतन्त्र व्यापार सम्मिलित था मॉरगन वेब (Morgon Webb) के शब्दों में, "विशुद्ध मौद्रिक दृष्टिकोण से इंगलैण्ड द्वारा स्वतन्त्र व्यापार का अनुसरण मौद्रिक-व्यवस्था का सर्वाधिक सफल अंग था।"

(7) **पुर्तगाली व्यापार का पतन**—19वीं शताब्दी के आरम्भ में पुर्तगाली व्यापार की समाप्ति के कारण भी ब्रिटेन को स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाने के लिए अनुकूल अवसर मिला।

स्वतन्त्र व्यापार-नीति के विभिन्न स्तर

ग्रेट ब्रिटेन द्वारा स्वतन्त्र व्यापार की नीति विभिन्न स्तरों (चरणों) में अपनाई गई, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार है—

(अ) **1815 से पूर्व का काल**—1776 में प्रकाशित एडम स्मिथ की कृति 'Wealth of Nations' ने यह विश्वास जगाया कि स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है। अमेरिकी स्वतन्त्रता-संग्राम (1775–81) के पश्चात् ब्रिटिश प्रधानमन्त्री विलियम पिट को दृढ़ विश्वास हो गया कि ब्रिटेन की व्यापारिक नीति गलत सिद्धान्तों पर आधारित है। व्यापारिक क्षेत्र में ब्रिटेन और उपनिवेशों के बीच किसी तरह का भेदभाव नहीं होना चाहिए। 1786 में विलियम पिट ने फ्रांस के साथ जो व्यापारिक समझौता किया, उसे स्वतन्त्र व्यापार की शुरुआत माना जा सकता है। उसने प्रशुल्क नीति में भी परिवर्तन किया। परिवर्तित नीति के अनुसार संरक्षणात्मक शुल्कों का उद्देश्य उद्योगों को बढ़ावा देने की बजाय

(3) **व्यापार का विस्तार**—स्वतन्त्र व्यापार की नीति के कारण संसार के प्रत्येक भाग में ब्रिटिश व्यापार फैल गया तथा व्यापार की मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई कि 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन संसार का सर्वोच्च व्यापारिक राष्ट्र बन गया। 1840 से लेकर 1870 तक ब्रिटेन के निर्यात-व्यापार में तीन गुनी और आयात-व्यापार में पाँच गुनी वृद्धि हुई ब्रिटिश निर्यातों का मूल्म 1843 में 87 मिलियन पौण्ड से बढ़कर 1872 में 256 मिलियन पौण्ड हो गया। इस अवधि में ब्रिटिश आयातों का मूल्य 133 मिलियन पौण्ड से बढ़कर 197 मिलियन पौण्ड हो गया।

(4) **यातायात के साधनों का विकास**—स्वतन्त्र व्यापार की नीति का परिवहन के साधनों पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ा। स्थल और जल परिवहन के साधनों का तीव्र गति से विकास हुआ। बढ़ते हुए विदेशी व्यापार ने जहाजरानी का विकास प्रोत्साहित किया। ब्रिटिश जहाजरानी की क्षमता 1851 में 3·6 लाख G R T से बढ़कर 1871 में 5·7 लाख G R T हो गई। ब्रिटेन में रेलवे-मार्ग की लम्बाई 1848 में 4,600 मील से बढ़कर 1860 में 13,600 मील हो गई।

(5) **राष्ट्रीय आय में वृद्धि**—स्वतन्त्र व्यापार की नीति से वस्तुओं और सेवाओं का घरेलू उत्पादन प्रोत्साहित हुआ। विदेशी व्यापार तथा विदेशों में पूँजी-निवेश के माध्यम से विदेशी अर्जन भी बढ़ गए। परिणामत: ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय में उल्लेखनीय वृद्धि हुई; जो आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिरता में सहायक बनी। खाद्यान्नों का निर्यात स्वतन्त्र हो जाने से खाद्यान्नों के मूल्य कम हो गए। इससे श्रमिकों की वास्तविक आय बढ़ गई।

(6) **राजस्व में वृद्धि**—राजस्व के क्षेत्र में स्वतन्त्र व्यापार की नीति का उल्लेखनीय परिणाम प्रत्यक्ष कराधान में वृद्धि था। 1842 में आय-कर पुन: लगाया गया। 1853 में प्रशुल्क-सुधार के कारण बजट में हुए घाटे को पूरा करने के लिए आस्ति-कर लगाया गया। इन प्रत्यक्ष करों से सरकारी आय में पर्याप्त वृद्धि हुई।

स्वतन्त्र व्यापार की नीति के कारण ब्रिटेन की जो आर्थिक उन्नति हुई, वह अल्पकालीन थी। 1870 के पश्चात् इस नीति के कारण ब्रिटेन को भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस समय तक अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी और जापान में औद्योगिक विकास आरम्भ हो गया था। इन देशों में औद्योगिक विकास की गति इतनी तीव्र थी कि अल्पावधि में ही ये ब्रिटेन के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बन गए। ये देश संरक्षणवादी नीति अपनाए हुए थे, किन्तु ब्रिटेन 1913 तक स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अनुसरण करता रहा। फलतः ब्रिटेन के निर्यात घट गए, ब्रिटेन में व्यावसायिक मन्दी उपस्थित हो गई तथा उसकी आर्थिक सर्वोच्चता समाप्त हो गई।

प्रश्न 2—प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् ब्रिटिश सरकार अपनी स्वतन्त्र व्यापार-नीति से किस तरह विचलित हुई ? वे परिस्थितियाँ बताइये, जिन्होंने यह परिवर्तन आवश्यक बना दिया।

In what ways the British Government deviate from its usual

free trade policy after first world war ? Explain the circumstances which necessiated this change.

उत्तर—यद्यपि 1875 के बाद ब्रिटेन में स्वतन्त्र व्यापार की नीति का प्रबल विरोध आरम्भ हो गया था, तथापि ब्रिटिश सरकार 1913 तक इस नीति का अनुसरण करती रही। तदुपरान्त कुछ ऐसी घटनाएं हुईं, जिन्होंने स्वतन्त्र व्यापार की नीति का परित्याग तथा संरक्षणवादी नीति का अनुसरण आवश्यक बना दिया।

ब्रिटेन की संरक्षणवादी नीति पर वापसी—यथार्थ में प्रथम महायुद्ध के आरम्भ से ही ब्रिटिश सरकार स्वतन्त्र व्यापार की नीति से विचलित होने लगी थी। समुद्री जहाजों की कमी के कारण युद्धकाल में आयातों पर नियन्त्रण आवश्यक बन गया। अतः 1915 में पारित 'मेकना शुल्क अधिनियम' के अन्तर्गत साइकिल, घड़ी, मोटर, फिल्म और वाद्ययन्त्र सरीखी विलास-वस्तुओं पर आयात-शुल्क लगाए गए। ये शुल्क ब्रिटिश सरकार की संरक्षणवादी नीति पर व पसी की शुरुआत थे। इन शुल्कों को युद्ध की समाप्ति पर हटा लेने का आश्वासन दिया गया था, किन्तु युद्ध के बाद भी ये शुल्क यथावत बने रहे। युद्धकाल में कुछ वस्तुओं के आयात हेतु सरकारी अनुमति लेना आवश्यक था। यह व्यवस्था युद्धोपरान्त भी जारी रही। 1919 में ब्रिटिश सरकार द्वारा उपनिवेशों से आयातित वस्तुओं पर 33·3 प्रतिशत अधिमान (Preference) दिया गया।

1921 का 'उद्योग-सुरक्षा अधिनियम' ब्रिटेन द्वारा संरक्षणवादी नीति पर वापसी की दिशा में दूसरा महत्वपूर्ण प्रयास था। युद्धोत्तर काल में आस्ट्रेलिया, ब्राजील, जापान आदि अनेक देशों का संरक्षण की आड़ में तेजी से औद्योगिक विकास हो रहा था। संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रांस सरीखे विकसित देश भी संरक्षणवादी नीति अपनाए हुए थे। इन परिस्थितियों में अपने उद्योगों की सुरक्षा हेतु ब्रिटिश सरकार को भी संरक्षणवाद की ओर बढ़ना पड़ा। 1921 के उद्योग-सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत सरकार ने राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु आवश्यक वस्तुओं पर 33 3 प्रतिशत का 'कर' लगाया। इसका प्रमुख उद्देश्य युद्धकाल में स्थापित उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना था। सरकार ने विदेशी माल के राशिपातन पर रोक लगाने की व्यवस्था भी की। 1944 में लेबर पार्टी की सरकार ने प्रशुल्क (Tariffs) समाप्त कर दिये थे, किन्तु 1925 में अनुदार दल की सरकार ने पुनः प्रशुल्क लगा दिए। तदुपरान्त प्रशुल्क-प्रणाली की प्रकृति उत्तरोत्तर संरक्षणात्मक और राजस्व-उत्पादक बनने लगी।

'तीसा' की महामन्दी के समय ब्रिटेन ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति का पूर्ण रूप से परित्याग कर दिया। 1931 में उसने स्वर्णमान ही त्याग दिया, जो स्वतन्त्र व्यापार का प्रमुख आधार था। मन्दी के दुष्प्रभावों की रोकथाम के लिये सरकार ने विदेशी व्यापार पर तरह-तरह के नियन्त्रण लगाए। इस उद्देश्य से 1931 का 'असामान्य आयात (सीमा-शुल्क) अधिनियम' पारित हुआ। इसके लिये आयातित वस्तुओं पर छः माह की अवधि के लिये आयात-शुल्क लगाया गया। बाद में 1932

से भी अधिक था; किन्तु 1900 में वह मात्र अमेरिकी उत्पादन का दो-तिहाई हिस्सा रह गया। कोयला और सूती वस्त्र के उत्पादन में भी ब्रिटेन पिछड़ गया। प्रथम महायुद्ध के बाद जापान में सूती वस्त्रोद्योग का तेजी से विकास हुआ, जिसके परिणामस्वरूप पूर्वी देशों में ब्रिटेन का प्रभाव घट गया। अतः घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए ब्रिटिश सरकार को अबन्धवादी नीति छोड़नी पड़ी।

(2) नए उद्योगों का विकास—अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर न केवल ब्रिटेन के पुराने उद्योगों का सापेक्षिक महत्व घट गया, अपितु नए-नए उद्योगों (विद्युत-शक्ति, मोटर वाहन, आदि) के विकास में भी वह दूसरे देशों से पिछड़ गया। नवीन आविष्कारों के बल पर फ्रांस, जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका में नए-नए उद्योगों का तेजी से विकास सम्भव हुआ। इससे ब्रिटिश उद्योगपतियों को भारी धक्का लगा। उन्हें अबन्धवादी नीति के औचित्य में सन्देह होने लगा; क्योंकि दूसरे देशों का द्रुत औद्योगिक विकास सरकारी संरक्षण के अन्तर्गत हो रहा था। अन्ततः ब्रिटिश सरकार को भी अबन्धवादी नीति से विचलित होना पड़ा।

(3) अन्य देशों में संरक्षणवादी नीति का प्रचलन—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जापान, आस्ट्रेलिया, ब्राजील आदि देशों का संरक्षण की आड़ में तेजी से औद्योगिक विकास होने लगा। फ्रांस, जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका 19वीं शताब्दी से ही संरक्षणवादी नीति अपनाए हुए थे। उन्होंने प्रथम महायुद्ध के बाद भी इस नीति का अनुसरण जारी रखा। स्वतन्त्र व्यापार की नीति पर चलने वाला ब्रिटेन अकेला देश रह गया। अतः उसे भी संरक्षणवादी नीति अपनानी पड़ी।

(4) प्रारम्भिक संरक्षणकारी उपायों की सफलता—अबन्धवादी नीति पर चलते हुए भी ब्रिटिश सरकार ने श्रमिकों की भलाई के लिए कुछेक कारखाना-कानून पारित किए। इन कानूनों का उद्योग पर लाभप्रद प्रभाव पड़ा; क्योंकि ये मानवतावादी दृष्टिकोण पर आधारित थे। फलतः अबन्धकारी नीति के समर्थकों की यह धारणा निर्मूल सिद्ध हुई कि सरकारी हस्तक्षेप औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास में बाधक है।

(5) उद्योगपतियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन—ब्रिटेन की अबन्धवादी नीति इस विश्वास पर आधारित थी कि उसके उत्पादक अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में किसी भी प्रतिद्वन्दी का सामना कर सकते हैं। 1870 के बाद अमेरिका और जर्मनी ब्रिटेन के सबल प्रतिद्वन्दी बन गए। उनकी वस्तुएँ ब्रिटेन के घरेलू बाजार में भी बड़े पैमाने पर बिकने लगीं। अतः ब्रिटिश उद्योगपतियों का दृष्टिकोण बदला। वे संरक्षण की माँग करने लगे।

(6) व्यावसायिक मन्दी—1873 के बाद ब्रिटेन में व्यावसायिक मन्दी का काल आरम्भ हुआ, जिसने कृषि एवं उद्योगों की स्थिति दयनीय बना दी। 1860 के बाद ब्रिटिश उद्योगों और विदेशी व्यापार के लाभ में उपस्थित ह्रास ने ब्रिटेन के

लिए संरक्षणवादी नीति का महत्व उजागर कर दिया। अतः कुछ क्षेत्रों में राजकीय हस्तक्षेप आवश्यक समझा जाने लगा। 'तीसा' की महामन्दी के समय ब्रिटिश सरकार स्वतन्त्र व्यापार की नीति का पूर्णतः परित्याग करने के लिए बाध्य हो गई।

(7) **प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन**—1882 के पश्चात् ब्रिटेन के दृश्य निर्यातों की अपेक्षा उसके दृश्य आयात अधिक रहने लगे। फलतः उसका व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल रहने लगा। 1913 तक ब्रिटेन अदृश्य निर्यातों (जहाजरानी, बीमा और बैंकिंग की सेवाएँ) के माध्यम से व्यापार-सन्तुलन का घाटा पाटता रहा, किन्तु बाद में ऐसा कर पाना कठिन हो गया; क्योंकि दूसरे देशों ने अपनी बीमा, बैंकिंग और जहाजी सेवाओं का विकास कर लिया था। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार को बाध्य होकर संरक्षणवादी नीति अपनानी पड़ी, ताकि ब्रिटेन के निर्यात प्रोत्साहित हों तथा व्यापार-सन्तुलन की प्रतिकूलता समाप्त हो जाए।

(8) **वैज्ञानिक अनुसन्धान की आवश्यकता**—ब्रिटिश उद्योगों की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति बनाए रखने के लिए बड़े पैमाने पर वैज्ञानिक अनुसन्धान आवश्यक हो गया था। इन अनुसन्धानों पर अधिक धन खर्च करने की आवश्यकता थी, जो निजी उद्यमियों के लिए सम्भव नहीं था। अतः वैज्ञानिक अनुसन्धानों की आवश्यकता ने ब्रिटिश सरकार को हस्तक्षेपवादी नीति अपनाने के लिए बाध्य किया।

(9) **व्यापार संघों का विकास**—औद्योगिक और व्यापारिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप बहुत से क्षेत्रों में व्यापार संघों की स्थापना हुई, जिनमें से कुछ का विदेशों के साथ सम्बन्ध भी था। औद्योगिक संयोजनों और रेलवे समामेलनों से व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए उनकी गतिविधियों पर [illegible]

थीं, जिन पर पशुओं द्वारा माल ढोया जाता था। ये सार्वजनिक मार्ग 1555 के एक अधिनियम द्वारा शासित होते थे। सड़कों की देखभाल और मरम्मत पेरिश के अधिकारियों की जिम्मेदारी थी। 18वीं शताब्दी में कुछ धनी व्यक्तियों ने संसद के एक अधिनियम द्वारा सड़क-निर्माण का कार्य अपने हाथ में ले लिया। इन व्यक्तियों ने चुंगी प्रन्यास (Turnpike Trusts) स्थापित किए, जिन्हें सड़कों का निर्माण करने तथा सड़कों पर चलने या माल ढोने वालों से चुंगी वसूल करने का अधिकार प्राप्त था। 183: में कुल 1,52,000 मील लम्बी सड़कों में से 20,875 मील लम्बी सड़कों पर चुंगी प्रन्यासों का नियन्त्रण था। तदुपरान्त जॉन मैक एडम (John Mac Adam), टॉमस टेलफोर्ड (Thomas Telford) तथा जॉन मेटकाफ (John Metcalfe) ने सड़कों के लिए टिकाऊ धरातल (Durable Surface) की पद्धति का आविष्कार किया तथा सड़क-निर्माण के कार्य में इन्जीनियरिंग का महत्व स्पष्ट किया। फलतः ब्रिटेन में पक्की सड़कों का निर्माण आरम्भ हुआ। 1830 तक 22 हजार मील लम्बी पक्की सड़कें बनायी गईं। 1835 में पारित 'राजमार्ग

8

ब्रिटेन में परिवहन-क्रान्ति

(Transport Revolution in Britain)

प्रश्न 1 - "1870 के बाद यान्त्रिक परिवहन के विकास के सामान्य परिणाम क्रान्तिकारी थे।" इन परिणामों को संक्षेप में बताइए तथा ग्रेट ब्रिटेन के आर्थिक विकास पर परिवहन-क्रान्ति के प्रभावों का उल्लेख कीजिए।

"The general results of the growth of mechanical transport after 1870 were revolutionary." Briefly indicate these results and describe the effects of transport revolution on the economic development of Great Britain.

अथवा

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ग्रेट ब्रिटेन के आर्थिक विकास पर परिवहन-क्रान्ति के प्रभावों का विवेचन कीजिए।

Describe the effects of transport revolution on the economic development of Great Britain during the second half of 19th Century.

(4) प्रारम्भिक संरक्षणकारी उपायों की सत्यता---अबन्धवादी नीति पर चलते हुए भी ब्रिटिश सरकार ने श्रमिकों की भलाई के लिए कुछेक कारखाना-कानून पारित किए। इन कानूनों का उद्योग पर लाभप्रद प्रभाव पड़ा; क्योंकि ये मानवतावादी दृष्टिकोण पर आधारित थे। फलतः अबन्धकारी नीति के समर्थकों की यह धारणा निर्मूल सिद्ध हुई कि सरकारी हस्तक्षेप औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास में बाधक है।

(5) उद्योगपतियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन—ब्रिटेन की अबन्धवादी नीति इस विश्वास पर आधारित थी कि उसके उत्पादक अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में किसी भी प्रतिद्वन्द्वी का सामना कर सकते हैं। 1870 के बाद अमेरिका और जर्मनी ब्रिटेन के सबल प्रतिद्वन्द्वी बन गए। उनकी वस्तुएँ ब्रिटेन के घरेलू बाजार में भी बड़े पैमाने पर बिकने लगीं। अतः ब्रिटिश उद्योगपतियों का दृष्टिकोण बदला। वे संरक्षण की माँग करने लगे।

(6) व्यावसायिक मन्दी - 1873 के बाद ब्रिटेन में व्यावसायिक मन्दी का काल आरम्भ हुआ, जिसने कृषि एवं उद्योगों की स्थिति दयनीय बना दी। 1860 के बाद ब्रिटिश उद्योगों और विदेशी व्यापार के लाभ में उपस्थित ह्रास ने ब्रिटेन के

यान्त्रिक परिवहन ने राज्यों के औद्योगिक एवं व्यापारिक महत्व में क्रान्ति सृजित की। इसने वस्तुओं और मनुष्यों को नई गतिशीलता प्रदान की। रेलों के निर्माण और नियन्त्रण की आवश्यकता से राष्ट्रीय नीतियाँ प्रभावित हुईं।"

परिवहन-क्रान्ति की विशेषताएं

ब्रिटिश परिवहन-क्रान्ति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित चार थीं—

(1) **गति में वृद्धि**—परिवहन के क्षेत्र में वाष्प शक्ति के प्रयोग ने परिवहन-सुविधाओं को तीव्र गति प्रदान की। परिणामतः कम समय में लम्बी दूरी तय करना तथा बड़ी मात्रा में वस्तुओं का यातायात सम्भव हो गया। यान्त्रिक परिवहन ने मनुष्य को प्रकृति पर विजय दिलाई तथा व्यक्तियों एवं वस्तुओं की गतिशीलता में भारी वृद्धि की।

(2) **नियमितता**—यान्त्रिक परिवहन के विकास द्वारा सवारियों और माल की ढुलाई में नियमितता आई; क्योंकि यातायात में प्राकृतिक व्यवधान की गुंजाइश नहीं रह गई थी।

(3) **सुरक्षा**—यान्त्रिक साधनों (रेलवे, स्टीमर और वाष्प-चालित जहाज) के आविर्भाव से यातायात में सुरक्षा बढ़ गई। अब अधिक मात्रा में वस्तुएँ सुरक्षा-पूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जा सकती थीं।

(4) **परिवहन की सस्ती लागत**—परिवहन के परम्परागत साधनों की तुलना में यान्त्रिक साधन अधिक सस्ते प्रमाणित हुए; क्योंकि इनके माध्यम से वस्तुएँ कम लागत पर दूर-दूर तक भेजी जा सकती थीं।

परिवहन-क्रान्ति के अंग

ब्रिटिश परिवहन-क्रान्ति के चार प्रमुख अंग थे, जिनका विवेचन निम्न प्रकार है—

(अ) सड़कों का विकास—18वीं शताब्दी से पहले ब्रिटिश सड़कें कच्ची थीं, जिन पर पशुओं द्वारा माल ढोया जाता था। ये सार्वजनिक मार्ग 1555 के एक अधिनियम द्वारा शासित होते थे। सड़कों की देखभाल और मरम्मत पेरिश के अधिकारियों की जिम्मेदारी थी। 18वीं शताब्दी में कुछ धनी व्यक्तियों ने संसद के एक अधिनियम द्वारा सड़क-निर्माण का कार्य अपने हाथ में ले लिया। इन व्यक्तियों ने चुंगी प्रन्यास (Turnpike Trusts) स्थापित किए, जिन्हें सड़कों का निर्माण करने तथा सड़कों पर चलने या माल ढोने वालों से चुंगी वसूल करने का अधिकार प्राप्त था। 183: में कुल 1,52,000 मील लम्बी सड़कों में से 20,875 मील लम्बी सड़कों पर चुंगी प्रन्यासों का नियन्त्रण था। तदुपरान्त जॉन मैक एडम (John Mac Adam), टॉमस टेलफोर्ड (Thomas Telford) तथा जॉन मेटकाफ (John Metcalfe) ने सड़कों के लिए टिकाऊ धरातल (Durable Surface) की पद्धति का आविष्कार किया तथा सड़क-निर्माण के कार्य में इन्जीनियरिंग का महत्व स्पष्ट किया। फलतः ब्रिटेन में पक्की सड़कों का निर्माण आरम्भ हुआ। 1830 तक 22 हजार मील लम्बी पक्की सड़कें बनायी गईं। 1835 में पारित 'राजमार्ग

अधिनियम' के अन्तर्गत नई सड़कों के निर्माण एवं व्यवस्था का अधिकार पेरिश-अधिकारियों को सौंपा गया। रेलवे परिवहन की बढ़ती हुई प्रतियोगिता के कारण 1875 तक अधिकांश चुंगी प्रन्यास समाप्त हो गए। 1888 में मुख्य सड़कों की व्यवस्था का दायित्व काउन्टी परिषदों को तथा अन्य सड़कों की व्यवस्था का दायित्व ग्रामीण या शहरी जिला परिषदों को सौंप दिया गया।

ग्रेट ब्रिटेन में ट्रामों का प्रयोग 1861 से आरम्भ हुआ। 1911 तक ट्राम-लाइनों की लम्बाई बढ़कर 2,580 मील हो गई। सड़कों पर मोटरों का प्रयोग 20वीं शताब्दी के शुरू में आरम्भ हुआ। इससे सड़क परिवहन का महत्व बढ़ने लगा तथा सड़कों को सरकारी अधिकार में लेना आवश्यक हो गया। अत: 1909 में पारित 'सड़क-विकास एवं सुधार निधि अधिनियम' के अन्तर्गत 'सड़क बोर्ड' की स्थापना की गई, जिसे सड़कों के विकास का कार्य सौंपा गया। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर 'परिवहन-मन्त्रालय' ने सड़क-विकास को अपने हाथों में ले लिया। 1939 तक ब्रिटेन में टिकाऊ धरातल वाली सड़कों की कुल लम्बाई 180,327 मील हो गई।

(ब) **नहरों का विकास**— ब्रिटेन में परिवहन के साधन-स्वरूप नहरों के विकास को इसलिए प्रोत्साहन मिला; क्योंकि कोयला सरीखी भारी और सस्ती वस्तुओं की ढुलाई हेतु वे सड़कों की अपेक्षा अधिक लाभदायक समझी गईं। 1760 से लेकर 1830 तक ब्रिटेन में यातायात के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन-स्वरूप नहरों का विकास हुआ। इस अवधि में ब्रिटेन का औद्योगिक अस्तित्व नहरों पर ही आधारित था। 'ब्रिजवाटर' नामक ब्रिटेन की सबसे पहली नहर 1761 में बनकर तैयार हुई। इसने मानचेस्टर को वर्स्ले की कोयला-खानों से जोड़ दिया। दूसरी नहर मानचेस्टर को रनकोर्न और लीवरपूल से जोड़ने के लिए निर्मित की गई। 18वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में नहरों का तेजी से निर्माण हुआ। ये नहरें निजी कम्पनियों द्वारा बनाई गई थीं। लन्दन को देश के मध्यवर्ती भागों से जोड़ने वाली 'ग्रेट जँकशन' नहर 1793 में निर्मित हुई। 1830 तक देशभर में 34,00 मील लम्बी नहरें निर्मित हुईं। नौल्स (Knowles) के शब्दों में, "नहरों ने समस्त प्रकार के व्यापार और संचार को प्रोत्साहन दिया। ये बड़े पैमाने के उत्पादन हेतु अपरिहार्य बन गईं।"

रेलों और वाष्प-चालित जलयानों के आविर्भाव के कारण 1830 से लेकर 1914 तक का समय नहरों के सापेक्षिक महत्व में गिरावट का समय सिद्ध हुआ। इस अवधि में ब्रिटेन का औद्योगिक अस्तित्व परिवहन के यान्त्रिक साधनों पर आधारित था। 1830 के पश्चात् के साधन-स्वरूप नहरों का महत्व घट जाने के कई कारण थे। सर्वप्रथम, ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के तीव्र गति से विकास के साथ नहरें अकुशल सिद्ध होने लगी थीं। ब्रिटिश उद्योग एवं व्यापार ऐसी स्थिति में पहुँच गए थे कि नहरों द्वारा उनकी आवश्यकता-पूर्ति असम्भव थीं। दूसरे, कृषि-क्रान्ति के पश्चात् ब्रिटेन में पशुपालन और डेरी व्यवसाय का तेजी से विकास हुआ था। ब्रिटिश किसान

खाद्यान्नों के साथ-साथ मक्खन और पनीर जैसी शीघ्रनाशी वस्तुएं बेचने लगे थे। इनके लिए यातायात के शीघ्रगामी साधनों की आवश्यकता हुई। तीसरे, ब्रिटिश महाजनों ने कोयले को गोदामों में संग्रहित करना छोड़ दिया था; क्योंकि उसे कुछ समय के लिए रेलगाड़ी के डिब्बों में रख छोड़ना सम्भव हो गया था। महाजनों की इस प्रवृत्ति ने नहरों को गहरा आघात पहुँचाया। चौथे इस बीच समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों का व्यापार जहाजों द्वारा होने लगा था। इससे भी नहरों का महत्व घटने लगा।

(स) **रेलों का विकास**—कहावत प्रचलित है कि 'ब्रिटेन में कोयले ने नहर-प्रणाली आरम्भ की तथा कोयले ने ही रेलों को उत्पन्न किया।' ब्रिटेन में रेलों का निर्माण निजी उद्यमियों ने किया। पहली रेलवे लाइन 1801 में बनी, जिस पर घोड़ों द्वारा कोयले के डिब्बे कारखानों से नहरों तक ले जाए जाते थे। 1814 में स्टीफेन्सन (Stephenson) ने वाष्प चालित रेलवे-इंजिन का आविष्कार किया। तदुपरान्त रेलों की वास्तविक उन्नति हुई। आधुनिक किस्म की प्रथम रेलवे लाइन 'The Stocken and Darlington Railway' 1825 में चालू हुई। दूसरी रेलवे लाइन' 'Liverpool and Manchester Railway' 1830 में बनकर तैयार हुई। देश के उत्तरी भाग में नहरों के अभाव के कारण इन रेलवे लाइनों को भारी सफलता मिली। रेल-पथ की लम्बाई 1838 में 112 मील से बढ़कर 1843 में 1,857 मील हो गई। तदुपरान्त रेलवे कम्पनियों के एकीकरण पर बल दिया जाने लगा तथा छोटी-छोटी रेलवे लाइनों को मिलाकर ट्रंक लाइनें बनाई जाने लगीं। 1870 तक रेलवे लाइनों की लम्बाई बढ़कर 15 हजार मील हो गई। 1873 और 1894 के बीच ब्रिटिश रेलवे विकास की प्रमुख विशेषता रेलों पर सरकार का बढ़ता हुआ कठोर नियन्त्रण था। 1873 में रेलवे यातायात पर नियन्त्रण रखने के लिए एक कमेटी गठित की गई। 1888 में इस कमेटी के अधिकार बढ़ाते हुए उसे स्थायी बना दिया गया। एक 'रेलवे-नहर आयोग' का गठन किया गया, जिसकी अनुमति के बिना कोई भी कम्पनी किराए-भाड़े की दरें नहीं बढ़ा सकती थी। 1894 से लेकर 1914 तक का समय रेलवे कम्पनियों के बीच बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा का काल था। प्रतिस्पर्धा के निवारण हेतु रेलवे कम्पनियों ने एकीकरण तथा विलयन का मार्ग अपनाया।

राष्ट्रीय सुरक्षा के विचार से प्रथम महायुद्ध के आरम्भ में सरकार ने रेलों का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया था, किन्तु युद्ध की समाप्ति पर पुनः निजी कम्पनियों को सौंप दिया। 1921 में पारित रेलवे अधिनियम के अन्तर्गत 123 निजी रेलवे कम्पनियों को चार समूहों में बाँट दिया गया। इस समय ब्रिटेन ने रेलवे-मार्ग की कुल लम्बाई 21,400 मील थी। 1922 के बाद रेल-मोटर प्रतिस्पर्धा आरम्भ गई, जिसकी रोकथाम के लिए 1930 में 'सड़क यातायात अधिनियम' पारित हुआ। ब्रिटेन में रेलों का राष्ट्रीयकरण 1947 में हुआ।

(द) **जहाजरानी का विकास**—समुद्री परिवहन के क्षेत्र में ग्रेट ब्रिटेन प्राची-

और मध्यकाल से ही अग्रणी रहा है। वणिकवादियों ने राष्ट्रीय सुरक्षा और व्यापार में वृद्धि हेतु जहाजरानी की उन्नति पर विशेष बल दिया था। ब्रिटेन में आधुनिक जहाजरानी का विकास 1786 से आरम्भ हुआ। इस वर्ष सीमंगटन (Symington) ने एक जहाजी इंजिन का पेटण्ट कराया था। 1803 में उसने वाष्प-चालित नौका निर्मित की। 1812 में हेनरी बेल (Henry Bell) ने छोटा जहाज बनाया। 1818 तक वाष्प-चालित नावें तटीय समुद्र में प्रयुक्त होने लगीं। 1830 और 1840 के बीच जहाज बनाने के दो कारखाने स्थापित हुए। 1838 से अटलांटिक सागर तथा 1839 से अन्य समुद्री मार्गों पर नियमित रूप से जहाज चलने लगे। कई जहाजी कम्पनियाँ भी स्थापित हुईं। 1850 के पश्चात् लोहे के बड़े-बड़े जहाजों का निर्माण हुआ। 1860 में ब्रिटेन के पास 6,876 पुराने ढंग के जहाज तथा 447 स्टीमर थे। 1870 में ब्रिटेन के जहाज-निर्माण उद्योग में 2 लाख श्रमिक कार्यरत थे, जो प्रतिवर्ष 50 मिलियन पौण्ड के जहाज निर्मित करते थे। 1869 में स्वेज नहर के निर्माण से पूर्वी एशियाई देशों के साथ ब्रिटेन का व्यापार बढ़ गया।

ब्रिटेन के आर्थिक इतिहास 1880 से 1914 तक का काल 'ब्रिटिश जहाजरानी का स्वर्णयुग' कहलाता है। बेस्मीयर (Bessemer) और सीमेन्स (Siemens) के प्रयत्नों से 1880 के पश्चात् इस्पात के जहाज निर्मित होने लगे। साउथगेट (Southgate) के अनुसार, 1890 में ग्रेट ब्रिटेन संसार के 80 प्रतिशत जहाज निर्मित करता था और उसके पास सम्पूर्ण विश्व के 60 प्रतिशत जहाज थे। इस समय तक फ्रांस, जर्मनी, रूस, अमेरिका, डेनमार्क आदि देशों में भी सरकारी सहायता से बड़े-बड़े जहाजों का निर्माण होने लगा था। फिर भी, प्रथम महायुद्ध तक जहाजरानी के क्षेत्र में ब्रिटेन की सर्वोच्चता कायम रही। 1913 में ब्रिटेन के पास 112·7 लाख टन-भार क्षमता के कुल 12,602 जहाज थे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् समुद्री परिवहन के क्षेत्र में ब्रिटेन का सापेक्षिक महत्व घटने लगा। 1914 में ब्रिटेन के पास समूचे विश्व के 48 प्रतिशत जहाज थे; जो 1925 में घटकर 37 प्रतिशत, 1937 में 32 प्रतिशत और 1947 में केवल 25 प्रतिशत रह गए।

परिवहन क्रान्ति के प्रभाव

ब्रिटिश अर्थव्यवस्था पर परिवहन-क्रान्ति के निम्न प्रभाव पड़े—

(1) **औद्योगिक विकास**—उद्योगों के लिए कच्चे-माल की उपलब्धता सस्ती और सुगम बनाकर तथा विनिर्मित माल की खपत के लिए विदेशी बाजारों के द्वार खोलकर परिवहन-क्रान्ति ने ब्रिटेन को विश्व की वर्कशॉप बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया। परिवहन की सुविधाएं बढ़ने से औद्योगिक विस्तार को प्रोत्साहन मिला।

(2) **व्यापार में वृद्धि**—ब्रिटिश व्यापारिक क्रान्ति को सफल बनाने में उसकी परिवहन-क्रान्ति का विशेष योगदान माना जा सकता है। परिवहन के

शीघ्रगामी और सुरक्षित साधनों के विकास से आन्तरिक और विदेशी दोनों प्रकार के व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। परिवहन के यान्त्रिक साधन अपेक्षाकृत सस्ते थे। इनके माध्यम से वस्तुओं की नियमित ढुलाई सम्भव थी। फलतः ब्रिटेन के संसार के अनेक देशों के साथ स्थायी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गए तथा वह 19वीं शताब्दी का सर्वोच्च व्यापारिक राष्ट्र बन गया।

(3) **कृषि का व्यापारीकरण**—औद्योगिक एवं व्यापारिक क्रान्तियों की तरह, परिवहन-क्रान्ति ने कृषि-क्रान्ति को भी गति प्रदान की। कृषि-वस्तुओं का बाजार विस्तृत बनाकर परिवहन की सुविधाओं ने ब्रिटिश किसानों को उत्पादन-वृद्धि हेतु प्रोत्साहित किया। परिवहन-क्रान्ति के कारण कृषि-क्षेत्र के लिए उन्नत आगतों (रासायनिक खाद, कृषि-यन्त्र, आदि) की उपलब्धि तथा शीघ्रनाशी वस्तुओं (दूध, मक्खन, पनीर, फल और सब्जी) की बिक्री सुविधाजनक हो गई।

(4) **नगरों का विकास**—परिवहन के यान्त्रिक साधनों ने व्यक्तियों और वस्तुओं को नई गतिशीलता प्रदान की। कृषि-यन्त्रीकरण के कारण गाँवों के बहुत-से व्यक्ति बेकार हो गए थे। परिवहन के साधनों ने उन्हें औद्योगिक कार्यों के लिये नगरों में पहुँचाया, चूंकि परिवहन की सुविधाओं के कारण गाँवों से खाद्यान्न शहरों में पहुँचाना सम्भव हो गया था, इसलिए शहरों का तेजी से विस्तार होने लगा।

(5) **वित्तीय संस्थाओं का विकास** परिवहन-क्रान्ति के कारण आर्थिक क्रियाकलाप अधिक व्यापक और जटिल बन गये। इससे वित्तीय संस्थाओं के विकास को प्रोत्साहन मिला। बैंक और बीमा कम्पनियां स्थापित हुईं तथा शीघ्र ही ब्रिटेन विश्व का वित्तीय-केन्द्र बन गया।

(6) **नए-आर्थिक साम्राज्यवाद का उदय**—परिवहन-क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोपीय देशों के बीच नए भू-क्षेत्र खोजने की होड़ प्रारम्भ हुई ताकि वे इन क्षेत्रों से अपने उद्योगों के लिए कच्चा-माल प्राप्त कर सकें तथा उद्योगों द्वारा निर्मित माल इन क्षेत्रों में खपा सकें। इस होड़ में ब्रिटेन संसार के एक-चौथाई भू-क्षेत्र को अपना औपनिवेशिक साम्राज्य बनाने में सफल हुआ। नोल्स (Knowles) के शब्दों में, "19वीं शताब्दी का नया ब्रिटिश साम्राज्य रेलवे और स्टीमर के विकास का संयुक्त उत्पाद था।"

(7) **अहस्तक्षेपवादी नीति का परित्याग**—19वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में ब्रिटिश अर्थव्यवस्था पर परिवहन-क्रान्ति का हानिप्रद प्रभाव पड़ने लगा। जो रेलवे-मार्ग 1850 के बाद ब्रिटिश कृषि के लिए स्वर्णयुग लाए थे, 1870 के बाद उन्होंने ब्रिटिश कृषि को अवसाद के गर्त में धकेल दिया। रेलों के कारण अमेरिका और रूस के सस्ते खाद्यान्नों की ब्रिटिश बाजारों में बाढ़-सी आ गई। कृषि-वस्तुओं का मूल्य अत्यन्त नीचा हो गया, जिससे ब्रिटेन में कृषि उत्पादन हतोत्साहित हुआ। कुछ समय बाद मन्दी का अनुभव ब्रिटिश उद्योगों को भी हुआ, क्योंकि घरेलू

और विदेशी बाजारों में जर्मनी, फ्रांस और अमेरिका प्रबल प्रतिद्वन्दी बन चुके थे तथा ब्रिटिश उद्योगों के लिये बाजार घटने लगा था। इन परिस्थितियों ने ब्रिटेन को अहस्तक्षेपवादी नीति त्यागकर संरक्षणवादी नीति अपनाने के लिये बाध्य किया।

———

9

ब्रिटेन में श्रमिक-संघवाद

(Trade Unionism in Britain)

प्रश्न 1—इंगलैण्ड में श्रमिक-संघ आन्दोलन के विकास का वर्णन कीजिये। इसकी भारतीय श्रमिक-संघ आन्दोलन से तुलना कैसे की जाती है?

Trace the growth of trade union movement in England. How does it compare with that in India?

उत्तर—ब्रिटेन के श्रमिक-संघ आन्दोलन को औद्योगिक क्रान्ति का उत्पाद माना जा सकता है। औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भिक काल में ब्रिटिश पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों का तरह-तरह से शोषण किया जाता था। धीरे-धीरे सेवायोजकों की स्वार्थी प्रवृत्ति के विरुद्ध श्रमिकों में प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और वे परस्पर संगठित होने लगे। शैडवैल (Shadwell) के शब्दों में, "कारखानों ने श्रम-संघ को सम्भव बनाया तथा कारखाने की दशाओं ने इसे आवश्यक बना दिया।"

ब्रिटेन में श्रमिक-संघवाद का विकास

ब्रिटेन में श्रम-संघ आन्दोलन का विकास विभिन्न चरणों के अन्तर्गत हुआ, जिनका विवेचन निम्न प्रकार है—

(अ) जन्म-काल—मध्यकालीन ब्रिटेन में कारीगर-संघ (Craft Guilds) पाए जाते थे, जिनका निर्माण स्वयं सेवायोजकों द्वारा श्रमिकों के हितों की रक्षा हेतु किया जाता था। 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कारीगर संघों का पतन होने के बाद श्रमिकों और सेवायोजकों के बीच संघर्ष की भावना का उदय हुआ। श्रमिकों ने स्वयं को 'ट्रेड क्लब' के रूप में संगठित करना आरम्भ किया। परन्तु इन संघों के प्रति सरकार का दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण नहीं था। इन्हें ब्रिटेन की सामान्य विधि (Common Law) के सिद्धान्तों के विरुद्ध तथा व्यवसाय में बाधा डालने वाला षड़यन्त्र माना जाता था। 1720 में श्रमिकों द्वारा अपना संगठन बनाए जाने पर

कानूनी रोक लगा दी गई। ऐसी स्थिति में श्रम-संघवाद का विकास असम्भव था।

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत होने से परिस्थितियों में परिवर्तन आया। कारखाना-प्रणाली के विकास के कारण हजारों की संख्या में श्रमिक एक साथ रहने और काम करने लगे। अत: श्रमिकों को अपनी समस्याओं पर मिलजुलकर विचार-विमर्श करने का अवसर प्राप्त हुआ। 1789 में घटित राज्यक्रान्ति ने मानव-जाति को स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व का संदेश दिया। इससे ब्रिटिश श्रमिक अत्यधिक प्रभावित हुए तथा वे अपने संगठन बनाने लगे। 1793 में फ्रांस के साथ युद्ध आरम्भ होने पर ब्रिटिश सरकार ने ऐसे कानून पारित किए जिनसे श्रम संघों के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया। परन्तु वैधानिक प्रतिबन्धों के बावजूद श्रमिकों के संगठन गुप्त रूप से कार्य करते रहे। 1824 में पारित एक कानून के अन्तर्गत श्रमिक-संघों को वैधानिक मान्यता मिल गई।

4 **(ब) क्रान्ति-काल**—1829 के पश्चात् ब्रिटिश श्रमिकों में एक नई प्रकृति ने जन्म लिया। वे राष्ट्रीय स्तर पर संगठन बनाने लगे। इन संगठनों में 'The Grand General Union of United Kingdom' तथा National Association for the Protection of Labour' प्रमुख थे। रॉबर्ट ओवन (Robert Owen) के प्रयास से 183 में 'Grand National Consolidated Trade Union' की स्थापना हुई। परन्तु योग्य नेताओं और वित्त के अभाव में राष्ट्रीय स्तर के संगठन सफल नहीं हो पाए। इनकी असफलता से हतोत्साहित होकर श्रमिक राजनीतिक कार्यों की ओर अग्रसर हुए। श्रमिक 'चार्टिस्ट आन्दोलन' को समर्थन देने लगे, जो आर्थिक माँगों पर आधारित राजनीतिक आन्दोलन था। अ न्दोलन की शुरुआत 1936 में 'लन्दन श्रमजीवी संघ' की स्थापना के साथ हुई थी। 1939 में आंदोलनकारियों ने एक चार्टर तैयार किया, जिसमें छः माँगें सम्मिलित थीं—समान निर्वाचन-क्षेत्र, वयस्क मताधिकार, बैलट द्वारा मतदान, संसद की सदस्यता हेतु सम्पत्ति होने की शर्त का उन्मूलन, संसद-सदस्यों के लिये वेतन तथा वार्षिक भत्ता। इस चार्टर को ब्रिटिश सरकार ने अस्वीकार कर दिया। दो दलों में बंट जाने के कारण 1843 में चार्टिस्ट आन्दोलन समाप्त हो गया। इस आन्दोलन से श्रमिकों में राजनीतिक जागृति आई।

5 **(स) सतर्क प्रगति का काल**—चार्टिस्ट आन्दोलन की असफलता के बाद श्रम-आन्दोलन सतर्कता से आगे बढ़ने लगा। आन्दोलन को ठोस आधार प्रदान करने के लिये एकीकरण (Amalgamation) पर बल दिया जाने लगा। एकीकृत संघों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इन्जीनियरिंग उद्योग के श्रमिकों द्वारा 1951 में स्थापित संगठन था। कुछ प्रभावशाली श्रमिक नेताओं के प्रयास से 1864 में 'ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस' की स्थापना हुई। प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में ट्रेड कौंसिल स्थापित की गई, जिसका मुख्य कार्य विभिन्न श्रम-संगठनों के बीच सामंजस्य स्थापित करना था। 1865 में पारित श्रम-संघ

(निधि-संरक्षण) अधिनियम' के अन्तर्गत श्रम-संघों की निधियों को अस्थायी संरक्षण प्राप्त हुआ। 1871 में पारित 'श्रमिक-संघ अधिनियम' ने संयोजन-प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए तथा श्रम-सगठनों को 'मैत्री संगठनों' के रूप में रजिस्टर्ड कराने की सुविधा प्रदान की। इससे श्रम-संघों की वैधानिक स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ हो गई।

द) नवीन संघवाद—बीट्रिस (Beatrice) और सिडनी वेब (Sidney Webb) के शब्दों में, "1885 तक हस्तक्षेपहीन नीति श्रमिक-संघ नेताओं एवं सामान्य सदस्यों की एकमात्र राजनीतिक एवं सामाजिक धमकी थी। अगले एक दशक के भीतर हम समूचे श्रम-संघ जगत को समूहवादी विचारों से ओत-प्रोत तथा ट्रेड यूनियन काँग्रेस में समाजवादी दल को सर्वोच्च पाते हैं। यह वैचारिक क्रान्ति 19वीं शताब्दी के अन्तिम काल में श्रम-संघीय इतिहास की प्रमुख घटना है।" श्रमिक-संघ आन्दोलन पर समूहवादी विचारों की छाप पड़ने से 'नवीन-संघवाद' (New Unionism) का आविर्भाव हुआ। श्रमिक-संघों का गठन राजनीतिक आधार पर होने लगा। 1883 में 'सामाजिक जनतान्त्रिक संघ' तथा 1884 में 'फेबियन सोसाइटी' की स्थापना हुई। 1893 में 'स्वतन्त्र श्रमिक दल' की स्थापना हुई, जो एक समाजवादी दल था। 1899 तक सामाजिक जनतांत्रिक संघ, फेबियन सोसाइटी और स्वतन्त्र श्रमिक दल मिल-जुलकर ससद में अधिक से अधिक श्रमिक-प्रतिनिधि भेजने का प्रयास करने लगे। इस उद्देश्य से उन्होंने एक 'श्रमिक प्रतिनिधित्व कमेटी' गठित की, जो 1906 से लेबर पार्टी के रूप में काम करने लगी।

(य) वर्तमान शताब्दी में श्रमिक संघवाद—19वीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटेन का श्रम संघ आन्दोलन लगभग सभी क्षेत्रों में फैल गया। 1900 में श्रम-संघों की संख्या 1323 थी, जिनकी सदस्य संख्या 20·2 लाख थी। 1920 तक श्रम-संघों की संख्या बढ़कर 1364 और सदस्य-संख्या 42·4 लाख हो गई। तदुपरान्त श्रम-संघों के एकीकरण के फलस्वरूप 1939 तक उनकी संख्या घटकर 1019 रह गई, किन्तु उनकी सदस्य-संख्या बढ़कर 62·9 लाख हो गई। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् एकीकरण की प्रवृत्ति के कारण ब्रिटेन में श्रम-संघों की संख्या तो घटती गई, किन्तु उनकी सदस्य-संख्या तेजी से बढ़ती रही। 1865 में श्रम-संघों की संख्या 580 थी, जिनकी सदस्य-संख्या 101·8 लाख थी।

ग्रेट ब्रिटेन में श्रम-संघों का वर्तमान संगठन समानान्तर (Horizontal) है। 'स्थानीय इकाई' सबसे छोटी और आधारभूत संस्था होती है, जिसका मुख्य कार्य स्थानीय मामलों का निर्णय करना होता है। स्थानीय इकाइयों के ऊपर जिला परिषदें होती हैं, जिनमें स्थानीय इकाइयों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं। सबसे ऊपर राष्ट्रीय सस्थाएँ होती हैं जिनकी व्यवस्था राष्ट्रीय कार्यकारिणी परिषदों द्वारा की जाती है। 'ट्रेड यूनियन काँग्रेस' श्रम-संघों की शीर्षस्थ संस्था है। इसे श्रम-संघों की प्रतिनिधि संस्था के रूप में सरकारी मान्यता प्राप्त है। 'राष्ट्रीय एवं स्थानीय सरकारों के अधिकारियों की यूनियन' तथा 'अध्यापकों की राष्ट्रीय यूनियन' सरीखे संगठनों को

छोड़कर, श्रमिकों के शेष सभी संगठन ट्रेड यूनियन काँग्रेस से सम्बन्धित हैं। मजदूर दल (जिसने ब्रिटेन में अनेक बार सरकार बनाई है) की नीतियों के निर्धारण में श्रम-संघों का महत्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि इस दल की कार्यकारिणी में सम्मिलित 25 सदस्यों में से 22 सदस्य श्रमिक-संघों के होते हैं। श्रम-संगठनों की सदस्यता में स्त्री-श्रमिकों का हिस्सा 20 प्रतिशत है। संसार के किसी भी देश में श्रमिक-संघ आंदोलन इतना सुसंगठित और प्रभावशाली नहीं है, जितना कि ग्रेट ब्रिटेन में है। श्रमिकों की माँग स्वीकार कराने के अतिरिक्त श्रम-संघ विभिन्न प्रकार के श्रम-कल्याण कार्य भी सम्पन्न करते हैं। ब्रिटिश सरकार के प्रकाशन के अनुसार, श्रम-संघों के प्रयासों से ब्रिटिश श्रमिकों को पाँच प्रमुख लाभ हासिल हुए हैं—(i) अच्छी मजदूरी और कार्य की दशाओं में सुधार, (ii) शोषण और अन्याय के विरुद्ध सुरक्षा, (iii) कार्य के स्तर में सुधार तथा रोजगार की सुरक्षा' (iv) औद्योगिक नीति के निर्धारण में योगदान तथा (v) शिक्षा-सुविधाओं में वृद्धि।

ब्रिटिश एवं भारतीय श्रम-संघवाद की तुलना—ब्रिटेन और भारत के श्रम-संघ आन्दोलनों में कई कई समानताएँ दिखाई पड़ती हैं। सर्वप्रथम, दोनों ही देशों में श्रम-संघ आन्दोलन औद्योगिक क्रान्ति की देन है। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति भारत से पहले आई थी। इसीलिए श्रमिक-संघवाद का जन्म ब्रिटेन में बहुत पहले और भारत में बहुत बाद में हुआ। दूसरे, ब्रिटेन और भारत दोनों ही देशों में श्रम-संघों का ध्येय श्रमिकों के लिए काम की दशाएँ, काम के घण्टे, न्यूनतम मजदूरी, आदि निश्चित करना है। चौथे, दोनों ही देशों में श्रमिक संघवाद का इतिहास लम्बे संघर्ष का इतिहास रहा है; क्योंकि दोनों ही देशों में आन्दोलन को लम्बे समय तक सरकार एवं उद्योगपतियों के विरोध का सामना करना पड़ा है।

ब्रिटिश और भारतीय श्रम-संघ आन्दोलनों के बीच कुछ मूलभूत अन्तर भी विद्यमान हैं। सर्वप्रथम, ब्रिटेन के 90 से 95 प्रतिशत तक श्रमिक संगठित हैं, किन्तु भारत के लगभग तीन-चौथाई श्रमिक (जो कृषि, घरेलू सेवा, दुकानों तथा छोटे-छोटे कारखानों में संलग्न हैं) असंगठित हैं। दूसरे, भारत की अपेक्षा ब्रिटेन में श्रमिक-संघ बड़े आकार वाले हैं; क्योंकि जहाँ ब्रिटिश श्रम-संघों में एकीकरण और सहयोग की प्रवृत्ति विद्यमान है, वहीं भारतीय श्रम-संघों में बिखराव और टकराव की प्रवृत्ति विद्यमान है। तीसरे ब्रिटेन में श्रम-संघों की एक ही शीर्षस्थ संस्था है, जबकि भारत में उनके कई शीर्ष संगठन हैं, जो भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों से प्रभावित हैं। चौथे, सीमित सदस्यता के कारण भारतीय श्रम-संघों का वित्तीय आधार ब्रिटिश श्रम-संघों की तुलना में बहुत कमजोर है, इसीलिए ब्रिटिश श्रम-संघों की तरह भारतीय श्रम-संघों द्वारा श्रम-कल्याण कार्यों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। पाँचवें, भारतीय श्रमिकों की अपेक्षा ब्रिटिश श्रमिकों का शैक्षणिक धरातल एवं कमाई का स्तर ऊँचा है। अतः ब्रिटिश श्रमिक अपने संगठन का महत्व समझते हैं तथा उसे सफल बनाने में योगदान करते हैं। भारतीय श्रमिक अपने संगठन के प्रति अधिक जागरूक नहीं

हैं। छठे, भारत में श्रम-संघों का नेतृत्व पेशेवर राजनीतिज्ञों के हाथ में है, जिसके कारण श्रम-संघों की प्रवृत्ति विध्वंसात्मक अधिक है। ब्रिटेन में श्रम-संघों की प्रवृत्ति रचनात्मक अधिक है। सातवें, ब्रिटेन में श्रमिकों की पृथक् राजनीतिक पार्टी भी है, जिसने निर्वाचन में विजयी होकर कई बार अपनी सरकार बनाई है। भारतीय श्रमिक राजनीतिक आधार पर पूर्णतः बिखरे हुए हैं। इसलिए भारत में श्रमिकों का शोषण आज भी विद्यमान है।

10

ब्रिटेन में श्रम-विधान

(Labour Legislation in Britain)

प्रश्न 1--19वीं शताब्दी के आरम्भ से ब्रिटेन में श्रम सन्नियम के विकास की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये।

Give brief account of the labour legislation in Britain since the begining of 19th century.

उत्तर—श्रम आन्दोलन की तरह, ब्रिटेन का श्रम-विधान भी औद्योगिक क्रान्ति का उत्पाद है। **औद्योगिक क्रान्ति ने कारखाना-प्रणाली को जन्म दिया।** प्रारम्भ में काम के लम्बे घण्टे, कम मजदूरी, स्त्री एवं बाल-श्रमिकों का शोषण, कार्य का गन्दा वातावरण, प्रबन्धकों का दुर्व्यवहार और दुर्घटनाएँ कारखाना-प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ थीं। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व वणिकवादी नीति में विश्वास रखने के कारण ब्रिटिश सरकार उद्योगों पर नियन्त्रण रखती थी, किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् सरकार अहस्तक्षेपवादी नीति का अनुसरण करने लगी। अतः उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण समाप्त हो गया और ब्रिटिश श्रमिकों को लम्बे समय तक घुटन-शील वातावरण में काम करना पड़ा।

ब्रिटेन में श्रम-विधान का विकास

'प्रशिक्षुओं का स्वास्थ्य और मानसिकता अधिनियम' के नाम से ब्रिटेन में पहला श्रम-कानून 1802 में पारित हुआ। इसे सूती और ऊनी वस्त्र-मिलों पर लागू किया गया था। इसके अन्तर्गत प्रशिक्षुओं के कार्य के दैनिक घण्टे 12 निर्धारित किए गए तथा उनसे रात्रि के समय काम लेने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। 1819 में दूसरा

कारखाना अधिनियम पारित हुआ, जो केवल सूत्री-वस्त्र उद्योग पर लागू किया गया था। इसके अन्तर्गत 9 वर्ष से कम आयु के बच्चों की कारखानों में भर्ती रोक दी गई। 9 से 16 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए कार्य के दैनिक घण्टे 12 निश्चित किए गए तथा उनसे रात्रि के समय काम लेना प्रतिबन्धित कर दिया गया। इस अधिनियम को 1825 और 1831 में संशोधित किया गया। लगभग इसी समय राबर्ट ओवन (Robert Owen), ओसलर (Oastler), माइकेल सेडलर (Michel Sadler) तथा आशले कूपर (Ashley Cooper) सरीखे समाज-सुधारकों ने श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिए आन्दोलन आरम्भ किया। 1925 में श्रम-संघों को वैधानिक मान्यता मिलने पर श्रम-सन्नियम में सुधार की माँग बढ़ गई। अत: माइकेल सेडलर की अध्यक्षता में सरकार ने कारखानों की कार्य-प्रणाली की जाँच के लिए एक कमेटी नियुक्ति की, जिसकी सिफारिशों के आधार पर 1835 में तीसरा कारखाना अधिनियम पारित हुआ।

1833 का कारखाना अधिनियम—यह अधिनियम सूती और ऊनी वस्त्र उद्योगों के लिए था। इसके अन्तर्गत 9 से 13 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए कार्य के दैनिक घण्टे 9 तथा साप्ताहिक घण्टे 48 निर्धारित किए गए। 13 से 18 वर्ष तक की आयु के श्रमिकों के लिए कार्य के दैनिक घण्टे 12 और साप्ताहिक घण्टे 69 निश्चित किए गए। 18 वर्ष से कम आयु के श्रमिकों को रात्रि के समय काम पर लगाना निषिद्ध कर दिया गया। अधिनियम लागू करने के लिए कारखाना-निरीक्षकों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। अत: यह प्रथम प्रभावपूर्ण कारखाना अधिनियम था। ब्रिग्स और जोर्डन (Briggs and Jordan) के शब्दों में, "1833 का कारखाना अधिनियम ब्रिटिश श्रम-विधान के इतिहास में महत्वपूर्ण सीमा-चिन्ह था। इसमें सर्वप्रथम कानून के प्रभावी क्रियान्वयन की व्यवस्था की गई थी।"

1844 का कारखाना अधिनियम—इसके अन्तर्गत 8 से 13 वर्ष तक के बाल-श्रमिकों के लिए कार्य के दैनिक घण्टे साढ़े छ: तथा स्त्री-श्रमिकों के लिए कार्य के दैनिक घण्टे 11 निश्चित किए गए। खतरनाक मशीनों को ढक कर रखने की व्यवस्था की गई तथा कारखाना-निरीक्षकों के अधिकार बढ़ाए गए। 1847 में पारित कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत वयस्क श्रमिकों के लिए कार्य के दैनिक घण्टे 10 निर्धारित किए गए। तदुपरान्त विभिन्न संशोधनों द्वारा कारखाना-विधान का क्षेत्र बढ़ाया गया। 1860 में लेस कारखाने, 1862 में धुलाई एवं रंगाई के कारखाने, तथा 1868 में कैलिको प्रिंटिंग कारखाने श्रम-विधान के क्षेत्र में सम्मिलित किए गए। 1864 में पारित विशिष्ट विधान द्वारा बर्तन, दियासलाई, कारतूस, कागज-निर्माण, आदि उद्योगों में कारखाना अधिनियम लागू किए गए। 1867 में पारित 'कारखाना विधान विस्तारण अधिनियम' द्वारा लोहा एवं इस्पात, मुद्रण, काँच, जिल्द बँधाई तथा तम्बाकू के उन कारखानों पर श्रम-विधान लागू किया गया जिनमें 50 या अधिक श्रमिक कार्य करते थे।

1874 का कारखाना अधिनियम—इसके अन्तर्गत रोजगार के लिए न्यूनतम आयु 9 वर्ष से बढ़ाकर 10 वर्ष कर दी गई। 10 से 14 वर्ष तक के बाल-श्रमिकों की सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। स्त्री और पुरुष श्रमिकों के लिए कार्य के दैनिक घण्टे 10 और साप्ताहिक घण्टे 56½ नियत किए गए। 1878 में पारित 'फैक्टरी एवं वर्कशॉप अधिनियम' के अन्तर्गत विभिन्न नियम (Rules) और विनियमों (Regulations) को संहिताबद्ध किया गया। 189 में रोजगार के लिए न्यूनतम आयु बढ़ाकर 11 वर्ष कर दी गई। 1895 में बाल-श्रमिकों के लिए कार्य के साप्ताहिक घण्टे 30 नियत किए गए। चिकित्सकों पर मिल-मालिकों को व्यावसायिक रोगों की सूचना देने का दायित्व सौंपा गया।

20वीं शताब्दी में कारखाना विधान—20वीं शताब्दी में कारखाना-विधान के अन्तर्गत सुधार की प्रक्रिया जारी रही। 1901 में पारित 'फैक्टरी और वर्कशॉप अधिनियम' के अन्तर्गत रोजगार के लिए न्यूनतम आयु बढ़ाकर 12 वर्ष कर दी गई। वयस्क स्त्री-पुरुष श्रमिकों के लिए कार्य के साप्ताहिक घण्टे 55 कर दिए गए। 1937 और 1948 के कारखाना अधिनियमों के अन्तर्गत कार्य के साप्ताहिक घण्टे घटाकर 48 कर दिए गए। 191 में पारित 'फिशर शिक्षा अधिनियमों' के अन्तर्गत 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। अतः 1944 के विधान द्वारा रोजगार के लिए न्यूनतम आयु बढ़ाकर 15 वर्ष कर दी गई। 1950 में पारित 'दुकान अधिनियम' के अन्तर्गत दुकान खोलने और बन्द करने का समय निश्चित किया गया। प्रति सप्ताह आधे दिन के अवकाश की व्यवस्था की गई। किशोरों के लिए कार्य के साप्ताहिक घण्टे 48 तथा 16 वर्ष से कम आयु वाले बच्चों के लिए कार्य के साप्ताहिक घण्टे 44 निश्चित किए गए। 1959 के कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत श्रमिकों की सुरक्षा एवं स्वास्थ्य से सम्बन्धित विस्तृत नियम बनाए गए।

1961 का कारखाना अधिनियम - पिछले कारखाना अधिनियमों को सूत्रबद्ध करते हुए, ब्रिटिश सरकार ने 1961 में नया और व्यापक कारखाना अधिनियम पारित किया। इसके अन्तर्गत श्रमिकों की कार्य-दशाओं के बारे में न्यूनतम वैधानिक व्यवस्थाएँ सम्मिलित हैं, किन्तु व्यवहार में कार्य-दशाएँ श्रमिकों और सेवायोजकों के बीच सम्पन्न समझौतों (सामूहिक सौदेबाजी) द्वारा निर्धारित होती हैं, जो विधान द्वारा निर्धारित न्यूनतम व्यवस्थाओं से कहीं अधिक अनुकूल हैं। सभी बड़े उद्योगों में, जहाँ श्रमिक सुसंगठित और शक्तिशाली हैं, श्रमिकों को विधान द्वारा निर्धारित सुविधाओं से कहीं अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। 1961 के कारखाना अधिनियम की प्रमुख व्यवस्थाएं निम्नलिखित हैं —

(1) **कार्य के घण्टे**—पुरुष श्रमिकों के लिये कार्य के साप्ताहिक घण्टे 8 निर्धारित हैं, किन्तु व्यवहार में उन्हें प्रतिसप्ताह 40-42 घण्टे काम करना पड़ता है; क्योंकि कल-कारखानों में प्रति सप्ताह 5 या 5½ दिन काम चलता है। अधिनियम

में स्त्री-श्रमिकों और किशोरों के लिये कार्य के घण्टे पुरुष श्रमिकों से कम हैं। स्त्रियों और किशोरों से रात्रि के समय काम करना निषिद्ध है।

(2) **प्रति घण्टा आय**—साधारण पुरुष-श्रमिक की प्रतिघण्टा कमाई पौने पाँच से छः शिलिंग तक है। स्त्री-श्रमिकों की प्रतिघण्टा कमाई साढ़े तीन से पाँच शिलिंग तक है। श्रमिकों को समयोपरि कार्य के लिये औसत दर से अधिक मजदूरी का प्रावधान है।

(3) **अवकाश**—प्रत्येक रविवार और आधे शनिवार के साथ-साथ सार्वजनिक अवकाश के दिनों में भी श्रमिकों के लिये सवैतनिक अवकाश की व्यवस्था है। उन्हें वर्ष भर में 12 दिनों की सवैतनिक छुट्टियाँ अलग से मिलती हैं।

(4) **सुरक्षा**—अधिनियम में श्रमिकों की सुरक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रखना सेवायोजकों का दायित्व माना गया है। खतरनाक मशीनों को ढककर रखने, गतिशील मशीनों की सफाई, सुरक्षा-सम्बन्धी प्रशिक्षण, अग्नि-निरोधक व्यवस्था तथा हानिकारक गैसों से नेत्रों की सुरक्षा के बारे में समुचित व्यवस्थाएं की गई हैं। कृषि-श्रमिकों के लिये सुरक्षा की व्यवस्था 1956 के 'कृषि (सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं कल्याण प्रावधान) अधिनियम' द्वारा तथा खान-श्रमिकों के लिए सुरक्षा की व्यवस्था 1954 के 'खान और खदान अधिनियम' द्वारा की गई है।

(5) **स्वास्थ्य और चिकित्सा**—कारखानों में सफाई, प्रकाश, ताप-नियन्त्रण शुद्ध पेयजल, मूत्रालय, शौचालय एवं स्नानागार, प्राथमिक चिकित्सा तथा अनिवार्य डाक्टरी परीक्षा के बारे में समुचित नियम बनाए गए हैं। श्रमिकों के स्वास्थ्य की जाँच हेतु कारखानों में चिकित्सा-अधिकारी की नियुक्ति अनिवार्य कर दी गई है।

(6) **श्रम-कल्याण**—अधिनियम में कारखाना-श्रमिकों के लिए कल्याण-कार्यों (आवास, चिकित्सा, मनोरंजन, आदि) के आयोजन की न्यूनतम व्यवस्था सम्मिलित है, किन्तु व्यवहार में श्रमिकों और सेवायोजकों के आपसी समझौतों द्वारा श्रम-कल्याण कार्यों को व्यापक व्यवस्था हुई है। श्रमिकों के लिए सामाजिक-सुरक्षा की विस्तृत व्यवस्था विद्यमान है।

ब्रिटेन में खनन विधान—19वीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटेन के खान-श्रमिकों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। खान-मालिकों को विशिष्ट अधिकार वाली स्थिति प्राप्त थी। अतः वे तरह-तरह से श्रमिकों का शोषण करते थे। खानों में स्त्रियों और बच्चों से प्रतिदिन 15 घण्टे काम कराया जाता था। कारखाना-श्रमिकों के लिए कानून बनने के पश्चात् धीरे-धीरे खान-श्रमिकों की कार्य-दशाओं को नियन्त्रित करने की माँग आरम्भ हुई। सरकार ने खान-श्रमिकों की स्थिति की जाँच हेतु आयोग गठित किया, जिसकी सिफारिशों के आधार पर 1842 का 'कोयला-खान अधिनियम' पारित हुआ। इसके अन्तर्गत 10 वर्ष से कम आयु के बच्चों को काम पर लगाना तथा स्त्रियों से खान के भीतर काम लेना निषिद्ध ठहराया गया। खानों में वायु-प्रवेश, रोशनी, आदि की जाँच के लिए 1850 में सरकारी निरीक्षक

नियुक्त किए गए। 1855 में खान-श्रमिकों के स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियम बनाए गए। 1860 में खानों में रोजगार के लिए न्यूनतम आयु 20 वर्ष निर्धारित की गई।

1872 का खनन अधिनियम—इसके अन्तर्गत खाना-श्रमिकों के लिए कार्य के दैनिक घण्टे 10 निर्धारित किए गए। प्रत्येक खान में प्रमाणित प्रबन्धक की नियुक्ति अनिवार्य कर दी गई तथा उस पर श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा का दायित्व सौंपा गया। 1908 और 1912 में पारित खान अधिनियमों के अन्तर्गत खान-श्रमिकों के लिए कार्य के दैनिक घण्टे निर्धारित किए गए। खान-श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी तय करने के लिए जिला-स्तरीय कमेटी गठित की गई। 1920 में खान-श्रमिकों के लिए कार्य के दैनिक घण्टे घटाकर 7 कर दिये गए तथा उनको न्यूनतम मजदूरी तय करने के लिए 'राष्ट्रीय मजदूरी बोर्ड' का गठन किया गया। 1926 में कार्य के दैनिक घण्टे बढ़ाकर पुन: आठ कर दिए गए। 1946 में कोयला उद्योग के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् कोयले की खानों में संलग्न श्रमिकों की सुरक्षा एवं कल्याण का दायित्व सरकार पर आ गया। 1952 के 'खान-श्रमिक कल्याण अधिनियम' के अन्तर्गत खान-श्रमिक कल्याण-निधि (19,9 में स्थापित) की व्यवस्था का भार 'कोयला उद्योग सामाजिक कल्याण संगठन' को सौंप दिया गया।

1954 का खान एवं खदान अधिनियम—1961 के कारखाना अधिनियम की तरह, 1954 खान एवं खदान अधिनियम भी एक पूर्ण विधान है। इसमें खानों, खदानों के मालिकों और प्रबन्धकों के दायित्व, परिवहन की सुविधा, कार्य-योजना श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा की समुचित व्यवस्था सम्मिलित हैं। खान-श्रमिकों के लिए कार्य के साप्ताहिक घण्टे 48 निर्धारित हैं। स्त्रियों और बाल-श्रमिकों से रात्रि के समय काम लेना या उन्हें खान के भीतर काम पर लगाना निषिद्ध ठहराया गया है। खानों में दुर्घटनाओं से बचाव, खानों के निरीक्षण तथा श्रम-कल्याण कार्यों के आयोजन की व्यवस्था की गई है। प्रयोग में नहीं लाई जाने वाली खानों और खदानों की घेराबन्दी की व्यवस्था भी की गई है।

———

पर बढ़ाई गई हैं तथा बीमान्वित व्यक्तियों की विभिन्न श्रेणियों के लिये अलग-अलग हैं।

राष्ट्रीय बीमा योजना के अन्तर्गत नियोजित व्यक्तियों को सभी तरह के लाभ प्राप्त होते हैं। स्व-नियोजित व्यक्तियों को बेरोजगारी लाभ के सिवाय अन्य सभी लाभ प्राप्त होते हैं। बेरोजगार व्यक्तियों को बीमारी, बेरोजगारी एवं प्रसूति लाभ के अतिरिक्त अन्य सभी लाभ प्राप्त होते हैं। योजना के अन्तर्गत मिलने वाले लाभ निम्नलिखित हैं—

(अ) **बेरोजगारी लाभ**—यह लाभ प्रथम बार में 30 सप्ताह के मिलता है तथा कुल मिलाकर, 19 महीने तक मिलता है। लाभ की अवधि चन्दों की संख्या पर निर्भर करती है। लाभ की दर (नवम्बर 1981 से) 22·5 पौण्ड प्रति सप्ताह है।

(आ) **बीमारी लाभ**—यदि बीमान्वित व्यक्ति ने 156 बार से कम चन्दा दिया है तब बीमारी लाभ अधिकतम 12 माह के लिये मिल सकता है। परन्तु, 156 बार से अधिक चन्दा दिये जाने पर बीमारी की पूरी अवधि तक लाभ मिलता है। लाभ की दर 22·5 पौंड प्रति सप्ताह है।

(इ) **प्रसूति लाभ**—'प्रसूति लाभ' बच्चा पैदा होने से 11 सप्ताह पहले और 7 सप्ताह बाद तक मिलता है। लाभ की दर 25 पौण्ड प्रति सप्ताह है। यदि एक साथ एक से अधिक बच्चे पैदा होते हैं तथा अतिरिक्त बच्चा 12 घण्टे तक जीवित रहता है, तब प्रति बच्चा समान दर से प्रसूति लाभ मिलता है। यदि बच्चा घर पर या सरकारी अस्पताल से बाहर किसी स्थान पर पैदा हुआ है, तब 6 पौण्ड का अतिरिक्त लाभ मिलता है।

(ई) **विधवा लाभ**—बीमान्वित स्त्री को 'विधवा लाभ' उसके पति की मृत्यु-तिथि से 26 सप्ताह तक मिलता है। यदि विधवा स्त्री के पास छोटे बच्चे हैं या उसकी आयु 50 वर्ष की है, तब सहायता मिलनी जारी रहती है। लाभ की दर प्रथम 26 सप्ताह में 41·4 पौंड प्रति सप्ताह है। तदुपरान्त यह 29·6 पौंड प्रति सप्ताह हो जाती है तथा 'वैधव्य भत्ता' कहलाती है। विधवा स्त्री को प्रति नाबालिग बच्चा 7·5 पौंड का साप्ताहिक 'विधवा मातृ-भत्ता' भी मिलता है।

(उ) **मृत्यु लाभ**—प्रत्येक वयस्क की मृत्यु होने पर उसके आश्रितों को 25 पौंड की सहायता प्राप्त होती है। बच्चे या ऐसे व्यक्ति की मृत्यु पर (जिसे पेंशन की अवस्था पर पहुंचने में 10 वर्ष शेष थे) मृत्यु-लाभ की रकम घटा दी जाती है।

(ऊ) **वृद्धावस्था पेंशन**—जो व्यक्ति 65 वर्ष की आयु (औरत के लिए 60 वर्ष) प्राप्त कर चुके हैं तथा सेवा-निवृत्त हो गये हैं, पेंशन का लाभ पाते हैं पेंशन की दर बीमान्वित व्यक्ति की सेवा-अवधि पर निर्भर करती है। बीमान्वित पुरुष की पत्नि के लिये 17·75 पौंड प्रति सप्ताह पेंशन मिलने की व्यवस्था है

बीमान्वित पति-पत्नि की मृत्यु हो जाने पर उनके प्रत्येक बच्चे को 7·70 पौंड प्रति सप्ताह का 'संरक्षक भत्ता' मिलता है।

(3) **राष्ट्रीय बीमा औद्योगिक चोट योजना**—1897 से श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम से स्थान पर 'राष्ट्रीय बीमा औद्योगिक चोट योजना' जुलाई 1948 में आरम्भ की गई। आजकल यह योजना 1965 के 'राष्ट्रीय बीमा (औद्योगिक चोट) अधिनियम' द्वारा व्यवस्थित होती है। इसके अन्तर्गत यदि बीमान्वित व्यक्ति किसी औद्योगिक दुर्घटना या औद्योगिक बीमारी का शिकार हो जाता है, तब उसे तथा उसके आश्रितों को चोट लाभ या असमर्थता लाभ या मृत्यु लाभ प्राप्त होता है। 'चोट लाभ' (Injury Benefit) बीमारी या दुर्घटना की तिथि से 26 सप्ताह बाद तक मिलता है। लाभ की दर बीमान्वित व्यक्ति के लिए 25·25 पौंड प्रति सप्ताह, उसके प्रत्येक व्यस्क आश्रित के लिये 13·9 पौंड प्रति सप्ताह तथा प्रत्येक अव्यस्क आश्रित के लिए 10 8 पौंड प्रति सप्ताह है। यदि बीमान्वित श्रमिक बीमारी या दुर्घटना के कारण शारीरिक या मानसिक शक्ति गवाँ देता है, तब उसे 'असमर्थता लाभ' (Disablement Benefit) मिलता है। इसकी राशि और अवधि मेडिकल बोर्ड द्वारा निश्चित की जाती है। पूर्ण असमर्थ श्रमिक को प्रति सप्ताह 9·6 पौंड से लेकर 48 3 पौंड तक का लाभ मिलता है। आंशिक रूप से असमर्थ श्रमिक को 210 पौण्ड तक का आनुतोषिक मिलता है। विशिष्ट परिस्थितियों में असमर्थता लाभ बढ़ाए जाने का प्रावधान भी है। बीमान्वित श्रमिक की मृत्यु हो जाने पर उसके आश्रितों का 'मृत्यु लाभ' (Death Benefit) मिलता है। लाभ की दर श्रमिक की बिधवा के लिए प्रथम 26 सप्ताह तक 41.4 पौण्ड प्रति सप्ताह है। इसके बाद लाभ की द विधवा की आयु तथा आय के साधनों के अनुसार तय की जाती है। इसके अतिरिक्त पारिवारिक भत्ते की सीमा के भीतर की आयु के बच्चों को सहायता भी दी जाती है।

(4) **पूरक लाभ योजना**—1948 के 'राष्ट्रीय सहायता अधिनियम' के अन्तर्गत मिलने वाली सहायता को समाप्त करते हुए, ब्रिटेन में 1966 के 'सामाजिक सुरक्षा अधिनियम' के अन्तर्गत निर्धनों के लिए पूरक लाभ की योजना आरम्भ की गई है। योजना की व्यवस्था के लिए सामाजिक सुरक्षा मन्त्रालय के अधीन 'पूरक लाभ आयोग' गठित किया गया है। योजना के अन्तर्गत 16 वर्ष से अधिक आयु वाला व्यक्ति कोई भी व्यक्ति सहायता प्राप्त कर सकता है, यदि वह सामाजिक सुरक्षा की अन्य व्यवस्थाओं के अन्तर्गत नहीं आता है या उसे दूसरी व्यवस्थाओं से मिलने वाली सहायता की राशि अपर्याप्त है। ऐसी सहायता पाने के लिए प्रार्थना-पत्र देना होता है। सहायता की राशि प्रार्थी की आवश्यकता तथा आर्थिक परिस्थिति के अनुसार निश्चित की जाती है। दृष्टिहीन और क्षयरोग से पीड़ित व्यक्तियों को अधिक सहायता मिलती। सहायता पाने के लिए किसी रोजगार कार्यालय में नाम दर्ज कराने की शर्त है।

(5) **युद्ध पेन्शन योजना**— इस योजना के अन्तर्गत युद्ध में शारीरिक दृष्टि से असमर्थ हुए सैनिकों को पेन्शन के भुगतान की व्यवस्था है। पूर्ण असमर्थता की स्थिति में सरकारी कोष से न्यूनतम 10 पौण्ड प्रति सप्ताह की पेन्शन मिलती है, यद्यपि पद (Rank) के अनुसार पेन्शन की रकम अधिक भी हो सकती है। उसे बेरोजगारी भत्ता और पारिवारिक भत्ता भी मिलता है। युद्ध में वीरगति प्राप्त सैनिकों की विधवाओं को 7.8 पौण्ड प्रति सप्ताह की पेन्शन मिलती है। ऐसी विधवाओं को बच्चों के लिए अतिरिक्त भत्ता (पारिवारिक भत्ते सहित) भी मिलता है।

(6) **कल्याणकारी सेवाएं**—ब्रिटेन में अशक्त और निराश्रित वृद्ध व्यक्तियों के लिए आवास गृह की व्यवस्था है। दृष्टिहीन व्यक्तियों के लिए सहायता की व्यवस्था है 1948 के 'शिशु अधिनियम' के अन्तर्गत स्थानीय संस्थाएँ 18 वर्ष से कम आयु के अनाथ, परित्यक्त और निर्धन बच्चों को सहायता प्रदान करती हैं। समाज-सेवी सगठन भी निर्धनों, वृद्धों और अपाहिजों को विभिन्न प्रकार की सहायता प्रदान करते हैं।

12

ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

(Recent Tendencies of British Economy)

प्रश्न 1—ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियों के मुख्य लक्षणों का विवेचन कीजिए।

Explain the main features of the recent tendencies of British economy.

उत्तर—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन की प्रमुख समस्या आर्थिक पुन-निर्माण की थी। 'मार्शल प्लान' के अन्तर्गत अमेरिका से प्राप्त सहायता के आधार पर ब्रिटेन ने आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य 1950–51 तक पूरा कर लिया। उसकी विनिमय-संकट की समस्या भी पर्याप्त सीमा तक सुलझ गई। परन्तु 1952-56 के बीच आर्थिक विकास की दर जहाँ जर्मनी में 38 प्रतिशत, नीदरलैन्ड में 27 प्रतिशत, इटली में 26 प्रतिशत और फ्रांस में 20 प्रतिशत रही, वहीं ग्रेट ब्रिटेन में मात्र 15 प्रतिशत रही। पोलिटिकल एण्ड इकानॉमिक प्लानिंग में प्रकाशित

ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की वृद्धि' नामक विवरण के अनुसार, दूसरे प्रमुख देशों की अपेक्षा 1957 में ब्रिटिश सकल राष्ट्रीय उत्पाद का सूचकांक (आधार वर्ष 1938) बहुत कम था। जहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका में यह 229 और पश्चिमी जर्मनी में 220 था, वहीं ग्रेट ब्रिटेन में केवल 135 था। 1957 में औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक (आधारवर्ष 195J) पश्चिमी जर्मनी में 311 और ब्रिटेन में 121 था। इसी वर्ष प्रति श्रमिक उत्पादन का सूचकांक (आधार वर्ष 1953) फ्रांस में 140 पश्चिमी जर्मनी में 133 और ब्रिटेन में 110 था।

ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियाँ—ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

(1) राष्ट्रीय उत्पादन और रोजगार—1966 में ब्रिटेन के सकल राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्य 32,339 मिलियन पौण्ड था, जो 1984 में बढ़कर 2 ,9506 मिलियन पौण्ड हो गया। 1960 से लेकर 1984 तक ब्रिटेन में प्रतिव्यक्ति आय 2 प्रतिशत वार्षिक दर (औसतन) से बढ़ी, जिसका मुख्य कारण जनसख्या-वृद्धि की अपेक्षा राष्ट्रीय आय में वृद्धि की ऊंची दर था।

1984 में ब्रिटेन की कुल कार्यशील जनसंख्या (श्रमशक्ति) 300 लाख थी। 270 लाख व्यक्ति रोजगार-प्राप्त थे और 30 लाख बेरोजगार। रोजगार-प्राप्त व्यक्तियों में से 25 लाख स्व-नियोजित (Self-employed) थे। शेष 220 लाख व्यक्ति 'कर्मचारी' थे। कुल श्रमशक्ति में बेरोजगारों का अनुपात 10 प्रतिशत था, जबकि यह अनु ात 1967 में 2.3 प्रतिशत तथा 1>76 में 5.8 प्रतिशत था। स्पष्ट है कि विगत दो दशकों में बेरोजगारी तेजी से बढ़ी है। 1984-85 में ब्रिटिश सरकार ने प्रशिक्षण कार्यक्रमों पर 200 करोड़ पौण्ड की रकम खर्च की, जिससे लगभग 7 लाख बेरोजगार व्यक्ति लाभान्वित हुए।

(2) राष्ट्रीय आय का उद्योगवार वितरण—ब्रिटेन की 2 प्रतिशत श्रमशक्ति कृषि-क्षेत्र में संलग्न है। राष्ट्रीय आय में कृषि-क्षेत्र का अंशदान भी 2 प्रतिशत है। 33 प्रतिशत राष्ट्रीय आय उद्योग-क्षेत्र से और शेष 65 प्रतिशत सेवा-क्षेत्र से प्राप्त होती है। राष्ट्रीय आय में परिवहन और संचार सेवाओं का हिस्सा 20 प्रतिशत तक रहता है। कृषि-उत्पादन बढ़ने के बावजूद, राष्ट्रीय आय में कृषि-क्षेत्र का हिस्सा निरन्तर घटता गया है।

(3) राष्ट्रीय व्यय का वितरण—निम्न तालिका 1958 के मूल्य-स्तर पर विभिन्न मदों के अन्तर्गत राष्ट्रीय व्यय का प्रतिशत वितरण दर्शाती है—

मदें	1951	1966	1984
1. निजी उपभोग-व्यय	55.2	54·[illegible]	47·3
2. लोक संस्थाओं का चालू व्यय	15·2	12·5	16·9
3. घरेलू स्थिर पूंजी-निर्माण	10·5	15·5	13·5
4. स्टॉक में विनियोग	2·5	0·6	—
6. वस्तुओं और सेवाओं का निर्यात	16·6	17·3	22·3
कुल व्यय	100·0	100·0	100·0

तालिका से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय व्यय में निजी उपभोग का अनुपात घटा है; किन्तु, सार्वजनिक व्यय तथा विनियोग का अनुपात बढ़ा है।

(4) **बचत एवं विनियोग**—विगत वर्षों में ब्रिटेन का सकल स्थिर निवेश (Gross Fixed Investment) तेजी से बढ़ा है। कुल राष्ट्रीय निवेश में स्थिर निवेश का हिस्सा 1951 में 15 प्रतिशत से बढ़कर 1966 में 28 प्रतिशत हो गया था, यद्यपि 1984 में यह घटकर 24 प्रतिशत रह गया। सकल स्थिर निवेश में लोक क्षेत्र का हिस्सा 40 प्रतिशत रह सकता है; जबकि सकल स्थिर निवेश का 22 प्रतिशत भाग विनिर्माणी उद्योगों में लगाया जाता है। निवेश वृद्धि के साथ-साथ ब्रिटेन में बचत की राशि भी बढ़ती गई है, जिसे निम्न तालिका में दर्शाया गया है—

(मिलियन पौंड में)

बचत के स्रोत	1956	1966	1984
1. व्यक्तिगत	823	1,967	7,075
2. कम्पनियाँ (निजी)	2,038	3,099	12,365
3. लोक निगम	205	621	3,500
4. केन्द्रीय एवं स्थानीय सरकारें	538	1,646	4,800
कुल बचत	3,604	7,333	27,75,

तालिका से स्पष्ट है कि कुल बचतों में लोक क्षेत्र (लोक निगम, केन्द्रीय सरकार एवं स्थानीय संस्थाएँ) का हिस्सा 1956 में 20·6 प्रतिशत से बढ़कर 1984 में 29·9 प्रतिशत हो गया।

(5) **विदेशी व्यापार** विदेशी व्यापार सदियों से ब्रिटिश अर्थव्यवस्था का प्रमुख अंग रहा है। ब्रिटेन प्रमुख रूप से खाद्य-पदार्थों तथा औद्योगिक कच्चे-मालों का आयात कर्त्ता एवं विनिर्मित माल का निर्यात कर्त्ता है। विगत वर्षों में ब्रिटेन की आयात-निर्यात संरचना में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित नहीं हुआ है। 1954 में ब्रिटिश निर्यातों का मूल्य 70,400 मिलियन पौंड तथा आयातों का मुल्य 74,600 मिलियन पौंड था। पिछले दशक में ब्रिटेन का निर्यात-व्यापार 3 प्रतिशत तथा आयात-व्यापार 4 प्रतिशत वार्षिक दर (औसतन) से बढ़ा है। फलतः व्यापार-सन्तुलन का घाटा बढ़ता जा रहा है। युद्धोत्तर काल में अमेरिका और कनाडा से प्राप्त ऋणों की भुगतान-सम्बन्धी आवश्यकता के कारण ब्रिटेन का भुगतान-सन्तुलन भी प्रतिकूल रहता है।

(6) **मुद्रा-स्फीति**—पिछले एक दशक से दूसरी विकसित अर्थव्यवस्थाओं की तरह, **ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को भी मुद्रा-स्फीति** का सामना करना पड़ रहा है। इसका मूल कारण वास्तविक आय (वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन) में विस्तार की अपेक्षा मौद्रिक आय का तेजी से बढ़ना है। माँग-प्रेरित एवं लागत-प्रेरित स्फीति को

नियन्त्रित करने के उद्देश्य से सरकार ने कठोर मौद्रिक एवं राजकोषीय उपाय किए हैं, जैसे—बैंक-साख की मात्रा एवं आवश्यक वस्तुओं की कीमतों पर नियन्त्रण, किराया-खरीद पर नियन्त्रण, प्रत्यक्ष करों में वृद्धि, सार्वजनिक व्यय के ढाँचे में परिवर्तन, आदि।

(7) **आर्थिक नियोजन**—आर्थिक विकास अथा औद्योगिक क्षमता को प्रोत्साहित करने के ध्येय से ब्रिटेन में दीर्घकालीन आर्थिक नियोजन की नीति अपनाई गई है। आर्थिक नियोजन को क्रियान्वित करने की जिम्मेदारी 1964 में स्थापित 'आर्थिक मामलों के विभाग' पर है। आर्थिक नियोजन से सम्बद्ध अन्य संस्थाएँ हैं—राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद तथा आर्थिक विकास कमेटी। 1965 में स्थापित 'कीमतों एवं आयों के लिए राष्ट्रीय बोर्ड' आय एवं कीमत से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करता है। सरकार की आय एवं मूल्य-नीति का प्रधान उद्देश्य मौद्रिक आय में वृद्धि की दर को राष्ट्रीय उत्पादन में दीर्घकालीन वृद्धि की दर समायोजित करना है। ब्रिटेन में सार्वजनिक व्यय के दीर्घकालीन नियोजन का प्रयास भी किया गया है। प्रादेशिक आर्थिक नियोजन के उद्देश्य से स्काटलैंड और वेल्स को एक-एक इकाई मानते हुए, इंगलैंड को आठ क्षेत्रों में बाँटा गया है। इनमें से प्रत्येक क्षेत्र की आर्थिक समस्याओं तथा उपलब्ध साधनों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करने के उपरान्त क्षेत्रीय विकास की योजनाएँ तैयार की जाती हैं।

———

भाग—3

संयुक्त राज्य अमेरिका का आर्थिक विकास

(Economic Development of U. S.A.)

1. संयुक्त राज्य अमेरिका के प्राकृतिक संसाधन
2. अमेरिका का उपनिवेशीकरण
3. अमेरिकी क्रान्ति
4. पश्चिम की ओर प्रयाण
5. अमेरिकी गृह युद्ध
6. अमेरिकी कृषि का विकास
7. अमेरिकी उद्योगों का विकास
8. संयुक्त राज्य अमेरिका में संयोजन आन्दोलन
9. संयुक्त राज्य अमेरिका में परिवहन का विकास
10. अमेरिकी प्रशुल्क-नीति
11. संयुक्त राज्य अमेरिका में श्रमिक-संघवाद
12. महान आर्थिक अवसाद एवं न्यू-डील
13. युद्धोत्तरकाल में अमेरिकी अर्थव्यवस्था

स्मरणीय वाक्य

1. "यदि ग्रेनविल और टाउनशेड नहीं होते, तब भी अमेरिकी क्रान्ति अवश्य होती; क्योंकि यह क्रान्ति ब्रिटिश पूँजीवाद तथा अमेरिकी व्यापारियों, बागान-मालिकों एवं किसानों के बढ़ते हुए आर्थिक हितों के मध्य संघर्ष की उपज थी।" —**फॉकनर**
2. "अमेरिकी इतिहास पर्याप्त अंश तक महान पश्चिम के उपनिवेशीकरण का इतिहास है। मुक्त-भूमि के क्षेत्र का अस्तित्व, इसका निरन्तर पुनरुत्थान तथा अमेरिकी-निवासियों का पश्चिम की ओर प्रयाण अमेरिकी विकास को करते हैं।" —**टर्नर**
3. "गृह-युद्ध के कारण संघीय सरकार दक्षिण के कृषि-दासतन्त्र (Agrarian Slavocracy) के नियन्त्रण से हटकर उत्तर के उदीयमान औद्योगिक धनिक-तन्त्र (Industrial Plutocracy) के नियन्त्रण में चली गई।" —**फॉकनर**
4. "1808 को संयुक्त राज्य अमेरिका की यूरोप पर औद्योगिक वस्तुओं के लिए निर्भरता तथा औद्योगिक स्वावलम्बन के बीच विभाजक रेखा खींचने का समय माना जा सकता है।" —**बोगर्ट**
5. "मुक्त व्यापार एवं संरक्षण के साथ-साथ आनन्द ने संयुक्त राज्य अमेरिका के अद्वितीय विकास और विलक्षण समृद्धि में योगदान किया है।" —**बलाइन**
6. "राष्ट्रपति रूजवैल्ट की न्यू-डील नीति आर्थिक अस्त्रों द्वारा अवसाद से लड़ने की प्रथम आर्थिक विधि थी तथा इस रूप में यह अपूर्व थी।" —**फॉकनर**
7. "न्यू-डील नीति अबन्धवाद का पतन प्रदर्शित करती है, किन्तु पूँजीवाद की समाप्ति नहीं।" —फॉकनर
8. "न्यू-डील ने सामाजिक प्रगति की सीमा का विस्तार किया।" —रूजवैल्ट
9. "व्यक्तिवादी दर्शन ने संयुक्त राज्य अमेरिका में विशेष रूप से अनुकूल वातावरण पाया है। जनसंख्या की सापेक्ष कमी व्यक्तियों का सामाजिक-आर्थिक महत्व बढ़ाने की ओर प्रवृत्त हुई है।" —**विलियम्पसन**
10. "अमेरिका में कृषिजन्य अत्युत्पादन की समस्या हल नहीं हुई है, किन्तु इसकी लागत का सामाजीकरण हो गया है। अब कृषक अत्युत्पादन का समस्त भार वहन नहीं करता, अपितु बहुत-कुछ सीमा तक इसमें करदाताओं तथा शहरी उपभोक्ताओं का हिस्सा हो गया है।" —**हरमैन क्रॉस**

1

संयुक्त राज्य अमेरिका के प्राकृतिक संसाधन

(Natural Resources of U. S. A.)

प्रश्न 1—संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रमुख प्राकृतिक संसाधनों का परीक्षण कीजिए। उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका के आर्थिक विकास में कैसे सहायता की है ?

Examine the important natural resources of U. S. A. How have they helped in the economic development of U. S. A. ?

उत्तर— यदि 19वीं शताब्दी ग्रेट ब्रिटेन की शताब्दी थी, तब 20वीं शताब्दी थी, संयुक्त राज्य अमेरिका की शताब्दी है। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह संसार का पाँचवाँ तथा जनसंख्या की दृष्टि से संसार का चौथा बड़ा देश है, किन्तु आर्थिक दृष्टि से यह संसार का सर्वोच्च देश है। सम्पूर्ण संसार के 7 प्रतिशत से अधिक भू-क्षेत्र तथा 6 प्रतिशत से कम जनसंख्या वाला यह देश संसार के कुल उत्पादन का 1/3 तथा विनिर्मित माल का 1/2 भाग उत्पन्न करता है। प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता के विचार से यह संसार का सबसे सम्पन्न राष्ट्र है।

अमेरिका के प्राकृतिक संसाधन—संयुक्त राज्य अमेरिका के प्राकृतिक संसाधनों का विवेचन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है

(1) भौगोलिक स्थिति एवं क्षेत्रफल—संयुक्त राज्य अमेरिका एक ओर मैक्सिको एवं कनाडा तथा दूसरी ओर प्रशान्त महासागर एवं अटलांटिक महासागर के बीच स्थित है। इसका विस्तार 250° उत्तरी अक्षांश से 490° उत्तरी अक्षांश तक 65° पश्चिमी देशान्तर से 125° पश्चिमी देशान्तर तक फैला हुआ है। जलवायु, उत्पादन और व्यापार के विचार से इसमें उत्तरी अमेरिका महाद्वीप के सबसे अच्छे भाग सम्मिलित हैं। पूरब, पश्चिम और दक्षिण में महासागरों से घिरा हुआ होने के कारण इसे संसार के समस्त देशों तक जाने के लिए समुद्री मार्ग उपलब्ध है। इसका क्षेत्रफल 9,363 वर्ग किलोमीटर है, जो समूचे यूरोप का दो-तिहाई भाग है। संसार के अनेक छोटे-छोटे देश इसके क्षेत्रफल में समा सकते हैं।

(2) जलवायु और जलवर्षा—समग्र रूप से अमेरिका की जलवायु समशीतोष्ण मानी जा सकती है, क्योंकि इसके अधिकतर भाग समशीतोष्ण के कटिबन्ध में स्थित हैं। परन्तु विस्तृत क्षेत्रफल के कारण यहाँ जलवायु की विभिन्नता भी पाई जाती है। समशीतोष्ण जलवायु श्रमिकों की कार्यक्षमता के विचार से

सर्वोत्तम मानी जाती है। जलवायु की तरह, जलवर्षा का भी मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों से गहरा सम्बन्ध है। अमेरिका में जलवर्षा का वार्षिक औसत 26.6" है। यद्यपि यह दक्षिणी भाग में 5" से लेकर उत्तरी कैलिफोनिया, वाशिंगटन तथा ओरगान में 60" तक है। अमेरिका के अधिकतर भाग की जलवायु और जलवर्षा गेहूँ के उत्पादन हेतु उत्तम है।

(3) **मिट्टी**—यद्यपि अमेरिका का केवल 40 प्रतिशत भू-क्षेत्र ही खेती-बारी के लिए उपयुक्त है; तथापि मिट्टी और जलवायु की विभिन्नता के कारण यहाँ विभिन्न प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं। अमेरिका का कृषित-क्षेत्र इतना विशाल है कि यहाँ बड़े पैमाने पर अकाल की अनुभूति कभी नहीं हुई। अमेरिका के अधिकांश भाग की मिट्टी उपजाऊ है। फलतः यहां कृषि-उत्पादकता का स्तर ऊंचा है।

(4) **वन-सम्पदा**—अमेरिका में लगभग 400 मिलियन एकड़ क्षेत्र वनों के अन्तर्गत है, जो इसके कुल भौगोलिक क्षेत्र का 19 प्रतिशत है। अमेरिका के प्रमुख वन-क्षेत्र हैं– न्यूइंगलैण्ड स्टेट का तटवर्ती वन-क्षेत्र, अल्पेचियन वन-क्षेत्र, झीलों के समीपवर्ती वन-क्षेत्र, प्रशान्त महासागर का तटवर्ती वन-क्षेत्र, रॉकी पर्वत का वन-क्षेत्र, अटलांटिक का तटवर्ती न्यूजर्सी एवं टेक्सास वन-क्षेत्र, मध्यवर्ती वन-क्षेत्र तथा मिसिसिपी वन-क्षेत्र। कनाडा और रूस के वनों की तरह, अमेरिकी वन एक ही पेटी में फैले नहीं हैं, लकड़ी का उत्पादन घरेलू माँग से कम रहने के कारण अमेरिका को प्रतिवर्ष कनाडा से लकड़ी आयात करनी पड़ती है।

(5) **पशु सम्पदा**—अमेरिका की पशु सम्पदा विशाल है। पशुओं में गाय और सूअर की प्रधानता है। यहाँ दुग्धशालाओं का विस्तार बड़े पैमाने पर हुआ। मकई की अत्याधिक उपज के कारण सूअर पालन व्यवसाय उन्नत हैं। सूअरों की संख्या और प्रजाति की दृष्टि से अमेरिका संसार भर में आगे है। रॉकी तथा दूसरे पर्वतीय प्रदेशों में भेंड़ें अधिक पाली जाती हैं। मुर्गियों की संख्या भी अमेरिका में सबसे अधिक है। दक्षिणी, पेंसिलवेनिया और कैलिफोर्निया मुर्गीपालन के प्रमुख क्षेत्र हैं। सूअर-मांस के प्रमुख केन्द्र शिकागो, ओहियो और कन्सास हैं।

(6) **खनिज पदार्थ**–खनिज सम्पदा के विचारों से अमेरिका संसार का सबसे सम्पन्न देश है। अमेरिकी कोयला, लोहा एवं खनिज तेल के भण्डार संसार भर में विशाल हैं। अमेरिका में इन खनिजों की उत्पादन-मात्रा भी दूसरे देशों की अपेक्षा अधिक है। ताँबा, जस्ता, सीसा, सोना-चाँदी, टंगस्टन, पारा, गन्धक, प्राकृतिक गैस, फास्फेट, आदि खनिजों की उपलब्धता के विचार से भी अमेरिका धनी देश है। यहाँ 38 हजार से भी अधिक खानें हैं, जिनसे लगभग 100 किस्म के खनिज पदार्थ निकाले जाते हैं। अधिकांश खनिज-उत्पादन पश्चिमी संयुक्त-राज्य, टेक्सास और कैलिफोर्निया से प्राप्त होता है।

(7) **शक्ति के स्रोत**—कोयला, खनिज तेल और नदियों में प्रवाहित जल शक्ति के तीन प्रमुख 'स्रोत' माने जाते हैं तथा अमेरिका की स्थिति इन तीनों ही

स्रोतों में सुदृढ़ है। अमेरिका कोयले का सबसे बड़ा उत्पादक देश है। यहाँ का अधिकांश कोयला उच्च कोटि का है। यद्यपि अमेरिकी खानों से अब तक 30 लाख टन कोयला निकाला जा चुका है, किन्तु यह मात्रा कोयले के सम्भावित भण्डार की केवल एक प्रतिशत है। खनिज तेल के उत्पादन में भी अमेरिका का प्रमुख स्थान है। खनिज तेल के भण्डार 9 हजार वर्ग मील क्षेत्र में फैले हुए हैं। कोयले और खनिज तेल की तरह, जलविद्युत के उत्पादन में भी अमेरिका का संसार भर में प्रथम स्थान है। इसकी नदियाँ और झरने जलशक्ति के अक्षय स्रोत हैं। अनुमान है कि संसारभर में उत्पादित जलविद्युत का 45 प्रतिशत भाग अकेले अमेरिका द्वारा उत्पन्न किया जाता है।

(8) **जल-मार्ग**—अटलांटिक और प्रशान्त महासागरों से घिरा होने के कारण अमेरिका के पास संसार के समस्त देशों के लिये समुद्री मार्ग उपलब्ध हैं। इसके पूर्वोत्तर तट पर बहुत-सी खाड़ियाँ होने के कारण सुरक्षित बन्दरगाह पाए जाते हैं। अमेरिका में आन्तरिक जल-मार्गों की लम्बाई 44,800 किलोमीटर है। इसके उत्तरी भाग में बड़ी-बड़ी झीलें हैं, जिन्हें परिवहन योग्य बनाने के लिये परस्पर जोड़ दिया गया है। अमेरिका की अधिकांश भूमि समतल है, जिसके कारण स्थल-परिवहन की सुविधाओं का तेजी से विकास सम्भव हुआ है।

(9) **मानवीय संसाधन**—1980 में अमेरिका की जनसंख्या 57·6 करोड़ थी, जो संसार की कुल जनसंख्या की 6 प्रतिशत से कम थी। अमेरिकी जनसंख्या में कार्यशील आयु-वर्ग की जनसंख्या का प्रतिशत ऊँचा है। जन्म-दर और मृत्यु-दर संसार भर में नीची है तथा औसत जीवन-अवधि सबसे अधिक है। अधिकांश जनसंख्या शहरों में बसती है। कृषि-क्षेत्र में केवल 2 प्रतिशत श्रम शक्ति संलग्न है। समशीतोषण जलवायु तथा रहन-सहन के ऊँचे स्तर के कारण अमेरिका में श्रमिकों की कार्यक्षमता का स्तर ऊँचा है। साक्षरता का अनुपात शत-प्रतिशत है।

प्राकृतिक संसाधनों का आर्थिक विकास पर प्रभाव—आर्थर लुईस (Arthur Lewis) के शब्दों में, "अन्य बातें समान रहने पर, व्यक्ति निर्धन साधनों की अपेक्षा धनी-साधनों का उत्तम उपयोग कर सकते हैं।" विस्तृत भू-क्षेत्र, प्रचुर प्राकृतिक संसाधन तथा आदर्श भौगोलिक स्थिति ने अमेरिका के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। अमेरिका की जलवायु शारीरिक एवं मानसिक कार्यों के निष्पादन हेतु अनुकूल है। उर्वर मिट्टी और विशाल कृषित-क्षेत्र के कारण अमेरिका में अधिकांश कृषि-फसलों का उत्पादन घरेलू आवश्यकताओं से अधिक होता है। मकई, मई, कपास और तम्बाकू के उत्पादन में अमेरिका का विश्व में पहला स्थान है। गेहूं के उत्पादन में दूसरा और जौ के उत्पादन में तीसरा स्थान है। अमेरिका का समूचा पूर्वी भाग उर्वर मैदान है। खनिज पदार्थों की प्रचुरता ने अमेरिका का तेजी से औद्योगीकरण सम्भव बनाया है : कोयला, लोहा, बाक्साइड, ताँबा, जस्ता, सीसा और खनिज तेल के उत्पादन में अमेरिका का विश्व में प्रथम स्थान है। चाँदी के उत्पादन में इसका दूसरा स्थान है। सूतीवस्त्र, इस्पात और मोटरगाड़ियों के निर्माण में इसका प्रथम

स्थान है। खनिज पदार्थों की प्रचुरता तथा देश के भीतर उनके अनुकूल वितरण के साथ वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति ने मिलकर अमेरिका को 'औद्योगिक सर्वोच्चता' प्रदान की है। विशाल समुद्री तट और प्राकृतिक बन्दरगाहों की उपलब्धता ने अमेरिका के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित किया है। समतल भूमि के कारण यहाँ रेल, एवं सड़क यातायात का तेजी से विकास हुआ है। रेलवे-प्रणाली और वायु परिवहन के विचार से अमेरिका का विश्व में प्रथम स्थान है। प्राकृतिक संसाधनों के इष्टतम उपयोग ने देशवासियों को रहन-सहन का ऊंचा स्तर प्रदान किया है।

प्रश्न 2. अमेरिकी आर्थिक विकास के सन्दर्भ में आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन कीजिये।

Discuss the different stages of economic growth with reference to the American economic growth.

उत्तर- संयुक्त राज्य अमेरिका का आर्थिक इतिहास 1607 से आरम्भ होता है, जब यहाँ यूरोप-निवासियों ने बसना आरम्भ किया तथा अन्तत: अमेरिका को अपना उपनिवेश बना लिया। 18वीं शताब्दी में अमेरिका की प्रमुख समस्या भौगोलिक (अर्थात् पश्चिम के विशाल भू-क्षेत्र में बसने तथा उसके प्रचुर साधनों का प्रयोग करने की समस्या) थी। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अमेरिकी अर्थ-व्यवस्था में कृषि की ही प्रधानता थी। उद्योग-धन्धों का स्थान गौण था। परन्तु 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यहाँ उद्योग-धन्धों का तेजी से विकास आरम्भ हुआ। इस शताब्दी में अमेरिका की प्रमुख समस्या उत्पादन-वृद्धि की थी। 20वीं शताब्दी के आरम्भ से अमेरिका में तकनीकी विस्तार, विशाल-स्तरीय उत्पादन और विशाल-स्तरीय उपभोग का काल आरम्भ हुआ। इस शताब्दी में अमेरिका की प्रमुख समस्या बाजार के विस्तार की ही गई है। इस समय अमेरिकी अर्थव्यवस्था का संसारभर में सर्वोच्च स्थान है। अमेरिका का आर्थिक इतिहास बताता है कि किस तरह अमेरिकी अर्थव्यवस्था विकास की विभिन्न अवस्थाएँ पार करती हुई 'विशाल उपभोग की अवस्था' में पहुँची है।

अमेरिका में आर्थिक विकास की अवस्थाएँ

आर्थिक इतिहासकारों की राय में विकास प्रक्रिया के दौरान प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था को विभिन्न चरणों या अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। फ्रेडरिक लिस्ट, हिल्डेब्रान्ड, कौलिन क्लार्क, कार्ल मार्क्स और रोस्टोव ने आर्थिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं बताई हैं। इनमें से रोस्टोव द्वारा वर्णित अवस्थाएं अधिक युक्तिसंगत और स्वीकार्य हैं। उन्होंने आर्थिक विकास की पाँच अवस्थाएं बताई हैं—परम्परागत समाज की अवस्था, आत्मस्फूर्ति से पूर्व की अवस्था, आत्मस्फूर्ति की अवस्था, परिपक्वता की अवस्था तथा अत्यधिक उपभोग की अवस्था। इन अवस्थाओं के सन्दर्भ में अमेरिकी अर्थव्यवस्था के विकास-स्तरों तथा विकास-प्रक्रिया का विवेचन अग्र प्रकार किया जा सकता है—

(1) परम्परागत समाज की अवस्था—18वीं शताब्दी के अन्त तक अमेरिका में परम्परागत समाज की अवस्था के सभी लक्षण विद्यमान थे। अमेरिकी अर्थव्यवस्था में कृषि की प्रधानता थी। उद्योग-धन्धों का स्थान गौण था; क्योंकि इनके विकास का कोई प्रयास नहीं किया गया था। देश के आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन में कृषि और किसानों का ही प्रभुत्व था। कृषि की पद्धतियाँ भी पुरातन एवं रूढ़िवादी थीं। चूंकि समस्त आर्थिक क्रिया-कलाप परम्परागत पद्धतियों के अनुसार संचालित होते थे, इसलिये उत्पादन और आय का स्तर नीचा था। आर्थिक प्रणाली में विज्ञान एवं तकनीकी प्रगति का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता था। मौलिक रूप से समूचा आर्थिक ढाँचा दुर्बल तथा अविकसित था। 'अमेरिका का उपनिवेशीकरण' तथा 'कृषि-क्षेत्र' का विस्तार, इस काल की दो प्रमुख उपलब्धियाँ थीं।

(2) आत्मस्फूर्ति से पूर्व की अवस्था—19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध को अमेरिकी अर्थव्यवस्था के दीर्घकालीन आर्थिक विकास की पृष्ठभूमि (आत्मस्फूर्ति विकास से पूर्व की अवस्था) माना जा सकता है। 1815 से लेकर 1840 तक यहाँ सतत् विकास के मार्ग में उपस्थित प्राचीन बाधायें समाप्त हो गईं तथा आर्थिक विकास हेतु आवश्यक दशाएं उत्पन्न हो गईं। सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुए, जिन्होंने परम्परागत अर्थव्यवस्था का नवीन अर्थव्यवस्था की ओर संक्रमण प्रोत्साहित किया। इस संक्रमण की प्रमुख विशेषता कृषि-क्षेत्र में शीघ्र फलदायी तरीकों का प्रयोग थी, जिससे कृषि-उत्पादकता एवं उत्पादन में वृद्धि हुई। कृषि-उत्पादकता बढ़ने से औद्योगिक क्षेत्र के विकास को बल मिला, जो आत्मस्फूर्ति विकास की आवश्यक दशा है। नवीन आर्थिक क्रिया के अनुरूप शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन, वित्तीय संस्थाओं की स्थापना, संचार-साधनों का विकास, वाणिज्य का विस्तार तथा गतिशील उद्यम का प्रादुर्भाव आत्मस्फूर्ति विकास की अन्य शर्तें होती हैं। 1940 तक सयुक्त राज्य अमेरिका में आत्मस्फूर्ति विकास की सभी शर्तें विद्यमान हो गईं। कृषि-उत्पादकता एवं उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। फलतः विदेशी बाजारों में फालतू कृषि-उपज बेचकर औद्योगिक विकास हेतु पूंजीगत सामान मंगाया जाने लगा। प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता से आर्थिक विकास की तैयारी में विशेष सुविधा प्राप्त हुई। 1840 और 1851 के बीच सरकार ने नहरों और रेलों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। आर्थिक ऊर्ध्वस्थों के सृजन से प्रत्यक्ष उत्पादक क्रियाओं को प्रोत्साहन मिला। वित्तीय संसाधनों की स्थापना तथा परिवहन-सुविधाओं के विकास से वाणिज्य का विस्तार हुआ। इस तरह, अमेरिका में नए औद्योगिक समाज की रचना आरम्भ हुई।

(3) आत्मस्फूर्ति विकास की अवस्था—रोस्टोव (Rostow) ने 1833 से लेकर 1860 तक का समय अमेरिकी अर्थव्यवस्था के लिए आत्मस्फूर्ति विकास का समय माना है। इस काल में दीर्घकालीन विकास के प्रतिरोधात्मक तत्व पूर्णतः समाप्त हो गए तथा विकास की प्रेरक शक्तियाँ, जो पहले निष्क्रिय बनी हुई थीं, सक्रिय हो

गई । संयुक्त राज्य अमेरिका में आत्मस्फूर्ति विकास की अवस्था दो प्रकार के विस्तार का परिणाम थी—(1) 1840 से लेकर 1849 तक देश के पूर्वी भागों में परिवहन-सुविधाओं का द्रुत विस्तार (2) 1850 से लेकर 1859 तक रेलवे प्रणाली का द्रुत विस्तार। गृह-युद्ध के समय (1861-65) तक अमेरिकी अर्थव्यवस्था के उद्योग-क्षेत्र में वास्तविक संवेग आ गया था । गृह-युद्ध ने उद्योग-क्षेत्र को दो तरह से लाभान्वित किया—(अ) गृह-युद्ध के समय औद्योगिक वस्तुओं के लिए सरकार की माँग बहुत बढ़ गई । फलतः उद्योगपतियों का लाभ बढ़ गया तथा उद्योगों में पूंजी का निवेश प्रोत्साहित हुआ (ब) गृह-युद्ध के परिणामस्वरूप दासता पर आधारित कुलीनतन्त्र का पतन हुआ तथा उद्यमियों की शक्ति बढ़ गई ।

(4) परिपक्वता की अवस्था—1865 में गृह-युद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिकी अर्थव्यवस्था परिपक्वता की ओर बढ़ने लगी । बचत और निवेश की दर पर्याप्त ऊँची हो जाने से विद्यमान उद्योगों का विस्तार तथा नए-नए उद्योगों की स्थापना होने लगी । आर्थिक क्रियाकलाप के प्रत्येक क्षेत्र में नई तकनीकों का प्रयोग किया जाने लगा । 19वीं शताब्दी के अन्त तक अमेरिकी अर्थव्यवस्था रेलवे-युग के कोयला, लोहा एवं भारी इन्जीनियरिंग उद्योगों से निकालकर मशीन-उपकरण, विद्युतीय-उपकरण तथा रासायनिक उद्योगों की ओर अग्रसर हो गई । प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अमेरिकी अर्थव्यवस्था में परिपक्वता की समस्त विशेषताएँ दिखाई देने लगीं । रोस्टोव की राय में ये विशेषताएँ तीन थीं—(1) अर्थव्यवस्था की प्रमुख समस्या 'उत्पादन' की न रहकर सैनिक आवश्यकताओं तथा वैदेशिक नीति के बीच वृद्धिशील साधनों के 'वितरण' की हो गई । (2) सरकार समाज कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा पर अधिक धन खर्च करने लगी । (3) प्रति व्यक्ति आय में इतनी अधिक वृद्धि हुई कि अधिकांश व्यक्तियों के उपभोग-व्यय में टिकाऊ उपभोक्ता-पदार्थों का महत्व बढ़ गया ।

20वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में अमेरिकी अर्थव्यवस्था विस्तार की चरम सीमा पर पहुँच गई, जो 'तीसा' की महामन्दी घटित होने का प्रारम्भिक लक्षण था । महामन्दी की शुरुआत 19 9 में हुई, जो अमेरिका की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास से जुड़ी संरचनात्मक विसंगतियों का परिणाम थी । महामन्दी की घटना ने अमेरिकी आर्थिक संगठन की मूलभूत त्रुटियों के निवारण की आवश्यकता उजागर की । इससे आर्थिक स्थिरता के लिए सरकार के सक्रिय सहयोग की आवश्यकता स्पष्ट हो गई । 'न्यू-डील पॉलिसी' के आधार पर अमेरिकी सरकार मन्दी के दुष्प्रभावों का निवारण करने में पर्याप्त सीमा तक सफल भी रही । 1939 में दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ, जिसने अमेरिकी अर्थव्यवस्था को पूर्ण रोजगार की स्थिति में पहुंचा दिया ।

(5) अत्यधिक उपभोग की अवस्था—रोस्टोव की राय में यह आर्थिक विकास की अन्तिम अवस्था है । इस अवस्था में पहुँचकर टिकाऊ उपभोक्ता-पदार्थों

(मोटरकार, रेफ्रीजरेटर, वस्त्र धोने की मशीन, एयरकन्डीशनर, आदि) का उत्पादन और उपभोग बहुत बढ़ जाता है। 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' समाप्त हो जाता है। तकनीकी विकास चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाता है। महँगी और टिकाऊ उपभोक्ताओं की माँग जनसाधारण द्वारा की जाने लगती है। उत्पादक अपनी वस्तुओं के आवरण में परिवर्तन द्वारा या सामान्य सुविधाओं में वृद्धि द्वारा नए ग्राहक आकर्षित करते हैं। 1952 से अमेरिकी अर्थव्यवस्था विकास की इसी अवस्था से गुजर रही है।

2

अमेरिका का उपनिवेशीकरण

(Colonization of America)

प्रश्न 1—अमेरिका के उपनिवेशीकरण के पीछे विभिन्न प्रेरणाएं क्या थीं ? औपनिवेशिक आर्थिक जीवन की प्रधान विशेषताएं बताइए।

What have the different motives & behind colonization of America ? Explain the important features of Colonical economic life.

उत्तर—'नई दुनियाँ' के रूप में अमेरिका की खोज विश्व इतिहास की महानतम घटना है। भारत के लिए समुद्री-मार्ग की खोज करते-करते 12 अक्टूबर 1492 को कोलम्बस (Columbus) अमेरिकी तट पर पहुंच गया था। कोलम्बस की साहसिक खोज का श्रेय फ्लोरेंस-निवासी अमेरिगो वैस्पूसियस को जाता है, जिसके नाम पर इस देश का नाम 'अमेरिका' पड़ा। कोलम्बस की यात्रा के पश्चात् अगले 100 वर्षों तक यूरोप-निवासियों ने अमेरिका के समुद्री-मार्ग की खोज का प्रयास जारी रक्खा। 17वीं शताब्दी के आरम्भ तक उन्हें अमेरिका के समुद्री किनारों तक पूर्वी तट की दो नदियों (सेन्ट लॉरेन्स तथा हडसन) का पता चल गया। तदुपरान्त 18वीं शताब्दी के आरम्भ तक यूरोप-निवासियों का अमेरिका जाकर बसने का दौर चलता रहा। इस सतत् जन-प्रवाह ने एक नए राष्ट्र को जन्म दिया, जिसमें एक साथ विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण परिलक्षित हुआ।

उपनिवेशीकरण की प्रेरक शक्तियां—यूरोप-निवासियों द्वारा अमेरिका जाकर बसने के पीछे विभिन्न प्रेरक शक्तियाँ कार्य कर रही थीं—आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक।

(अ) आर्थिक प्रेरणाएं

अमेरिका के उपनिवेशीकरण की प्रेरक शक्तियों में आर्थिक शक्तियों की ही प्रधानता थी। प्रमुख आर्थिक प्रेरणाएँ निम्नलिखित थीं—

(1) **जीविका-उपार्जन का प्रयोजन**—जिस समय अमेरिका तथा उसके प्राकृतिक संसाधनों का पता लगा; उस समय यूरोप-निवासी निर्धनता, भुखमरी और बेकारी से त्रस्त थे। अतः जीविका-उपार्जन के प्रयोजन से यूरोप-निवासी अपनी मातृ-भूमि छोड़कर अमेरिका जाने के लिए तैयार हो गए।

(2) **स्वर्ण-रजत का विशाल भण्डार**—नई दुनियाँ की खोज के बाद पता चला कि यहाँ स्वर्ण-रजत का विशाल भण्डार मौजूद है। 1519 में मेक्सिको तथा 1531 में पेरू की स्वर्ण-रजत खानों का पता लगने के बाद यह विश्वास और भी पक्का हो गया। इस भण्डार के विदोहन हेतु यूरोप-निवासी अमेरिका आने के लिए उद्यत हुए।

(3) **वणिकवाद का उदय**—15वीं शताब्दी में यूरोपीय देशों में उत्पन्न वणिकवादी विचारधारा अमेरिकी उपनिवेशवाद को प्रोत्साहित करने वाली सबसे सबल कारण थी। वणिकवादी विचारधारा ने स्वर्ण-रजत को राष्ट्र की वास्तविक सम्पदा एवं शक्ति का स्रोत मानते हुए विदेशी व्यापार द्वारा स्वर्ण-रजत की प्राप्ति पर बल दिया। कोलम्बस के शब्दों में, "स्वर्ण सबसे उत्तम है। यह खजाना है। जिसके पास स्वर्ण है, वह इस संसार में कुछ भी कर सकता है; यहाँ तक कि वह अपनी आत्मा को स्वर्ग भेजने में सफल हो सकता है।"

(4) **खाद्य-पदार्थों की प्रचुरता**—नई दुनियाँ में खाद्य-पदार्थों की प्रचुरता थी। समुद्र में मछलियाँ तथा वनों में पशु, फल और मेवा प्रचुरता से उपलब्ध थीं। मकई, सेम और मटर की खेती सुगमता से होती थी। भेड़, बकरी, गाय और सूअर पाले जाते थे। दूसरी ओर, जनाधिक्य की स्थिति के कारण ब्रिटेन में निर्धनता, भुखमरी और बेकारी का साम्राज्य था अतः उपनिवेशों को अतिरिक्त जनसंख्या का आश्रयदाता समझा गया तथा बहुत से व्यक्ति उपनिवेशों में जाकर बस गए।

(ब) राजनीतिकप्रेरणाएं

अमेरिका के उपनिवेशीकरण में सहायक प्रमुख राजनीतिक प्रेरणाएं निम्न-लिखित थीं—

(1) **साम्राज्य-विस्तार की भावना**—उस समय यूरोपीय देशों में साम्राज्य-विस्तार की भावना विद्यमान थी। इसी भावना से प्रेरित होकर स्पेन, फ्रांस, इंगलैण्ड और हालैण्ड ने अमेरिका का अधिक से अधिक भू-क्षेत्र हथियाने का प्रयास किया। साम्राज्य-विस्तार की प्रतिस्पर्धा में विजय पाने के उद्देश्य से इन देशों की सरकारों ने अपने-अपने देशवासियों को अमेरिका जाकर बसने के लिए प्रोत्साहित

किया। साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ इन देशों को अपने उद्योगों के लिए कच्चे माल की भी आवश्यकता थी, जो अमेरिका में प्रचुरता से उपलब्ध थे।

(2) **राजनीतिक उत्पीड़न** धार्मिक अत्याचारों की तरह, तत्कालीन यूरोप राजनीतिक अत्याचार भी असाधारण थे। इन अत्याचारों ने बहुत-से व्यक्तियों को अमेरिका जाकर बसने के लिए प्रेरित किया। ब्रिटेन में चार्ल्स द्वितीय के स्वेच्छाचारी शासन से तंग आकर बड़ी संख्या में व्यक्ति अमेरिका चले गए थे।

(3) **नवीन साहसिक कार्यों का प्रलोभन**—नए साहसिक कार्यों के प्रलोभन से भी अमेरिका के उपनिवेशीकरण में सहायता मिली। अमेरिका जाकर बस्तियाँ बसाने वाले व्यक्तियों और चार्टड कम्पनियो ने अपने चतुराई भरे विज्ञापनों द्वारा बहुत से व्यक्तियों को अमेरिका जाकर बसने के लिए प्रेरित किया था। पुरस्कार पाने के लालच में जहाजों के कप्तान भी अनेक प्रकार की युक्तियों का प्रयोग करते थे। न्यायाधीशों और जेल अधिकारियों के माध्यम से अपराधियों को कारावास का दण्ड भोगने की बजाय अमेरिका जाने के लिए उकसाया जाता था।

(स) धार्मिक प्रेरणाएं

आर्थिक एवं राजनीतिक प्रेरणाओं की तरह, अमेरिका के उपनिवेशीकरण में धार्मिक प्रेरणाओं में भी महत्वपूर्ण योगदान किया। उपनिवेशीकरण में सहायक प्रमुख धार्मिक प्रेरणाएं निम्नलिखित थीं—

(1) **धार्मिक उत्पीड़न**—15वीं और 16वीं शताब्दी में धर्मान्धता एवं धार्मिक असहिष्णुता के कारण यूरोप में अनेक संघर्ष हुए, जैसे—रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट के बीच धर्म-युद्ध, बर्थलम्यू का नर-संहार तथा स्पेन की पावन संपृच्छा (Holy Inquisition)। जब किसी धर्म या पंथ विशेष के अनुयायी सत्तारूढ़ हो जाते, तब दूसरे धर्म या पंथ के अनुयाइयों का उत्पीड़न होता है। इस उत्पीड़न से बचने के लिए बहुत से यूरोप निवासी अमेरिका चले गए।

(2) **धर्म प्रचार की भावना**-धार्मिक उत्पीड़न के साथ-साथ यूरोप-निवासियों में स्वधर्म के प्रचार की भावना भी प्रबल थी विशेषकर ईसाई धर्म के प्रचार की। यद्यपि मध्यकालीन यूरोप में धर्म-प्रचार हेतु अनेक युद्ध हुए थे, तथापि समय-समय पर शान्तिपूर्ण धर्म-प्रचार का कार्य भी जारी रहा। भारत आकर वास्कोडिगामा (Vasco-de-Gama) ने कहा था, "हम मसालों और ईसाइयों की खोज में भारत आए हैं।" यह उक्ति ईसाई धर्म के यूरोपीय अधिष्ठाताओं की तात्कालिक धारणा उजागर करती है।

अमेरिका के उपनिवेशीकरण का प्रयास सर्वप्रथम स्पेन ने किया। धीरे-धीरे यूरोप के दूसरे राष्ट्र (ब्रिटेन, फ्रांस और हालैण्ड) भी अमेरिका में अपने साम्राज्य की स्थापना का प्रयास करने लगे, ताकि उनके विदेशी व्यापार का विस्तार हो सके।

साम्राज्य-स्थापना के संघर्ष में अन्ततः ग्रेट ब्रिटेन विजयी हुआ, जिसका 18वीं शताब्दी के अन्त तक अमेरिकी उपनिवेशों पर प्रभुत्व बना रहा। वणिकवादी नीति का अनुसरण करते हुए ब्रिटिश सरकार ने उपनिवेशों का प्रयोग ब्रिटेन के लाभार्थ किया। उपनिवेशों में व्यवसाय और व्यापार का ढाँचा ब्रिटेन के आर्थिक हितार्थ तैयार किया गया। ब्रिटिश उद्योगों के साथ प्रतिस्पर्धा करने वाले उद्योगों को उपनिवेशों में हतोत्साहित किया गया। जिन वस्तुओं की ब्रिटिश उद्योगों या जनता के लिए माँग थी, उपनिवेशों में उनका उत्पादन प्रोत्साहित किया गया।

अमेरिकी उपनिवेशों का आर्थिक जीवन

अमेरिका में 16 उपनिवेश थे, जो अमेरिकी स्वतन्त्रता संग्राम तक ब्रिटेन के आधिपत्य में थे। औपनिवेशिक आर्थिक जीवन की प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार थीं—

(1) **कृषि**—अमेरिकी उपनिवेशों की 90 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या कृषि पर आश्रित थी। कृषि-भूमि की प्रचुरता और श्रम की स्वल्पता थी। खेती-बारी का कार्य परम्परागत तरीकों से होता था। उत्तरी भाग में कृषि-जोतों का आकार छोटा था। अतः कृषि मुख्यतः पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु की जाती थी। दक्षिणी भाग में कृषि-जोतों का आकार बड़ा था और मुख्यतः निर्यात-वस्तुओं का उत्पादन किया जाता था।

(2) **भूमि की व्यवस्था**—उपनिवेशों की समस्त भूमि का स्वामी ब्रिटेन का राजा समझा जाता था, जो निश्चित शर्तों पर संयुक्त पूंजी कम्पनियों, निजी स्वामियों या उनके समूह को भूमि देता था। राजा और निजी स्वामी यूरोप में प्रचलित सामन्तवादी व्यवस्था अमेरिकी उपनिवेशों में भी लागू करना चाहते थे; किन्तु भूमि की न्यूनता और जनसंख्या की न्यूनता के कारण यह सम्भव नहीं हो पाया। वर्जीनिया और मेसाच्यूट्स में सहकारी खेती भी आरम्भ की गई, किन्तु वह सफल नहीं हो पाई। सामन्तवादी प्रथा लागू न हो पाने के कारण कृषि-क्षेत्र में पर्याप्त विस्तार हुआ। इससे भूमि के क्रय-विक्रय में सट्टेबाजी आरम्भ हुई तथा दक्षिण ने सामाजिक विषमता को प्रोत्साहन मिला।

(3) **उद्योग और व्यापार**—श्रम और पूंजी की न्यूनता तथा ब्रिटिश सरकार की स्वार्थी नीति के कारण अमेरिकी उपनिवेशों में उद्योग-धन्धों का विकास नहीं हो पाया। औपनिवेशिक काल के अन्तिम चरण में लघु स्तर पर लकड़ी उद्योग, नावों और जलयानों का निर्माण सरीखे उद्योग अवश्य स्थापित हुए। औपनिवेशिक काल में विदेशी व्यापार को विशेष प्रोत्साहन मिला; किन्तु व्यापार मुख्यतः ब्रिटेन के साथ होता था। विदेशी व्यापार समुद्री मार्ग से होता था। व्यापार की संरचना ब्रिटिश आर्थिक हितों की पूर्ति में सहायक थी। उपनिवेशों का घरेलू व्यापार मुख्यतः वस्तु-विनिमय प्रणाली पर आधारित था।

(4) **परिवहन और संचार**—औपनिवेशिक काल में परिवहन और संचार के आधुनिक साधनों का नितान्त अभाव था। रेलों और सड़कों का विकास नहीं हो पाया था। नदियों और बड़ी-बड़ी झीलों में नावों का तथा समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों में जलयानों का प्रयोग किया जाता था।

(5) **औपनिवेशिक श्रम**—अमेरिकी उपनिवेशों में प्राकृतिक साधनों की तो प्रचुरता थी, किन्तु श्रम और पूंजी का अभाव था। दक्षिण में निर्यात-फसलों की खेती के लिए श्रम की आवश्यकता अधिक थी। अतः बाहर से अनुबंधित श्रमिकों का आयात करना पड़ता था। इससे उपनिवेशों में दास प्रथा आरम्भ हुई। नीग्रो जाति को मुख्य रूप से दास बनाया गया था। ऋणियों और अपराधियों को अनैच्छिक अनुबद्ध श्रम (Involuntary Indentured Labour) के रूप में काम पर लगाया जाता था। दास प्रथा दक्षिण में तम्बाकू की खेती के लिए उपयुक्त सिद्ध हुई, यद्यपि उत्तरी और मध्यवर्ती उपनिवेशों में यह प्रथा अधिक विकसित नहीं हो पाई।

(6) **सामाजिक संरचना**—अमेरिकी उपनिवेशों का सामाजिक ढाँचा यूरोप के सामाजिक ढाँचे के अनुरूप था। कुलीनों और साधारण व्यक्तियों के बीच भेद-भाव था। सम्पत्ति के सम्बन्ध में ज्येष्ठाधिकार का नियम प्रचलित था। ब्रिटेन, जर्मनी, स्विटजरलैण्ड, फ्रांस और आयरलैण्ड से आकर बसे व्यक्तियों के कारण अमेरिकी उपनिवेशों में मिली-जुली संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ था।

3

अमेरिकन-क्रान्ति

(The American Revolution)

प्रश्न 1—अमेरिका क्रान्ति या अमेरिकी स्वतन्त्रता-संग्राम के क्या कारण थे ? इसके तात्कालिक परिणाम क्या थे ?

What were the causes of American Revolution or the War of American Independence ? What were its immediate effects ?

उत्तर—17वीं शताब्दी में ब्रिटेन ने अमेरिकी उपनिवेशों की स्थापना आरम्भ की तथा 1732 तक उसने 16 उपनिवेश स्थापित कर लिए। इन उप-

उपनिवेशों पर ब्रिटेन ने तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाए। ब्रिटिश शासन से तंग आकर 4 जुलाई 1776 को उपनिवेश निवासियों ने स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम 6 वर्षों से अधिक समय तक चला। सभी उपनिवेशों में युद्ध हुआ। अन्त में 19 अक्तूबर 1781 को ब्रिटिश सेनापति लार्ड कार्नवालिस ने यार्क टाऊन में अमेरिकी सेना के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया।

अमेरिकी क्रान्ति के कारण

यद्यपि अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम (जिसे 'अमेरिकी क्रान्ति' भी कहा जाता है) मुख्य रूप से ब्रिटेन तथा उसके उपनिवेशों के बीच आर्थिक हितों का संघर्ष था; तथापि यह उस सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह भी था, जिसकी उपयोगिता अमेरिका में बहुत पहले समाप्त हो चुकी थी। अमेरिकी क्रान्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

(1) **ब्रिटिश सरकार की व्यापारिक नीति**—वणिकवादी सिद्धान्तों पर आधारित ब्रिटिश सरकार की व्यापारिक नीति अमेरिकी क्रान्ति का सबसे प्रमुख कारण थी। इस नीति के अन्तर्गत उपनिवेशों का प्रयोग ब्रिटेन के आर्थिक हितों की अभिवृद्धि हेतु किया जाता था। उपनिवेशों का कार्य ऐसी वस्तुएँ उत्पादित करना था, जिनका उत्पादन ब्रिटेन में सम्भव नहीं था और उन वस्तुओं का उपभोग करना था, जो ब्रिटेन में निर्मित होती थीं। उपनिवेशों के आयात-निर्यात पर अपना एकाधिकार स्थापित करने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने तीन नौचालन अधिनियम लागू किए थे। 1651 के अधिनियम के अनुसार, अमेरिकी उपनिवेश केवल उन्हीं जहाजों द्वारा माल का आयात और निर्यात कर सकते थे, जिनके स्वामी और नाविक अंग्रेज हों। 1960 के अधिनियम के अनुसार अमेरिकी उपनिवेशों में निर्मित वस्तुओं का निर्यात ब्रिटेन के सिवाय और कहीं नहीं किया जा सकता था। ब्रिटेन के साथ वस्तुओं का आयात-निर्यात भी केवल ब्रिटेन में निर्मित जहाजों द्वारा किया जा सकता था। 1663 के अधिनियम द्वारा उपनिवेशों में भेजी जाने वाली सभी यूरोपीय वस्तुओं को ब्रिटेन के माध्यम से भेजना अनिवार्य कर दिया गया। अमेरिका के ऊनी उद्योग को हतोत्साहित करने के लिये 1669 में पारित ऊन अधिनियम के अन्तर्गत उपनिवेशों से ऊनी माल के निर्यात पर रोक लगा दी गई। दो वर्ष बाद उपनिवेशों में ब्रिटेन से आयातित ऊनी माल पर आयात-शुल्क समाप्त कर दिया गया। अमेरिका के लोहा उद्योग को हतोत्साहित करने के लिये 1750 में पारित एक अधिनियम के अन्तर्गत उपनिवेशों में लोहा गलाने और इस्पात तैयार करने वाले कारखानों की स्थापना पर रोक लगा दी गई। इसी तरह के प्रतिबन्ध दूसरे विनिर्माणी उद्योगों के सम्बन्ध में भी लगाए गए। ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य यह था कि अमेरिकी उपनिवेश ब्रिटिश उद्योगों के लिये कच्चे-माल के स्रोत तथा विनिर्मित माल के बाजार बने रहें।

सहायक बनी। फ्रैंकलिन (Franklin) के अनुसार, "ऐसी मनःस्थिति का विकास, जिसने स्वतन्त्रता को वांछनीय बनाया, एक लम्बी प्रक्रिया थी।" जॉन एडम्स (John Adams) के शब्दों में, "क्रान्ति का आरम्भ युद्ध से पहले हो चुका था। यह जनता के मस्तिष्क और मन में विद्यमान थी।"

(7) **वर्ग-संघर्ष**—अमेरिकी उपनिवेशों में निम्न और मध्यम वर्ग के व्यक्ति मताधिकार से वंचित थे। उपनिवेशों की शासन-व्यवस्था में कुलीन वर्ग का प्रभुत्व था। अतः निम्न और मध्यम वर्ग कुलीनों और ब्रिटिश सरकार की शक्तियाँ कम करने के पक्षपाती बन गए। इससे क्रान्ति अधिक भयावह हो गई। कार्ल बेकर (Karl Becker) के शब्दों में, "क्रान्ति केवल स्वशासन का प्रश्न नहीं थी, अपितुगृह-शासन कौन करे; यह प्रश्न भी थी।" इसलिए औपनिवेशिक विद्रोह को निम्न और मध्यम वर्गों से अधिक बल मिला।

(8) **ब्रिटिश सरकार की राजनीतिक त्रुटियाँ** औपनिवेशिक विद्रोह को जन्म देने में कुछ सीमा तक ब्रिटिश सरकार की राजनीतिक त्रुटियाँ भी उत्तरदायीं बनीं। आवश्यक-वस्तुओं पर कराधान, बोस्टन बन्दरगाह की बन्दी तथा न्यू इंगलैंड के मछुआरों के लिए ग्रेंड बैंक बन्द कर दिया जाना इसी तरह की त्रुटियाँ थीं। केन्द्रीय सत्ता तथा स्थानीय शासन के बीच सामंजस्य स्थापित कर पाने में बिटिश राजनीति की विफलता भी अमेरिकी क्रान्ति का महत्वपूर्ण कारण थी।

(9) **फ्रांसीसी विचारकों का प्रभाव**—फ्रांसीसी विचारकों द्वारा प्रतिपादित गणतन्त्रीय सिद्धान्तों के बीजारोपण एवं विकास हेतु अमेरिका अत्यन्त उर्वर क्षेत्र सिद्ध हुआ। अमेरिका में राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र एवँ स्वावलम्बी वर्ग का अभ्युदय हुआ, जिन्हें फ्रांसीसी विचारकों से जनतन्त्र और स्वशासन की शिक्षा मिली थी।

(10) **सामाजिक और धार्मिक जागरण**—1699 के धार्मिक स्वतन्त्रता अधिनियम द्वारा उपनिवेशों में विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार पर लगा प्रतिबन्ध हटा लिया गया था। इससे उपनिवेशों में धार्मिक असहिष्णुता समाप्त होने लगी। शिक्षा के प्रसार से सामाजिक और धार्मिक जागरूकता उत्पन्न हुई, जिसने अमेरिकी क्रान्ति में महत्वपूर्ण योगदान किया।

अमेरिकी क्रान्ति के परिणाम

अमेरिकी क्रान्ति के तात्कालिक परिणामों को (अ) आर्थिक, (ब) सामाजिक और (स) राजनीतिक तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(अ) **आर्थिक परिणाम**—अमेरिकी क्रान्ति के आर्थिक परिणाम (प्रभाव) निम्न प्रकार प्रकट हुए—

(1) **कृषि पर प्रभाव**—क्रान्ति के फलस्वरूप सामन्तवादी व्यवस्था समाप्त हो गई तथा कृषि के विकास को प्रोत्साहन मिला। ब्रिटिश सहायता की समाप्ति से नील का उत्पादन बहुत घट गया, किन्तु कपास और तम्बाकू की खेती को भारी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। तम्बाकू की पत्ती का उत्पादन .774 में 101 मिलियन पौंड से बढ़कर 1800 में 133 मिलियन पौंड हो गया। फॉकनर (Faulkner) के शब्दों

में, "पुरातन और खर्चीली पद्धति से की जाने वाली अमेरिकी खेती को कुल मिलाकर युद्ध से उद्दीपन ही प्राप्त हुआ, हानि नहीं। युद्धकाल में आए विदेशियों से अमेरिका-निवासियों को यूरोपीय कृषि-सुधारों के बारे में जानकारी भी प्राप्त हुई।,'

(2) **उद्योगों पर प्रभाव**—क्रान्ति का कृषि की अपेक्षा उद्योगों पर अधिक प्रभाव पड़ा। लोहा, वस्त्र, कागज, चमड़ा आदि उद्योगों के विकास को विशेष प्रोत्साहन मिला; क्योंकि एक तो, अमेरिकी उद्योग अंग्रेजों द्वारा थोपे गए वणिकवादी प्रतिबन्धों से मुक्त हो गए थे और दूसरे; ब्रिटेन से औद्योगिक माल का आयात बन्द हो गया था। आयातित माल के स्वदेश में निर्माण हेतु बहुत-से उद्योगों की स्थापना की गई। ब्रिटेन से वस्त्र का आयात बन्द हो जाने के कारण स्वदेशी वस्त्र की माँग बहुत बढ़ गई थी। अतः सूत कातने और वस्त्र बुनने का कार्य राष्ट्रीय स्तर पर घर-घर में किया जाने लगा।

(3) **व्यापार और समुद्री परिवहन पर प्रभाव**—क्रान्ति ने औपनिवेशिक बन्दरगाहों को संसारभर के लिये खोल दिया। फलतः फ्रांस, स्पेन और हालैंड के साथ अमेरिका का व्यापार बढ़ गया। तम्बाकू और चावल का निर्यात करके अमेरिका इन देशों से विलास-वस्तुओं का आयात करने लगा। क्रान्ति ने समुद्री-परिवहन की नीजि व्यवस्था को भी प्रोत्साहित किया।

(4) **वित्त पर प्रभाव**—क्रान्ति का सबसे प्रतिकूल प्रभाव मौद्रिक एवं वित्तीय व्यवस्था पर पड़ा। युद्धकाल में 437,919321 डॉलर की पत्र-मुद्रा जारी हुई। पत्र-मुद्रा की अत्यधिक निकासी के कारण स्फीतिक दशा उत्पन्न हो गई। 1781 में मुद्रा-स्फीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई, जब एक जोड़ी जूते की कीमत 100 डॉलर तथा एक पौंड चाय की कीमत 40 डॉलर हो गई। इससे निश्चित आय वर्ग की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गई। दूसरी ओर, सटोरिए और ऋणी व्यक्ति अत्यधिक लाभान्वित हुए।

कुल मिलाकर, क्रान्ति ने सामन्तवादी व्यवस्था को समाप्त करके अमेरिका में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। कृषि-भूमि, वनों और खनिज साधनों पर राजशाही स्वामित्व समाप्त हो गया। अतः अमेरिका का उद्यमी वर्ग स्वतन्त्रतापूर्वक इन साधनों का देश के आर्थिक विकास हेतु प्रयोग करने लगा।

(ब) **सामाजिक परिणाम**—क्रान्ति के परिणामस्वरूप उपनिवेशों की सामाजिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुए। कुलीनों का प्रमुत्व समाप्त हो गया तथा मध्यम वर्ग की शक्ति बढ़ गई। सामन्तवादी व्यवस्था तथा उसकी विशेषतायें, जैसे—विशेषाधिकार, सत्यजन लगान (Quit Rents), अनुक्रमबन्धन (Entail) तथा ज्येष्ठाधिकार का नियम (Law of Primogeniture) समाप्त हो गई। बड़ी-बड़ी भू-सम्पत्तियाँ तोड़कर छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में उनका वितरण निम्न और मध्यम वर्गों के बीच किया गया। शिक्षा का प्रसार तथा स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ।

(स) **राजनीतिक परिणाम**—क्रान्ति के परिणामस्वरूप उपनिवेशों को राज-

नीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। निजी सम्पत्ति को मताधिकार का आधार मानना छोड़ दिया गया तथा मतदान-प्रणाली को जनतान्त्रिक बनाया गया। राज्य विधान मण्डलों का विस्तार और पुनर्गठन हुआ। दो राजनीतिक दलों का प्रादुर्भाव हुआ—एक हैमिल्टन (Hamilton) के नेतृत्व में संघवादियों का तथा दूसरा जेफरसन (Jefferson) के नेतृत्व में प्रतिसंघवादियों का। इनमें से पहला शक्तिशाली केन्द्र का समर्थक था, जबकि दूसरा केन्द्र की अपेक्षा राज्यों को अधिक अधिकार दिलाना चाहता था।

4

पश्चिम की ओर प्रयाण

(Westward Movement)

प्रश्न 1—'पश्चिम की ओर प्रयाण' के क्या कारण थे ? इसके सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभावों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

What were the causes of Westward Movement ? Critically examine its social, economic and political effects.

उत्तर—टर्नर (Turner) के शब्दों से, "अमेरिका का इतिहास पर्याप्त अंश तक पश्चिम के उपनिवेशीकरण का इतिहास है। मुक्त-भूमि के क्षेत्र का अस्तित्व, इसका निरन्तर अवरोध (Recession) तथा अमेरिका निवासियों का पश्चिम की ओर प्रयाण अमेरिका का विकास स्पष्ट करता है।"

'पश्चिम की ओर प्रयाण' का अर्थ—अमेरिका निवासियों का अमेरिका के पश्चिमी मैदानी भाग में जाकर बसना ही 'पश्चिम की ओर प्रयाण' या 'पश्चिमोन्मुख विस्तार' कहलाता है। जिस समय अमेरिकी उपनिवेशों को स्वतन्त्रता मिली, उस समय अमेरिका की अधिकांश जनसंख्या पूर्वी भाग में निवास करती थी जो पश्चिम में अलैघनी पर्वतों से तथा पूर्व में अटलांटिक महासागर से घिरा हुआ था। विदेशी प्रवासियों ने भी अमेरिका के पूर्वी भाग में बसना आरम्भ किया। अलैघनी पर्वत श्रेणियों से आगे पश्चिम का विशाल भूखण्ड अमेरिका-निवासियों के लिये अज्ञात-सा था। औपनिवेशिक काल में पश्चिमोन्मुख विस्तार के मार्ग में कई बाधाएँ थीं। एक तो 1762 की शाही घोषणा के अनुसार पश्चिम की ओर प्रयाण प्रतिबन्धित था। दूसरे, उस समय अमेरिका में यातायात की उपयुक्त सुविधाओं का नितान्त अभाव था। तीसरे, पश्चिमी भाग के निवासी रेड इण्डियन पूर्व से पश्चिम की ओर प्रयाण का विरोध करते थे। परन्तु अमेरिकी क्रान्ति के पश्चात् अमेरिका के पश्चिमी भाग

में इतने बड़े पैमाने पर जनप्रवास हुआ कि लगभग एक शताब्दी के भीतर यह निर्जन भूखण्ड पूरी तरह आबाद हो गया।

पश्चिमोन्मुख विस्तार की प्रगति—अमेरिका में पश्चिम की ओर प्रयाण कई चरणों से होकर गुजरा था। इसके प्रथम चरण में शिकारी, व्यापारी और प्रचारक आए। दूसरे, चरण में पशुओं के झुण्ड के साथ पशुपालक आए। तीसरे चरण में कृषक आए, जो इस क्षेत्र की भूमि का प्रयोग खेती-बारी में करने लगे। चौथे और अन्तिम चरण में पूंजीपति और उद्यमी आए। परिणामतः पश्चिमी भाग में विनिर्माणी उद्योग विकसित हुए तथा बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रयाण की गति दक्षिणी-पश्चिमी भाग की अपेक्षा उत्तरी-पश्चिमी भाग में तथा मन्दीकाल की अपेक्षा समृद्धिकाल में तीव्र रही। 18वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में जब संयुक्त राज्य के अधिकार में उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र आ गया; तब इस क्षेत्र की भूमि बड़े-2 टुकड़ों में नीलामी द्वारा बेची गई। 1803 में संयुक्त राज्य ने फ्रांस से लोसेनिया तथा 1819 में स्पेन से फ्लोरिडा खरीदा। इससे संयुक्त राज्य के क्षेत्र में बहुत वृद्धि हुई। दूसरी ओर, पश्चिमोन्मुख विस्तार से राज्यों की सीमा-रेखा भी बढ़ती जा रही थी। अतः नए-नए राज्यों का सृजन आवश्यक हो गया। 1816 में इण्डियाना, 1817 में मिसीसिपी, 1818 में इलिनयास, 1819 में अलबामा 1820 में मेन तथा 1821 में मिस्सोरी राज्य का सृजन हुआ। 1845 में संयुक्त राज्य ने टेक्सास (जो पहले मैक्सिको का हिस्सा था) को संघ में मिला लिया।

यद्यपि पश्चिमोन्मुख विस्तार का कार्य औपनिवेशिक काल में आरम्भ हो चुका था, किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इसने अधिक जोर पकड़ा तथा 19वीं के अन्त तक यह लगभग पूरा हो गया। इस कार्य को क्रमबद्धता प्रदान करने के लिये कई अधिनियम भी पारित हुए। भूमि के क्रय-विक्रय में सट्टेबाजी रोकने के लिए 1862 में क्षेत्रवास अधिनियम पारित किया गया। इसके अन्तर्गत किसी भी ऐसे व्यक्ति को 160 एकड़ भूमि का प्रक्षेत्र देने (मामूली पंजीयन शुल्क चुकाने पर) की व्यवस्था सम्मिलित थी जो पाँच वर्ष के भीतर अमुक भूमि में सुधार कर सकता था। 1873 में पारित टिम्बर खेती अधिनियम के अन्तर्गत ऐसे व्यक्तियों को भूमि दी गई, जो अपने अधिकार की भूमि के कम से कम 30 एकड़ क्षेत्र में इमारती लकड़ी के वृक्ष लगा सकें। 1877 में पारित मरुभूमि अधिनियम के अन्तर्गत ऐसे व्यक्तियों को 640 एकड़ भूमि देने की व्यवस्था थी, जो इस पर सिंचाई की व्यवस्था कर सकें। विभिन्न अधिनियमों के अन्तर्गत पश्चिम में बसने वाले व्यक्तियों को लगभग 20 करोड़ एकड़ भूमि दी गई थी।

पश्चिमोन्मुख विस्तार के कारण

'पश्चिम की ओर प्रयाण' को प्रोत्साहित करने वाले प्रमुख घटक निम्नलिखित थे—

(1) **देश की आन्तरिक आर्थिक परिस्थितियाँ**—1808 और 1815 के

अमेरिका के बीच पूर्वी भाग में व्यावसायिक मन्दी बनी रही; क्योंकि सभी व्यापारिक केन्द्रों पर वस्तुएँ अत्यधिक मात्रा में जमा हो गई थीं। 1812 में ब्रिटेन के साथ छिड़े युद्ध के कारण अमेरिका के निर्यात-व्यापार में बाधा उपस्थित हो गई। जब 1815 में युद्ध समाप्त हुआ, तब विदेशी व्यापार के क्षेत्र में बाहरी प्रतिस्पर्धा पुनः बढ़ गई। परिवहन की सुविधाओं के अभाव में पश्चिम की ओर वस्तुएँ ले जाना भी सम्भव नहीं था। अतः बहुत-से व्यक्ति पश्चिम की ओर प्रयाण करने लगे।

(2) **पूर्वी भाग की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि**—1790 में अमेरिका के पूर्वी भाग की जनसंख्या केवल 40 लाख थी, जो 1820 तक बढ़कर 1 करोड़ 70 लाख तथा 1860 तक बढ़कर 3 करोड़ 14 लाख हो हुई। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या ने नई भूमि और नए संसाधनों के लिए पश्चिम की ओर प्रयाण आवश्यक बना दिया।

(3) **अटलांटिक तट की अनुकूल परिस्थितियां**—अटलांटिक तट की अनुकूल दशाओं ने पश्चिमोन्मुख विस्तार को प्रोत्साहित किया था। तटवर्ती प्रदेश में जनसंख्या बहुत कम थी और खेती-बारी के लिए प्रचुर मात्रा में उपजाऊ भूमि उपलब्ध थी।

(4) **पश्चिम में प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता**—अमेरिका के पश्चिमी भाग में उपजाऊ कृषि-भूमि, चारण-भूमि तथा अन्य प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता थी। पश्चिम के खनिज भण्डारों, उर्वर भूमि और घास के मैदानों ने पूर्वी भाग के उद्योगपतियों, किसानों और चरवाहों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। फलतः बड़ी संख्या में व्यक्ति पूर्व से पश्चिम की ओर प्रयाण करने लगे।

(5) **सरकार की उदार भूमि-नीति**—अमेरिकी सरकार की उदार भूमि-नीति भी पश्चिम की ओर प्रयाण में सहायक बनी। सरकार की भूमि-नीति के दो मुख्य उद्देश्य थे—(1) पश्चिमी भाग में जन-प्रवास को प्रोत्साहित करना तथा (2) भूमि की बिक्री द्वारा सरकारी आय में वृद्धि करना। 1785 में जारी किए गए अध्यादेश के अनुसार, सर्वप्रथम सरकार द्वारा भूमि का सर्वेक्षण किया जाता था। तदुपरान्त सार्वजनिक कार्यालयों के माध्यम से नीलामी द्वारा भूमि बेची जाती थी। भूमि का न्यूनतम मूल्य एक डॉलर प्रति एकड़ निर्धारित था, जो 1796 में बढ़ाकर 2 डॉलर प्रति एकड़ कर दिया गया।

(6) **यूरोप की संक्रमणकारी स्थिति**—जिस समय अमेरिका में पश्चिम की ओर प्रयाण का कार्य चल रहा था, उस समय यूरोप की आन्तरिक स्थिति अस्त-व्यस्त थी। एक ओर, नेपोलियन ने यूरोप का जनजीवन संकटमय बना दिया था तथा दूसरी ओर, औद्योगिक क्रान्ति ने 'बेरोजगारों की फौज' खड़ी कर दी थी। अतः फ्रांस, स्पेन, ब्रिटेन, आदि, यूरोपीय देशों के बहुत से व्यक्ति जीवनयापन की तलाश में अमेरिका चले आए। अमेरिका के पश्चिमी भाग ने उन्हें आश्रय प्रदान किया।

पश्चिमोन्मुख विस्तार के प्रभाव—पश्चिम की ओर प्रयाण का अमेरिका के सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। टर्नर (Turner) के शब्दों में, "पश्चिम ने राजनीतिक एवं सामाजिक असन्तोष के विरुद्ध सुरक्षा कपाट का कार्य किया। इसने पूर्व के शोषित श्रमिकों के लिए स्वर्ग तथा तकनीकी बेरोजगारी के विरुद्ध बीमे का कार्य किया।" पश्चिम की ओर प्रयाण के (अ) आर्थिक, (ब) सामाजिक एवं (स) राजनीतिक परिणाम (प्रभाव) निम्न प्रकार थे—

(अ) आर्थिक प्रभाव—पश्चिमोन्मुख विस्तार ने तीव्र गति में पूँजीवादी विकास को बढ़ावा देकर अमेरिका की आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। 19वीं शताब्दी में अमेरिकी कृषि-विकास की कहानी पश्चिमोन्मुख विस्तार की ही कहानी है। पश्चिम की ओर प्रयाण ने कृषि-क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन उत्पन्न किए। इसने पश्चिमी भाग में कपास की खेती सम्भव बनाई तथा वैज्ञानिक कृषि-पद्धतियों को प्रोत्साहित किया। भूमि की प्रचुरता और श्रम की न्यूनता के कारण पश्चिम में किसानों ने श्रम-बचत (पूँजी-प्रघन) विधियों का प्रयोग किया। परिवहन के साधन विकसित हो जाने से पूर्वी और पश्चिमी भाग के किसानों में प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न हुई, जिसका कृषि पर लाभदायक प्रभाव पड़ा। सूतीवस्त्र उद्योग के लिए कपास की वृद्धिशील माँग के कारण कपास की खेती का विस्तार हुआ। कपास का उत्पादन 1790 में 40 हजार गाँठ से बढ़कर 1860 में 18.41 लाख गाँठ हो गया। चावल और गन्ने के उत्पादन में भी वृद्धि हुई।

पश्चिम की ओर प्रयाण ने औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास को भी प्रोत्साहित किया। पश्चिमी क्षेत्र में उद्योगों का अभाव था। अतः पूर्वी क्षेत्र के उद्योगों को अपना निर्मित माल खपाने के लिए पश्चिमी क्षेत्र का बाजार उपलब्ध हो गया। क्षेत्रीय श्रम-विभाजन को बढ़ावा देते हुए, पश्चिमोन्मुख विस्तार ने पूर्वी क्षेत्र में उद्योगों तथा पश्चिमी क्षेत्र में कृषि का विकास प्रोत्साहित किया। परिवहन और संचार-साधनों के विस्तार ने पूर्वी और पश्चिमी क्षेत्रों के बीच व्यापार प्रोत्साहित किया। परिवहन और संचार साधनों के विस्तार ने तकनीकी बेरोजगारी के विरुद्ध बीमे का कार्य भी किया। यदि पूर्वी क्षेत्र में उपस्थित तकनीकी परिवर्तनों के कारण कुछ श्रमिक बेकार हो जाते थे, तब वे पश्चिम की ओर प्रयाण कर जाते थे।

(ब) सामाजिक प्रभाव—सीमा प्रदेशों की कठिनाइयों ने उनके निवासियों में स्वतन्त्रता और व्यक्तिवादी भावना का संचार किया। सीमा प्रदेशों में विभिन्न जाति और सम्प्रदाय के व्यक्ति एकसाथ मिलकर रहते थे, जिससे अमेरिकी सभ्यता को नया स्वरूप प्राप्त हुआ। पश्चिम की ओर प्रयाण करने वाले व्यक्तियों ने पश्चिम में ऐसे वातावरण का सृजन किया, जो चुनाव द्वारा निर्मित सरकार, चर्च, विद्यालय, मुद्रणालय एवं समाचारपत्र अपनाने में सहायक बना।

(स) **राजनीतिक प्रभाव**—पश्चिमोन्मुख विस्तार ने ऐसे राजनीतिक वर्ग को जन्म दिया, जो शीघ्र ही अमेरिकी राजनीति में महत्वपूर्ण बन गया। इसके प्रभाव के कारण ही आर्थिक अवसरों में वृद्धि, व्यक्तिवाद तथा निजी उपक्रम की स्वतन्त्रता अमेरिकी जनतन्त्र की प्रमुख विशेषताएँ बन गईं। चेस्टर राईट (Chester Wright) के शब्दों में, "पश्चिमी भाग के निवासियों ने राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश आरम्भ किया तथा उस काल में वयस्क मताधिकार के सामान्य विस्तार हुए। चलाए जा रहे आन्दोलन की सहायता से उन्होंने सरकार के लोकप्रिय स्वरूप का विकास तथा औद्योगिक जनतन्त्र के विकास में सहायक कानूनों का निर्माण प्रोत्साहित किया।" पश्चिमोन्मुख विस्तार अमेरिकी गृह-युद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण था।

5
अमेरिकी गृह-युद्ध
(The American Civil War)

प्रश्न 1—**गृह-युद्ध के समय संयुक्त राज्य अमेरिका की आर्थिक स्थिति की व्याख्या कीजिए।**

Discuss the economic condition of U S. A. on the eve of Civil War.

उत्तर—'पश्चिम की ओर प्रयाण' के साथ-साथ अमेरिका का आर्थिक विकास दो भिन्न दिशाओं में आरम्भ हुआ। उत्तर-पूर्व के निवासी औद्योगिक विकास के लिए उत्सुक थे। अतः इस क्षेत्र में कृषि, उद्योग, परिवहन एवं संचार का तेजी से विकास आरम्भ हुआ। दक्षिण के निवासी परिवर्तन-विरोधी थे, जिसके कारण इस क्षेत्र की अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई बनी रही। जब इन दोनों क्षेत्रों के बीच समायोजन का प्रयास किया गया, तब उसकी परिणति गृह-युद्ध (1861-65) के रूप में हुई।

गृह-युद्ध के समय अमेरिकी अर्थव्यवस्था

गृह-युद्ध के समय अमेरिका की आर्थिक स्थिति का विवेचन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(1) **उद्योग-धन्धे**—अमेरिका का औद्योगिक विकास 1808 से आरम्भ हुआ। (इससे पहले विनिर्मित वस्तुओं के लिए अमेरिका यूरोप पर आश्रित रहता था)। प्रारम्भ में अमेरिकी उद्योगों को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, जैसे—यूरोप की सस्ती वस्तुओं के साथ प्रतियोगिता, योग्य व्यवस्थापकों का अभाव, संचार-साधनों की कठिनाई, श्रम और पूँजी की न्यूनता। 1812 में ब्रिटेन के साथ

युद्ध छिड़ जाने के बाद अमेरिका ने विदेशी माल के आयात पर आश्रित रहना छोड़ दिया, जिससे घरेलू उद्योगों के विकास को बहुत बल मिला। उद्योगों में श्रम का अभाव श्रम-बचत विधियों के आविष्कार द्वारा पूरा किया गया। रेलों, सड़कों और नहरों का विकास हो जाने से निर्माताओं के लिए परिवहन की कठिनाई भी दूर हो गई। 1816 और 1818 में पारित संरक्षणात्मक प्रशुल्क अधिनियमों ने अमेरिका में उन वस्तुओं के घरेलू उत्पादन को अत्यधिक प्रोत्साहित किया; जो पहले ब्रिटेन से आयात की जाती थीं। औद्योगिक विकास हेतु अमेरिका में ईंधन और कच्चा-माल पहले से ही प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। बढ़ती हुई जनसंख्या तथा पश्चिमोन्मुख विस्तार ने उद्योगों के लिए बाजार की समस्या भी हल कर दी।

1812 के युद्ध ने अमेरिका में कारखाना प्रणाली को जन्म दिया था। सूती-वस्त्र का आधुनिक कारखाना सर्वप्रथम 1814 में स्थापित हुआ। यद्यपि ऊनी वस्त्रोद्योग का विकास भी सूती वस्त्रोद्योग के साथ आरम्भ हुआ था, किन्तु 1860 तक ऊनी वस्त्र के सम्बन्ध में अमेरिका आत्मनिर्भर नहीं बन पाया। 1840 तक अमेरिका में लोहा गलाने और इस्पात तैयार करने की कला विकसित हो चुकी थी। धात्विक उद्योगों तथा जूता-निर्माण उद्योग का तेजी से विकास आरम्भ हो गया था। 18[illegible] तक अमेरिकी उद्योग पूंजी के बारे में भी आत्मनिर्भर बन गए। उद्योगों में पूंजीगत निवेश की राशि 1830 में केवल 50 मिलियन डॉलर थी, जो 1850 में बढ़कर 500 मिलियन डॉलर तथा 1860 में 1000 मिलियन डॉलर हो गई। गृह-युद्ध के समय न्यू इंगलैण्ड सूती वस्त्र के उत्पादन का तथा पेन्सिलवानिया लोहा एवं इस्पात के उत्पादन का प्रमुख केन्द्र था। औद्योगिक ईंधन के रूप में मुख्यत: कोयले का प्रयोग किया जाता था। 1859 से पूर्व तक खनिज तेल का पता नहीं चल पाया था।

(2) **परिवहन और संचार**—अमेरिका में परिवहन-सुविधाओं का विकास कई चरणों से होकर गुजरा। 18वीं शताब्दी में भारवाही पशु थल यातायात के प्रमुख साधन थे। यह टर्नपाईक सड़कों का युग था। दूसरे चरण में नदियों का यातायात के लिए प्रयोग किया जाने लगा तथा वाष्प-चालित नावें निर्मित हुईं। तीसरे चरण में परिवहन के साधन-स्वरूप नहरों का निर्माण हुआ। चौथे चरण में रेलों का तीव्र गति से विकास आरम्भ हुआ। 1860 में रेल-मार्गों की कुल लम्बाई 30 हजार मील थी। इस समय तक अमेरिका में 50 हजार मील से अधिक टेलीग्राफ लाइनों का निर्माण हो चुका था, जो सभी प्रमुख शहरों को परस्पर जोड़ती थीं। डाक-व्यवस्था का विकास भी शुरु हो चुका था। 1835 के बाद मुद्रण-कार्य में शक्ति का प्रयोग आरम्भ हो जाने से प्रकाशन व्यवसाय का तेजी से विकास हुआ था।

(3) **कृषि**—1789 तथा 1860 के बीच कृषि अमेरिका निवासियों का प्रमुख व्यवसाय थी। राष्ट्रीय आय में कृषि क्षेत्र का अंशदान 40 प्रतिशत से अधिक रहता था। प्रारम्भ में कृषि की दशा अत्यन्त पिछड़ी हुई थी; किन्तु 1800 और 1860 के बीच कृषि-क्षेत्र में कई क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए, जैसे —प्रादेशिक विशिष्टता

की प्राप्ति, कृषि के समुन्नत तरीकों का प्रयोग, वैज्ञानिक ढंग से पशुपालन, कृषि का यन्त्रीकरण तथा कृषि कार्य का निरन्तर पश्चिम की ओर प्रसार।

प्रारम्भ में किसानों द्वारा फसलों का उत्पादन पारिवारिक उपभोग के निमित्त किया जाता था, किन्तु परिवहन-सुविधाओं के विकास के पश्चात् फसलों का उत्पादन बाजार के लिये किया जाने लगा। 1790 के पश्चात् कृषि-वस्तुओं का निर्यात तेजी से बढ़ा। ब्रिटेन और फ्रांस अमेरिकी-कृषि-वस्तुओं के प्रमुख ग्राहक थे। परन्तु 1812 के युद्ध के दौरान इन देशों के साथ अमेरिका के व्यापारिक सम्बन्ध बिगड़ गए। फलत: अमेरिकी किसान अपनी उपज की बिक्री के लिए घरेलू बाजार पर निर्भर रहने लगे। बाद में देश के भीतर उद्योग-धन्धों एवं परिवहन-साधनों के द्रुत विकास से अमेरिकी कृषि के व्यापारीकरण को बल मिला।

19वीं शताब्दी के आरम्भ से ही अमेरिकी कृषि के क्षेत्र में प्रादेशिक विशिष्टता की प्रवृत्ति विकसित होने लगी। दक्षिणी भाग ने कपास की खेती में विशेषज्ञता प्राप्त की। इस भाग में कपास का वार्षिक उत्पादन 1790 में 52 लाख पौण्ड से बढ़कर 1830 में 5,072 लाख पौण्ड हो गया। इस तरह, गृह-युद्ध से पूर्व अमेरिकी कृषि में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हो रहे थे। कृषि कार्य में सुधरे हुए औजारों का प्रयोग किया जाने लगा था। 1820 के पश्चात फसलों में खाद का प्रयोग पर्याप्त बढ़ गया था। 1830 के पश्चात पशु-धन के सुधार पर बल दिया जाने लगा था। अच्छी नस्ल के पशुओं का विदेशों से आयात किया गया था। यान्त्रिक खेती के विस्तार से कृषि की उत्पादकता बढ़ गई थी और कृषि कार्यों में श्रम की आवश्यकता घट गई थी। 1862 में 'कृषि-ब्यूरो' की स्थापना हुई तथा 1862 के मॉरिल अधिनियम के अन्तर्गत कृषि विद्यालयों की स्थापना हेतु राज्यों को संघ सरकार से भूमि मिलने की व्यवस्था की गई।

(4) **विदेशी व्यापार**—1790 से लेकर 1860 तक अमेरिका के आयात-निर्यात व्यापार में 20 गुनी से अधिक वृद्धि हुई। विनिर्मित माल का निर्यात धीरे-धीरे बढ़ता गया तथा आयात उत्तरोत्तर घटता गया। निर्यात-वस्तुओं में वस्त्र, लोहे के सामान, लकड़ी के सामान और चमड़े के सामान की प्रधानता थी। यूरोप को किया जाने वाला निर्यात निरन्तर बढ़ रहा था। अमेरिका के कुल निर्यातों में यूरोप को किए जाने वाले निर्यात का हिस्सा 1821 में दो-तिहाई था, जो 1860 में बढ़कर तीन-चौथाई हो गया (इसमें कपास की प्रधानता थी) अमेरिका में अधिकांश माल का आयात भी यूरोप से होता था। अमेरिका के कुल आयातों में यूरोप का हिस्सा 1821 से लेकर 1860 तक लगभग 64 प्रतिशत बना रहा। यूरोप से आयातित माल में विनिर्मित वस्तुओं की प्रधानता थी।

गृह-युद्ध से पूर्व अमेरिका जितने मूल्य का आयात करता था, उससे कम मूल्य का ही निर्यात करता था। भुगतान सन्तुलन का घाटा विदेशी ऋणों द्वारा पाटा

जाता था। पूंजीगत सामान की खरीदारी के लिये भी अमेरिका को विदेशी ऋणों का आश्रय लेना पड़ता था।

प्रश्न 2 – अमेरिकी गृह-युद्ध के क्या कारण थे ? इसके आर्थिक प्रभावों का परीक्षण कीजिए।

What were the causes of American Civil War ? Examine its economic effects.

उत्तर – स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 'गृह-युद्ध' अमेरिकी इतिहास की सबसे प्रमुख घटना थी। गृह-युद्ध अमेरिका के उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के आर्थिक हितों के मध्य संघर्ष का अनिवार्य परिणाम था। अमेरिका के उत्तरी राज्य उद्योग-प्रधान थे और दक्षिणी राज्य कृषि-प्रधान। अमेरिका के उत्तरी और दक्षिणी भागों के बीच का यह असामंजस्य अन्ततः 1861 में भीषण गृह-युद्ध के रूप में प्रकट हुआ। चार्ल्स बियर्ड (Charles Beard) ने अमेरिकी गृह-युद्ध को 'द्वितीय अमेरिकी क्रान्ति' की संज्ञा दी है। उन्हीं के शब्दों में, "वस्तुतः यह उत्तर दक्षिण के बीच कृषिवाद एवं उद्योगवाद, वर्गवाद और राष्ट्रीयवाद, आत्मनिष्ठ शान्ति तथा कठिनाइयों से परिपूर्ण गतिशीलता, बाईबिल और डॉलर में से किसी एक के चयन हेतु संघर्ष था।"

सर्वप्रथम 20 दिसम्बर 1860 को दक्षिण कैरोलीना ने संघ से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। तदुपरान्त 1 फरवरी 1861 तक मिसीसिपी, फ्लोरिडा, अलबामा, जौर्जिया, लुसियाना और टेक्सास राज्यों ने संघ से सम्बन्ध विच्छेद करके 'Confederate States of America' की स्थापना कर ली। 4 मार्च 1861 को राष्ट्रपति पद पर प्रतिष्ठित अब्राहम लिंकन ने अपने भाषण में दक्षिणी राज्यों की पृथकता को अवैध करार दिया। अप्रैल 1861 में गृह-युद्ध आरम्भ हुआ जो चार वर्ष तक चलता रहा। इस युद्ध में दोनों पक्षों के 6·2 लाख व्यक्ति मरे। अप्रैल 1865 में राष्ट्रपति लिंकन की मोहत्या कर दी गई। इस तरह गृह-युद्ध समाप्त हुआ और संघ कायम रहा।

गृह-युद्ध के कारण

अमेरिकी गृह-युद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

(1) संघीय भूमि-नीति— अमेरिका के उत्तरी और दक्षिणी भागों में संघीय भूमि-नीति को लेकर परस्पर मतभेद था, जो गृह-युद्ध का कारण बना। दक्षिण निवासी अपनी कृषि के विस्तार हेतु पश्चिमी भू-क्षेत्रों का बड़े-बड़े टुकड़ों में सस्ते मूल्य पर विक्रय चाहते थे। दूसरी ओर, उत्तर के उद्योगपतियों को आशंका थी कि पश्चिम की ओर प्रयाण से उद्योगों के लिए श्रम का अभाव उत्पन्न हो जायेगा। इसलिए वे पश्चिमी भाग की भूमि का ऊँचे मूल्य पर छोटे-छोटे टुकड़ों में विक्रय अर्थात 'प्रतिबन्धित विक्रय' चाहते थे।

(2) प्रशुल्क-नीति—प्रशुल्क-नीति को लेकर भी उत्तरी और दक्षिणी राज्यों में तीव्र मतभेद था। उद्योग-प्रधान उत्तरी राज्य 'संरक्षणात्मक प्रशुल्क नीति' के समर्थक थे, ताकि उनके उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाया जा सके। दूसरी ओर, दक्षिण के कृषि-प्रधान राज्य 'स्वतन्त्र व्यापार की नीति' के समर्थक थे, ताकि वे

अपनी व्यापारिक फसलों का बाधारहित निर्यात कर सकें। दक्षिण में विदेशी वस्तुओं का आयात होने से उत्तर के उद्योगों को कड़ी प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती थी; क्योंकि विदेशी वस्तुएँ अधिक सस्ती थीं। इसलिए उत्तरी राज्य विदेशी माल के आयात को प्रतिबन्धित करना चाहते थे, किन्तु दक्षिणी राज्य इसे व्यापारिक मूर्खता मानते थे। दक्षिण निवासियों का कहना था कि सस्ती विदेशी वस्तुओं के स्थान पर उत्तर की महंगी वस्तुएँ खरीदने का कोई औचित्य नहीं है।

(3) **बैंकिंग और मौद्रिक व्यवस्था**—दक्षिण का ऋणग्रस्त क्षेत्र सुगम बैंकिंग अधिनियम तथा विस्तृत करेन्सी का पक्षपाती था; जबकि उत्तर का मध्यम वर्ग स्वस्थ बैंकिंग प्रणाली का विकास चाहता था। इस तरह बैंकिंग और मौद्रिक प्रणाली को लेकर भी उत्तर और दक्षिण के बीच मतभेद था।

(4) **लगातार आर्थिक मन्दी**—1819, ~~1837~~ और 1837 में अमेरिका के उत्तरी भाग में भयंकर मन्दी आई, जिसका प्रभाव दक्षिणी भाग पर भी पड़ा। दक्षिण निवासी व्यावसायिक उच्चावचनों को उत्तर की औद्योगिक व्यवस्था की देन मानते थे। उनका विश्वास था कि तेजी-मन्दी की बुराई से बचने का सर्वोत्तम तरीका उत्तर से पृथक् होकर नए राष्ट्र की स्थापना करना है।

(5) **आर्थिक और राजनीतिक असमानताएँ**—अमेरिका का गृह-युद्ध दक्षिण की 'बागान अर्थव्यवस्था' तथा उत्तर के 'औद्योगिक पूंजीवाद' के बीच संघर्ष की उपज था। उत्तर में कल-कारखानों और शहरों की प्रधानता थी; जबकि दक्षिण में व्यापारिक खेती (गन्ना, कपास और तम्बाकू की खेती) और गाँवों की। उत्तर की जलवायु ठण्डी और दक्षिण की जलवायु गर्म थी। उत्तर में गोरों की संख्या अधिक थी, जबकि दक्षिण में नीग्रो जाति की। अधिकांश उच्च पदों पर उत्तर वाले ही आसीन थे। अतः दक्षिण निवासी अपने लिये संघ को बेकार मानते थे।

(6) **दास प्रथा**—अमेरिका के उत्तरी भाग में दास प्रथा का प्रचलन नहीं था; किन्तु दक्षिणी भाग की खेती मुख्यतः दासों पर आधारित थी। अतः जहाँ उत्तर निवासी दास प्रथा को समाप्त कर देना चाहते थे; वहीं दक्षिण निवासी इस संस्था को बनाए रखना चाहते थे। 1860 के निर्वाचन में उत्तर की रिपब्लिकन पार्टी विजयी हुई जिसका प्रधान उद्देश्य दास प्रथा का उन्मूलन करना था। इससे दक्षिण निवासी क्षुब्ध हो गए और उन्होंने संघ छोड़ने का निश्चय कर लिया।

(7) **परिवहन और संचार-साधनों का विकास**—निस्सन्देह परिवहन और संचार-साधनों का विस्तार राष्ट्रीय एकता और सूत्रबद्धता में सहायक होता है; किन्तु अमेरिका में इन साधनों के विकास में क्षेत्रीय विषमता विद्यमान थी। परिवहन के साधन-स्वरूप रेलवे का विकास उत्तर और पश्चिम में ही केन्द्रित था। दक्षिण इससे अछूता रह गया। फलतः उत्तर और दक्षिण के बीच वैमनस्य की स्थिति उत्पन्न हो गई।

(8) **प्रादेशिक सीमा का विस्तार**—अपनी अर्थव्यवस्था के हित में दक्षिण के

फ्लोरिडा, टेक्सास और लुसियाना राज्य अपनी सीमा का विस्तार चाहते थे। मैक्सिको का युद्ध सीमा-विस्तार के निमित्त ही हुआ था। प्रादेशिक सीमा का विस्तार उत्तर तब तक सहन करता रहा, जब तक उसे अपनी औद्योगिक वस्तुओं के लिए दक्षिण में बाजार मिलता रहा। परन्तु जब दक्षिण ने यूरोपीय माल का आयात शुरू कर दिया, तब उत्तर प्रादेशिक सीमा-विस्तार का विरोधी बन गया।

(9) **संघ सरकार पर नियन्त्रण**— स्वतन्त्रता प्राप्ति के शीघ्र बाद संघ सरकार पर नियन्त्रण को लेकर उत्तर और दक्षिण के बीच संघर्ष उठ खड़ा हुआ। प्रारम्भ में दोनों भागों का प्रतिनिधित्व समान था परन्तु जब पश्चिमी राज्य राज्य संघ में प्रविष्ट हुए तथा विचारों की समानता के कारण वे उत्तरी राज्यों के समीप आ गए, तब उत्तर और दक्षिण के बीच का सन्तुलन भग हो गया।

(10) **अलग होने की धमकी** - गृह-युद्ध से बहुत पहले दक्षिणी राज्य संघ से अलग होने की धमकी देने लगे थे। इससे उत्तरी राज्यों के उद्योगपति और वित्त-प्रदायक अत्यन्त चिन्तित थे। इसलिए गृह-युद्ध छिड़ जाने पर राष्ट्रपति लिंकन में 'संघ की रक्षा करना' अपना मुख्य उद्देश्य बताया था।

गृह-युद्ध के आर्थिक परिणाम

अमेरिकी गृह-युद्ध के आर्थिक परिणाम (प्रभाव) निम्न प्रकार थे—

(1) **बागान व्यवस्था का अन्त**—दक्षिण निवासियों का धन मुख्यतः बड़े-बड़े बागानों और दासों में सीमित था। दास-प्रथा का अन्त, प्रचलन में मुद्रा की अव्यवस्था, उत्तर की प्रतिशोधात्मक कर-नीति और परिवहन की अस्त-व्यस्तता ने मिलकर दक्षिण के बड़े-बड़े बागानों को छोटे-छोटे बागानों में परिणित कर दिया। बड़े पैमाने की खेती के स्थान पर छोटे पैमाने की खेती आरम्भ हुई। गृह-युद्ध से पहले दक्षिण में गिनी-चुनी फसलों (तम्बाकू और कपास) की खेती होती थी। गृह-युद्ध के बाद यहाँ विविध फसलों की खेती होने लगी।

(2) **पूंजीवादी व्यवस्था का आरम्भ**— गृह-युद्ध से अमेरिकी व्यापारियों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। व्यापारियों ने दर्शन, धर्म, नैतिकता और आदर्शवादिता त्यागकर समूचे राष्ट्र को भौतिक समृद्धि की दिशा में प्रेरित किया। यहीं से आधुनिक अमेरिका का निर्माण आरम्भ हुआ, जिसने आर्थिक विकास के साधन-स्वरूप पूंजीवादी व्यवस्था अपनायी।

(3) **उत्तरी भाग का द्रुत आर्थिक विकास**—गृह-युद्ध के समय अमेरिका के उत्तरी भाग की आर्थिक क्रियाशीलता चरम सीमा पर थी। मूल्य-स्तर में 117 प्रतिशत की वृद्धि के बावजूद, मजदूरी में केवल 43 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इससे उत्तर के उद्योग-धन्धों को विशेष प्रोत्साहन मिला। दक्षिण के बाजार और कच्चे माल पर लगे नियन्त्रण ने उत्तर के उद्योगों को और भी प्रोत्साहित किया। दास-प्रथा का अन्त होने से उत्तर के उद्योगों में काम करने के लिए दक्षिण से भारी संख्या में नीग्रो आने

लगे। इसी दौरान उत्तर में स्वर्ण-रजत के विशाल भण्डार का पता चला तथा रेलों का द्रुत गति से विकास आरम्भ हुआ। युद्धकाल में ऊनी वस्त्र, चमड़े का सामान तथा अस्त्र-शस्त्र उद्योगों का अत्यधिक विकास हुआ। गृह-युद्ध ने न केवल उत्तर में औद्योगिक विकास को तीव्रता प्रदान की, अपितु भावी विकास हेतु उचित वातावरण का सृजन भी किया।

(4) **प्रशुल्क नीति पर प्रभाव**—गृह-युद्ध में उत्तर की विजय हुई, जो संरक्षात्मक प्रशुल्क नीति का समर्थक था। अतः गृह-युद्ध की समाप्ति पर संघ सरकार ने प्रशुल्क नीति का निर्धारण 'संरक्षण' के पक्ष में किया। संरक्षण की आड़ में कई उद्योगों का द्रुत विकास सम्भव हुआ।

(5) **बैंकिंग पर प्रभाव**—गृह-युद्ध के समय उत्पन्न वित्तीय संकट ने सरकार को पत्र-मुद्रा की निकासी हेतु प्रेरित किया। बैंकिंग व्यवस्था पर अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए सरकार ने 18०3 में 'राष्ट्रीय बैंकिंग अधिनियम' पारित किया इससे बैंकिंग व्यवस्था के विकास को प्रोत्साहन मिला।

(6) **रेलों का द्रुत विस्तार**—गृह-युद्ध के पश्चात् रेलों का द्रुत गति से विकास आरम्भ हुआ तथा शीघ्र ही देश भर में रेलों का जाल-सा बिछ गया। जल-मार्गों और सड़कों के विकास में भी तीव्रता आई।

गृह-युद्ध का अमेरिका के सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इसने संघ की सत्ता को सर्वोच्च घोषित कर दिया तथा अमेरिका को राजनीतिक स्थिरता प्रदान की। राज्यों का संघ से अलग होने का अधिकार समाप्त हो गया। दास-प्रथा समाप्त हो गई। लगभग 35 लाख नीग्रो दक्षिणी किसानों की दासता से मुक्त हो गए। फॉकनर (Faulkner) के शब्दों में, "गृह-युद्ध के परिणामस्वरूप संघ सरकार दक्षिण के कृषि-दासतन्त्र (Agrarian Slavocracy) के नियन्त्रण से निकलकर उत्तर के उदीयमान औद्योगिक धनिकतन्त्र (Industrial Plutocracy) के नियन्त्रण में चली गई।"

6

अमेरिकी कृषि का विकास
(Development of American Agriculture)

प्रश्न 1—संयुक्त राज्य अमेरिका में कृषि-क्रान्ति के पीछे क्या घटक थे ? अर्थव्यवस्था पर इसके क्या प्रभाव पड़े ?

What were factors behind agrarian revolution in U.S.A. ? What were the its effects on the economy ?

उत्तर - 1860 और 1910 के बीच का समय 'अमेरिकी कृषि का क्रान्ति काल' कहा जाता है। इस अवधि में अमेरिकी कृषि के अन्तर्गत कई क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, जैसे—कृषि-यन्त्रों का प्रयोग, कृषित क्षेत्र का विस्तार, फसलों का विशिष्टीकरण, कृषि-जोतों के आकार में परिवर्तन, कृषि-पदार्थों के उत्पादन और निर्यात में वृद्धि आदि। 1850 में अमेरिका का कृषित-क्षेत्र 30·5 करोड़ एकड़ था, जो 1910 तक बढ़कर 87·8 करोड़ एकड़ हो गया। इस बीच कृषि-कार्य में संलग्न व्यक्तियों की संख्या में 126 लाख की वृद्धि हुई। फार्म सम्पत्ति का मूल्य 1860 में 793 करोड़ डॉलर से बढ़कर 1910 में 7800 करोड़ डॉलर हो गया। कृषि-यन्त्रों के प्रयोग में भारी वृद्धि हुई। कृषि-कार्य में प्रयुक्त औजारों और मशीनों का मूल्य 1860 में 24·6 करोड़ डॉलर से बढ़कर 1910 में 126·5 करोड़ डॉलर हो गया। कृषि-पदार्थों का निर्यात मूल्य 1870 में 36·10 करोड़ डॉलर से बढ़कर 1900 में 83·6 करोड़ डॉलर हो गया, जो अमेरिका के कुल निर्यात मूल्य का 62 प्रतिशत था। भूमि की अत्यधिक मात्रा में उपलब्धि ने फसलों के विशिष्टीकरण को प्रोत्साहित किया। मिनैसोटा और डेकोटा ने गेहूं की खेती में, कैलिफोर्निया और फ्लोरिडा ने फलोत्पादन में तथा दक्षिणी राज्यों ने कपास की खेती में विशेषज्ञता प्राप्त कर ली। 1860 और 1910 के बीच समग्र रूप से कृषि-उत्पादन में चार गुनी वृद्धि हुई। कपास के उत्पादन में 3 गुनी, गेहूं के उत्पादन में 6 गुनी और जई के उत्पादन में 4 गुनी वृद्धि हुई।

कृषि-क्रान्ति के कारण

1860 के बाद अमेरिका में उपस्थित कृषि-क्रान्ति (या अमेरिकी कृषि के द्रुत विकास) के प्रमुख कारण निम्न प्रकार थे—

(1) भूमि की प्रचुरता एवं अनुकूल जलवायु—अमेरिका में जनसंख्या की अपेक्षा भूमि की उपलब्धता इतनी अधिक थी कि कृषि जीवन-यापन के साधन की

बजाय लाभप्रद व्यवसाय बन गई। जनसंख्या में वृद्धि का भी भूमि की प्रचुरता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके अतिरिक्त अमेरिका की समशीतोषण जलवायु भी कृषि-विकास में सहायक सिद्ध हुई।

(2) **सरकार की उदार भूमि-नीति**—पश्चिमोन्मुख विस्तार को प्रोत्साहित करने के ध्येय से अमेरिकी सरकार ने उदार भूमि-नीति का अनुसरण किया। अमेरिका के पश्चिमी भाग में जाकर बसने और खेती करने वालों को सरकार ने बहुत ही कम मूल्य पर और आसान शर्तों पर भूमि प्रदान की। प्रारम्भ में भूमि-विक्रय की न्यूनतम मात्रा 640 एकड़ निर्धारित थी, जो सन् 1800 में घटाकर 160 एकड़ तथा 1920 में 80 एकड़ कर दी गई। परिणामतः अमेरिका में कृषि-जोतों की संख्या 1860 में 20 लाख से बढ़कर 1910 में 60 लाख हो गई। इस बीच कृषित-क्षेत्र 30·5 करोड़ एकड़ से बढ़कर 87·8 करोड़ एकड़ हो गया।

(3) **कृषि का यन्त्रीकरण**—भूमि की प्रचुरता और श्रम की न्यूनता ने कृषि कार्यों में बड़े पैमाने पर यन्त्रों का प्रयोग प्रोत्साहित किया। इससे कृषि-क्षेत्र में श्रम-विभाजन की शुरुआत पूंजी की बचत और उत्पादन में असाधारण वृद्धि सम्भव हुई। बोगार्ट (Bogart) के अनुसार, अमेरिकी कृषि में प्रयुक्त औजारों और मशीनों की कीमत 1860 में 24·6 करोड़ डॉलर से बढ़कर 1880 में 40·6 करोड़ डॉलर तथा 1910 में 126·5 करोड़ डालर हो गई। शक्ति चालित कृषि-यन्त्रों का प्रयोग 1904 में आरम्भ हुआ। इससे पूर्व अश्व-चालित यन्त्रों का प्रयोग होता था।

(4) **साख की उपलब्धि**—कृषि विकास की प्रारम्भिक अवस्था में अमेरिकी किसानों को साहूकारों से ऊँची ब्याज पर ऋण लेना पड़ता था; यद्यपि कुछ राज्यों ने किसानों की सहायतार्थ 'ग्रामीण साख बैंक' स्थापित किये थे। 1916 में संघ सरकार ने 'संघीय प्रक्षेत्र ऋण बैंक योजना' आरम्भ की। इसके प्रशासन का भार 'संघीय प्रक्षेत्र मण्डल' को सौंपा गया। योजना की क्रियान्वित के लिए सम्पूर्ण देश को 12 क्षेत्रों में बांटा गया तथा प्रत्येक क्षेत्र में 'एक संघीय प्रक्षेत्र ऋण बैंक' स्थापित किया गया। बैंक अपनी पूंजी 'प्रक्षेत्र बन्धक बॉण्ड' बेचकर जुटाते और किसानों को दीर्घकालीन वित्त प्रदान करते थे। 1925 तक बैंकों ने किसानों को 15,350 लाख डॉलर की सहायता प्रदान की।

(5) **विद्युत शक्ति का बड़े पैमाने पर प्रयोग**—औद्योगिक क्षेत्र की तरह, अमेरिका के कृषि-क्षेत्र में भी विद्युत शक्ति का बड़े पैमाने पर प्रयोग होने लगा। ग्रामीण क्षेत्र का विद्युतीकरण 1935 में स्थापित 'ग्रामीण विद्युतीकरण प्रशासन' द्वारा किया गया था।

(6) **कृषि-शिक्षा एवं अनुसन्धान**—कृषि-शिक्षा के प्रसार हेतु अमेरिकी सरकार ने 1882 में 'राष्ट्रीय कृषि-विद्यालय अधिनियम' पारित किया। इसके अन्तर्गत कृषि-विद्यालयों की स्थापना हेतु प्रत्येक राज्य को 30 हजार एकड़ संघीय भूमि मिलने की व्यवस्था थी। फलतः महायुद्ध से पूर्व तक देश भर में 69 कृषि-विद्यालयों की स्थापना

हो गई। कृषि विद्यालयों की सहायता के लिये 1914 में 'स्मिथ-लीवर एक्सटेन्शन एक्ट' तथा 1917 में 'स्मिथ ह्यूज एक्ट' पारित किया गया। कृषि-अनुसन्धान को प्रोत्साहित करने के लिये सरकार ने 1914 तक 60 अनुसन्धान केन्द्र स्थापित किए, जो कृषि विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित थे।

(7) **सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार**—1870 में अमेरिका की केवल 20 हजार एकड़ कृषि-भूमि पर सिंचाई की सुविधा उपलब्ध थी। 1887 के 'मरु भूमि अधिनियम' द्वारा सरकार ने सिंचाई कार्यों को प्रोत्साहन देने का प्रयास किया था, जो अधिक सफल नहीं हो पाया। अतः 1894 में पारित केरी एक्ट (Carey Aet) द्वारा निजी क्षेत्र को सिंचाई के विस्तार का कार्य सौंपा गया। 1902 में पारित 'भूमि-उद्धार अधिनियम' के अन्तर्गत सरकार ने नहरों का निर्माण आरम्भ किया। फलतः 1930 तक अमेरिका में कुल सिंचित क्षेत्र बढ़कर 220 लाख एकड़ हो गया।

(8) **ग्रामीण यातायात का विकास**—ग्रामीण क्षेत्रों में रेलवे और मोटर यातायात की सुविधाओं ने किसानों को उपज का अच्छा मूल्य दिलाकर उत्पादन वृद्धि हेतु प्रोत्साहित किया।

(9) **कृषि-बीमा**—संघ सरकार की ओर से सर्वप्रथम 1938 में गेहूं तथा 1942 में कपास की 'फसल के लिए बीमा योजना लागू की गई। योजना के संचालन हेतु 'फसल बीमा निगम' की स्थापना की गई। इसके अन्तर्गत बाढ़, तूफान, ओला-वृष्टि या फसल-रोगों से हुई क्षति की पूर्ति की जाने लगी। इससे कृषि- विकास को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

(10) **पशु-धन का विकास**—गृह-युद्ध के पश्चात् अमेरिका में पशु-धन के विकास पर समुचित ध्यान दिया गया। विदेशों से अच्छी नस्ल के पशु आयात किए गए; वैज्ञानिक अभिजनन शुरू किया गया तथा पशु-चिकित्सा की व्यवस्था की गई।

(11) **कृषि-वस्तुओं संसारव्यापी माँग**—संसार की बढ़ती हुई जनसंख्या और व्यापार की वृद्धि ने अमेरिकी कृषि-वस्तुओं की माँग को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया। इससे कृषि-विकास को भारी प्रोत्साहन मिला।

(12) **सरकार का अनुकूल दृष्टिकोण**—प्रारम्भ से ही अमेरिकी सरकार का दृष्टिकोण कृषि-विकास के लिए अनुकूल रहा। परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार सरकार ने कृषि-कार्यों को प्रोत्साहित करने के लिए कई अधिनियम पारित किए। आर्थिक संकट की स्थिति में सरकार ने किसानों की रक्षा हेतु सदैव तत्परता दिखाई। कृषि-ऋणों का व्यवस्था के प्रति सरकार का दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण बना रहा।

कृषि-क्रान्ति के प्रमाण

19वीं शताब्दी के अन्त तक अमेरिकी अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्वपूर्ण

स्थान बना रहा, यद्यपि 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही कृषि की अपेक्षा उद्योगों का स्थान अधिक महत्वपूर्ण होने लगा था। गृह-युद्ध के पश्चात् अमेरिकी कृषि में (प्रभाव) दृष्टिगोचर हुए—

(1) **राष्ट्रीय आय में वृद्धि** -- कृषि-क्रान्ति के परिणामस्वरूप कृषि-उत्पादकता और उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि हुई। परिणामत: 1867 और 1890 के बीच समय-समय पर अत्युत्पादन के कारण कृषि-पदार्थों के मूल्य गिरकर उनकी उत्पादन-लागत से भी नीचे हो गए। तदुपरान्त 1890 और 1920 के बीच कृषि-वस्तुओं और भूमि के मूल्य बढ़ जाने से किसानों आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। 1860 से लेकर 1910 तक कृषि-उत्पादन में हुई चार गुनी राष्ट्रीय आय तथा प्रतिव्यक्ति उपस्थित क्रान्तिकारी परिवर्तनों अर्थात् 'कृषि क्रान्ति' के निम्न आर्थिक परिणाम आय का स्तर ऊँचा करने में सहायक बनी।

(2) **औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन**—कृषि-क्रान्ति के कारण व्यापारिक फसलों का उत्पादन बढ़कर तीन गुना हो गया। इससे कच्चे-माल के लिए कृषि पर निर्भर उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन मिला। यान्त्रिक कृषि के विस्तार ने यन्त्र निर्माण उद्योगों का विकास प्रोत्साहित किया। कृषक-समुदाय की आय बढ़ जाने से उद्योगों द्वारा निर्मित उपभोक्ता-पदार्थों की माँग बढ़ गई थी। फलत: उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों का विकास भी प्रोत्साहित हुआ।

(3) **निर्यात व्यापार पर प्रभाव**—कृषि-क्रान्ति के कारण कृषि-उत्पादन में जनसंख्या-वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि हुई। फलत: कृषि-वस्तुओं का निर्यात मूल्य 1870 में 36.10 करोड़ डॉलर से बढ़कर 1900 में 83.6 करोड डॉलर हो गया। 19वीं शताब्दी के अन्त में अमेरिका के निर्यात व्यापार में कृषि-वस्तुओं का हिस्सा 62 प्रतिशत था। 20वीं शताब्दी के आरम्भ से औद्योगिक वस्तुओं का निर्यात बढ़ने लगा। फलत: 920 तक अमेरिका के निर्यात-व्यापार में कृषि-पदार्थों का हिस्सा घटकर 53 प्रतिशत रह गया।

(4) **भूमिहीन श्रमिक वर्ग का आविर्भाव**—यान्त्रिक खेती से विस्तार से भूमिहीन कृषि-श्रमिकों के नए वर्ग का आविर्भाव हुआ। चूंकि कृषि-यन्त्रों की कीमत बहुत अधिक थी, इसलिए छोटे-छोटे किसान यान्त्रिक खेती नहीं अपना सके। शनै: शनै: उनकी स्थिति कृषि-श्रमिकों जैसी हो गई।

(5) **व्यापारिक खेती को प्रोत्साहन**—कृषि-क्रान्ति के परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका की निर्वाह खेती 'व्यापारिक खेती' में बदल गई। भूमि की प्रचुरता के कारण जनसंख्या-वृद्धि का भी कृषि-विकास पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ सका। यद्यपि जनसंख्या-वृद्धि के कारण अमेरिका में कृषि-जोतों की संख्या 1860 में 20 लाख से बढ़कर 1910 में 60 लाख हो गई थी, किन्तु 50 वर्षों की इस अवधि में अमेरिका का कृषित-क्षेत्र भी 305 मिलियन एकड़ से बढ़कर 878 मिलियन एकड़ हो गया।

———

प्रश्न 2—प्रथम महायुद्ध के पश्चात संयुक्त राज्य अमेरिका में कृषि-विकास का संक्षिप्त विवेचन कीजिए। उस समय से कृषि के प्रति राज्य की नीति क्या रही है ?

Describe briefly the development of agriculture in U S A. after the first world war. What has been the policy of State towards agriculture since then ?

उत्तर—प्रथम महायुद्ध काल में कृषि-वस्तुओं की विदेशी माँग बढ़ जाने से अमेरिकी कृषि को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। कपास का निर्यात 1916 में 50 लाख गाँठ से बढ़कर 1919 में 65 लाख गाँठ हो गया। युद्धकाल में अमेरिका से खाद्यान्नों के निर्यात में 400 प्रतिशत और तम्बाकू के निर्यात में 100 प्रतिशत की वृद्धि हुई। कृषि-क्षेत्र में विस्तार और कृषि-मूल्यों में वृद्धि से अमेरिकी किसानों को बहुत अधिक लाभ हुआ। उनकी निवल आय 1914 में 45 मिलियन डॉलर से बढ़कर 1919 में 99 मिलियन डॉलर हो गई।

प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिकी-कृषि—प्रथम महायुद्ध के बाद विदेशी माँग घट जाने तथा कृषि-मूल्यों में अत्यधिक कमी के कारण अमेरिकी किसानों की कठिनाइयाँ बढ़ गईं। 1921 में कृषि-प्रधान राज्यों के प्रतिनिधियों ने 'फार्म ब्लॉक' की स्थापना की तथा किसानों को राहत दिलाने के लिए संघ सरकार पर दबाव डाला। किसानों को राहत पहुँचाने के उद्देश्य से संघ सरकार ने अनेक उपाय किए। सर्वप्रथम, किसानों को सहकारी आधार पर संगठित करने तथा कृषि-साख की व्यवस्था का प्रयास किया गया। संघीय प्रक्षेत्र-ऋण बैंकों के कार्यकलापों के विस्तार हेतु 1923 में 'कृषि-साख अधिनियम' पारित किया गया। दूसरे, 1929 में पारित 'कृषि-विपणन अधिनियम' के अन्तर्गत 50 करोड़ डॉलर की पूंजी से 'संघीय प्रक्षेत्र मण्डल' की स्थापना की गई। तीसरे, 1921 में 'युद्ध-वित्त निगम' को कृषि-पदार्थों के निर्यात हेतु वित्तीय सहायता प्रदान करने का अधिकार दिया गया। चौथे, कृषि-मूल्य बढ़ाने तथा 1921, 19 2 एवं 1930 के प्रशुल्क अधिनियमों द्वारा कृषि-वस्तुओं को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने का प्रयास किया गया। इन समस्त प्रयासों के बावजूद, कृषि और किसानों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। मन्दी की स्थिति पूर्ववत् बनी रही। कृषि-भूमि का मूल्य गिरकर एक-चौथाई रह गया।

1931 और 1932 में, जब मन्दी की दशा चरम सीमा पर थी, तो अमेरिका में खाद्यान्न का उत्पादन युद्धकालीन उत्पादन से भी अधिक हो गया। फलतः कृषि-मूल्यों में भारी गिरावट आई। चूँकि अमेरिका की लगभग आधी जनसंख्या की क्रयशक्ति प्रत्यक्ष रूप से कृषि-मूल्यों पर आधारित थी, इसलिए कृषि तथा उसपर आश्रितों की स्थिति में सुधार आवश्यक हो गया। राष्ट्रपति रूजवेल्ट की 'न्यू डील पॉलिसी' के अन्तर्गत कृषि की दशा सुधारने के लिए अग्र उपाय किए गए—

(1) **कृषि समायोजन अधिनियम** — 1933 में 'कृषि समायोजन अधिनियम' पारित हुआ, जिसका उद्देश्य किसानों की क्रयशक्ति बढ़ाना था। उद्देश्य की पूर्ति के लिए तीन तरीके अपनाए गए—(i) कृषि उत्पादन पर नियन्त्रण, (ii) कृषि साख का प्रसार तथा (iii) मुद्रा का अवमूल्यन। अत्युत्पादन को अवसाद का मूल कारण मानते हुए कृषि उत्पादन घटाने के लिए सभी प्रमुख फसलों की बुवाई का क्षेत्र घटाया गया। इससे बदले किसानों को आर्थिक सहायता दी गई।

(2) **किसानों को विशेष सहायता** - 1933 के 'प्रक्षेत्र-साख अधिनियम' के अन्तर्गत वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से किसानों को अधिक साख उपलब्ध कराई गई। 1933 के 'आयात प्रक्षेत्र-बन्धक अधिनियम' के अन्तर्गत कृषि-ऋण ग्रस्तता के निवारण हेतु केन्द्रीय भूमि बैंकों द्वारा किसानों को सस्ती ब्याज पर दीर्घकालीन साख उपलब्ध कराई गई। 1933 के गृह-स्वामी ऋण अधिनियम' के अन्तर्गत उन व्यक्तियों को ऋण उपलब्ध कराया गया, जिनके मकान साहूकारों के पास गिरवी थे। इन समस्त अधिनियमों के परिपालन का भार 'कृषि समायोजन प्रशासन' को सौंपा गया। प्रतिबन्धात्मक नीतियों के माध्यम से गेहूं और कपास की उपज घटाई गई। समस्या के स्थायी समाधान के विचार से कृषि पदार्थों का निर्यात बढ़ाने का प्रयास किया गया। आयात-निर्यात की वित्त-व्यवस्था हेतु 'आयात-निर्यात बैंक' की स्थापना की गई। 1934 में प्रशुल्क अधिनियम को संशोधित किया गया। इसके अन्तर्गत राष्ट्रपति को दूसरे देशों के साथ व्यापारिक सन्धि करने तथा 50 प्रतिशत आयात-शुल्क घटाने का अधिकार दिया गया।

(3) **मिट्टी-सरक्षण, सट्टा-नियन्त्रण और फसल बीमा**—भूमि की उर्वरा शक्ति बनाए रखने के लिए 1936 म 'मिट्टी-संरक्षण अधिनियम' पारित किया गया। इसके अन्तर्गत भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिके किसानों को आर्थिक सहायता दी गई। कृषि-उपज पर सट्टेबाजी क नियन्त्रण हेतु 1936 में 'वस्तु-विनिमय अधिनियम' पारित किया गया। प्रमुख फसलों के सम्बन्ध में बीमा योजना चालू करने के लिए 1938 में 'फसल बीमा निगम' की स्थापना की गई। 1938 के 'प्रक्षेत्र अधिनियम' के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि यदि चावल, गेहूं और तम्बाकू के दो-तिहाई उत्पादक चाहें; तब इनके उत्पादन क्षेत्र में भी की जाएगी तथा किसानों को निर्धारित मूल्य एवं बाजार-मूल्य का अन्तर सहायता के रूप में दिया जाएगा।

इन समस्त उपायों से 1933, 1934 और 1935 के दौरान कृषि-मूल्यों में क्रमशः 70 प्रतिशत, 90 प्रतिशत और 108 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

द्वितीय महायुद्ध तथा उसके बाद अमेरिकी कृषि—द्वितीय महायुद्ध काल में कृषि-वस्तुओं के लिये मित्र-राष्ट्रों (ब्रिटेन, रूस, चीन, फ्राँस आदि) की माँग बढ़ जाने के कारण अमेरिकी सरकार ने उत्पादन-वृद्धि हेतु विभिन्न प्रयास किये। किसानों को तरह-तरह की सहायता दी गई। फलतः कपास और गन्ने को छोड़कर, समस्त कृषि-पदार्थों के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। खाद्यान्न का उत्पादन 36 प्रतिशत बढ़

गया। मित्र राष्ट्रों को अधिक निर्यात के कारण अमेरिका में खाद्यान्न की न्यूनता हो गई। अतः सरकार को राशनिंग की व्यवस्था लागू करनी पड़ी। युद्ध की समाप्ति पर राशनिंग व्यवस्था हटा दी गई, यद्यपि इस कार्य के लिए स्थापित 'मूल्य प्रशासन कार्यालय' 1966 तक बना रहा।

प्रथम महायुद्ध की तरह, द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति का अमेरिकी कृषि पर प्रतिकूल प्रभाव उपस्थित नहीं हुआ। यूरोपीय देशों को अपनी अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण में कुछ समय लगा तथा इस बीच वहाँ अमेरिकी अनाज की माँग बराबर बनी रही। अत: युद्धोत्तर काल में भी अमेरिकी कृषि का विकास जारी रहा। अत्युत्पादन की समस्या का समाधान सरकारी सहायता द्वारा किया जाता रहा।

युद्धोत्तरकाल में अमेरिकी कृषि को कई समस्याओं का सामना करना पड़ा, जैसे—कृषि आय की अस्थिरता, कृषि उपज की अधिकता, तकनीकी-क्रान्ति और प्रतिकूल मूल्य समता। उत्पादन-लागत की अधिकता के कारण युद्धोत्तरकाल में गैर-कृषि क्षेत्र की अपेक्षा कृषि-क्षेत्र की आय बहुत कम हो गई। परिणामत: लघु-स्तरीय फार्मों के स्वामियों ने खेतीबारी छोड़कर दूसरे धन्धे अपनाने शुरू किये। तकनीकी-क्रान्ति (कृषि-मशीनों, रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों का निरन्तर बढ़ता हुआ प्रयोग) के कारण कृषि-श्रम की उत्पादकता में तो भारी वृद्धि हुई, किन्तु कृषि-श्रम की माँग (रोजगार की मात्रा) अत्यधिक घट गई। तकनीकी-क्रान्ति ने कृषि-उपज की अधिकता को भी जन्म दिया। परिणामत: गेहूं का स्टॉक 1940 में 40 करोड़ बुशल (एक बुशल = 60 पौंड) से बढ़कर 1661 में 130 करोड़ बुशल तथा चावल का स्टॉक 10 लाख बुशल से बढ़कर 135 लाख बुशल हो गया। उत्पादक की अधिकता के कारण कृषि-मूल्यों में निरन्तर ह्रास आने लगा। 1951 और 1960 के बीच कृषि-वस्तुओं तथा औद्योगिक वस्तुओं के बीच मूल्य-समता अनुपात 80 : 100 था।

अनुमान है कि 1951 और 1960 के बीच अमेरिका में कृषि-आय 25 प्रतिशत घट गई तथा कृषि ऋणों की रकम बढ़कर दुगुनी हो गई। **कृषि समस्याओं के समाधान हेतु सरकार ने तीन प्रकार के उपाय किये**—(i) समता दर का निर्धारण, (ii) उत्पादन पर नियन्त्रण तथा (iii) अतिरेक उत्पादन के विक्रय की व्यवस्था। कृषि-मूल्यों में उच्चावचन की रोकथाम के लिए सरकार ने 1948 में 'मूल्य-समर्थन' की व्यवस्था लागू की। 'कृषि-व्यापार विकास एवं सहायता अधिनियम' के अन्तर्गत सरकार ने 1954 में विदेशों को अर्ध-उपहार (Foreign Quasi-Gifts) प्रदान करने का कार्यक्रम लागू किया। इसके अन्तर्गत फालतू कृषि उत्पादन विदेशों को भेजा जाने लगा। कृषि-आय को स्थिरता प्रदान करने के लिए 1956 में 'भूमि बैंक' (Soil Bank) की स्थापना की गई। 1953 और 1963 के बीच कृषि क्षेत्र के लिए संघीय सहायता की राशि 3 बिलियन डॉलर से बढ़कर 9 बिलियन डॉलर हो गई। इस सहायता का अधिकांश भाग कृषि-मूल्यों तथा किसानों की आय को स्थिरता प्रदान करने पर व्यय हुआ। निर्यात-संवर्द्धन के उपायों से खाद्यान्नों का निर्यात-मूल्य 1953 में 2·5 मिलियन डॉलर से बढ़कर 1963 में 5 मिलियन डालर हो गया।

अमेरिकी कृषि की वर्तमान स्थिति—अमेरिका के आर्थिक विकास में कृषि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस समय अमेरिका संसार का सबसे प्रमुख कृषि-उत्पादक देश है। इसकी कृषि स्वतन्त्र उपक्रम-प्रणाली की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जाती है। इसकी प्रचुर मात्रा में उत्पादित करने की क्षमता साम्यवादी देशों के लिए ईर्ष्या और निराशा का कारण बनी हुई है। अमेरिकी कृषि मुख्यतः पारिवारिक उद्यम (Family Enterprise) के रूप में संगठित है। केवल 20 प्रतिशत कृषि-फार्मों में ही खेतीहर मजदूरों की सहायता ली जाती है। गृह-युद्ध के समय अमेरिका की 80 प्रतिशत श्रमशक्ति कृषि-क्षेत्र में संलग्न थी। आजकल अमेरिका की केवल 2 प्रतिशत श्रमशक्ति कृषि-क्षेत्र में संलग्न है तथा अमेरिका की राष्ट्रीय आय में कृषि-क्षेत्र का अंशदान 3 प्रतिशत है। कृषि-क्षेत्र पर आश्रित जनसंख्या में अत्यधिक कमी का मुख्य कारण यान्त्रिक खेती का विस्तार है। अमेरिका में आजकल 40 लाख से अधिक ट्रैक्टर हैं।

1980 में अमेरिका का कुल कृषित-क्षेत्र 1080 मिलियन एकड़ था। कृषि-फार्मों की संख्या 24·3 लाख थी तथा उनका औसत आकार 430 एकड़ था। प्रति एकड़ चावल की उपज 51 क्विन्टल और गेहूं की उपज 23 क्विन्टल थी। इस वर्ष अमेरिका ने सम्पूर्ण विश्व के उत्पादन का 14 प्रतिशत गेहूं (64 मिलियन टन), 22·5 प्रतिशत कपास (111 लाख गाँठ) तथा 43 प्रतिशत मक्का (168 मिलिटन टन) का उत्पादन किया। अमेरिका से जितने मूल्य की कृषि-वस्तुओं का निर्यात होता है, उनमें खाद्यान्न का हिस्सा 60 प्रतिशत तथा कपास का हिस्सा 20 प्रतिशत रहता है।

7
अमेरिकी उद्योगों का विकास
(Development of American Industries)

प्रश्न 1—"यदि 1812 के युद्ध ने कारखाना-प्रणाली आरम्भ की; तब गृह-युद्ध ने संयुक्त राज्य अमेरिका में औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया।" व्याख्या कीजिए।

"If the war of 1812 introduced the factory system; the civil war brought an industrial revolution in U.S.A." Discuss.

अथवा

गृह-युद्ध के पश्चात् अमेरिका में विनिर्माणी उद्योगों के द्रुत विकास के कारण क्या थे ?

What were the reasons of rapid growth of manufacturing industries in America after civil war ?

उत्तर—गृह-युद्ध से पूर्व अमेरिका का अधिकांश औद्योगिक उत्पादन गृह-उद्योगों से प्राप्त होता था । यद्यपि अमेरिका के द्वितीय स्वतंत्रता संग्राम (1812-14) के पश्चात् कारखाना-प्रणाली आरम्भ हो चुकी थी, किन्तु इसकी गति अत्यन्त धीमी बनी रही । गृह-युद्ध के समय उत्पन्न माँग के कारण कारखाना-प्रणाली का तीव्र गति से विकास आरम्भ हुआ । गृह-युद्ध के पश्चात् अमेरिका में औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत हुई । प्रथम महायुद्ध तक अमेरिका संसार का प्रमुख औद्योगिक एवं सम्पन्न राष्ट्र बन गया ।

अमेरिकी उद्योगों का आर्थिक विकास—औपनिवेशिक काल में अमेरिका-निवासियों का प्रमुख धन्धा कृषि था । ब्रिटिश सरकार ने अमेरिकी उपनिवेशों को अपने उद्योगों के लिए कच्चे-माल का स्रोत तथा निर्मित माल की खपत के लिये बाजार बनाए रक्खा । अक्तूबर 1781 में जब अमेरिका विदेशी दासता से मुक्त हो गया तब उसने यूरोप से पूंजी और तकनीकी कौशल के आयात द्वारा विनिर्माणी उद्योगों की स्थापना आरम्भ की । उद्योगों के लिए खनिज-पदार्थ और कृषिजन्य कच्चे-पदार्थ यहाँ पहले से ही प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे । बोगर्ट (Bogart) के अनुसार, "वर्ष 1808 को औद्योगिक वस्तुओं के लिए अमेरिका की यूरोप पर निर्भरता तथा औद्योगिक आत्म-पर्याप्तता के बीच विभाजक-रेखा माना जा सकता है ।" 1808 के बाद अमेरिका में औद्योगिक विकास की गति तेज हो गई । नेपोलियनी युद्धों के कारण अमेरिका में यूरोप से औद्योगिक वस्तुओं का आयात लगभग बन्द हो गया था, जिससे घरेलू उद्योगों की स्थापना एवं विकास को बल मिला । 1830 के बाद कोयले द्वारा शक्ति उत्पन्न की जाने लगी तथा रेलों का विकास आरम्भ हुआ । इसका औद्योगिक विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ा । सरकार की संरक्षणात्मक प्रशुल्क-नीति तथा औद्योगिक क्षेत्र में उपस्थित आविष्कारों से औद्योगिक विकास को विशेष प्रोत्साहन मिला । 1840 में केवल 490 पेटेन्ट रजिस्टर्ड हुए थे । 1860 में उनकी संख्या बढ़कर 4,800 हो गई । विनिर्मित वस्तुओं का मूल्य 1810 में 20 करोड़ डालर से बढ़कर 1860 में 189 करोड़ डालर हो गया । 1860 तक औद्योगिक उपक्रमों की संख्या बढ़कर 1·5 लाख हो गई । इस तरह 1808 से लेकर 1860 तक के समय को अमेरिका में 'औद्योगिक क्रान्ति का पूर्वकाल' माना जा सकता है । 1860 तक अमेरिकी अर्थव्यवस्था में उद्योगों की अपेक्षा कृषि का स्थान अधिक महत्वपूर्ण बना रहा ।

गृह-युद्ध के बाद अमेरिकी उद्योगों का विकास— गृह-युद्ध (1861—65) ने अमेरिका में द्रुत औद्योगिक विकास हेतु आधार तैयार किया। गृह-युद्ध ने ऐसी शक्तियाँ सृजित कीं, जिन्होंने अमेरिका में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। गृह-युद्ध के समय प्रतिरक्षा उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन मिला; क्योंकि युद्ध-सामग्री की माँग बहुत बढ़ गई थी। युद्ध की आवश्यकताओं के कारण अमेरिका के उत्तरी भाग में तेजी से औद्योगिक विकास आरम्भ हुआ। मूल्य-स्तर में 117 प्रतिशत की वृद्धि के बावजूद मजदूरी में मात्र 43 प्रतिशत की वृद्धि ने औद्योगिक विस्तार को प्रोत्साहित किया। दक्षिणी भाग के बाजार और कच्चे-माल पर नियन्त्रण से भी औद्योगिक विकास को बल मिला। गृह-युद्ध की समाप्ति के बाद दास-प्रथा के उन्मूलन के कारण उत्तरी भाग में स्थित उद्योगों के लिए श्रम का अभाव भी समाप्त हो गया। गृह-युद्ध के समय विनिर्मित माल तथा कुशल श्रमिकों का अभाव उत्पन्न हो गया था। अत: नए-नए औद्योगिक उपक्रमों की स्थापना तथा उत्पादन-कार्य में श्रम-बचत तकनीकों का प्रयोग प्रोत्साहित हुआ। 1860 और 1870 के बीच औद्योगिक संस्थानों की संख्या में 80 प्रतिशत की वृद्धि हुई। उद्योगों में संलग्न श्रमिकों की संख्या 13 लाख से बढ़कर 20 लाख हो गई।

1894 तक अमेरिका संसार का सबसे बड़ा औद्योगिक राष्ट्र बन गया तथा वह समूचे यूरोप द्वारा उत्पादित औद्योगिक माल के आधे से अधिक भाग का उत्पादन करने लगा। यह तथ्य निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

औद्योगिक उत्पादन का मूल्य (लाख डॉलर में)

देश	1820	1865	1894
ग्रेट ब्रिटेन	14,1 0	28,080	42;639
फ्रांस	11,680	10,9.9	29,0.0
जर्मनी	9,000	19,950	33,570
सम्पूर्ण यूरोप	56;440	1,14,790	1,73,520
अमेरिका	2,680	19,070	94,980

1860 को आधार वर्ष मानते हुए 19वीं शताब्दी के अन्तिम पचास वर्षों में जहाँ अमेरिका के कृषि-उत्पादन में 300 प्रतिशत की वृद्धि हुई, वहीं अमेरिका के औद्योगिक उत्पादन में 1100 प्रतिशत से भी अधिक की वृद्धि हुई। अमेरिका ने 1890 में खनिज लोहे एवं इस्पात के उत्पादन में, 1899 में कोयले के उत्पादन में तथा 1900 में सूती वस्त्र के उत्पादन में ग्रेट ब्रिटेन (जो ससार में औद्योगिक क्रान्ति का अग्रदूत था) को पछाड़ दिया। 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में अमेरिका की औद्योगिक स्थिति और भी सुदृढ़ हो गई। प्रथम महायुद्ध के समय घरेलू और विदेशी माँग में उपस्थित भारी वृद्धि ने अमेरिकी उद्योगों को विस्तार का अवसर

प्रदान दिया। अमेरिका ने युद्ध में भाग नहीं लिया था। वह मित्र-राष्ट्रों के लिए आवश्यक सामान की आपूर्ति का साधन बना रहा। फलतः अमेरिका के औद्योगिक उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। निम्न तालिका 1860 से लेकर 1919 तक अमेरिका की औद्योगिक प्रगति दर्शाती है—

वर्ष	संस्थान (लाख)	श्रमिक (लाख)	पूंजी (मिलियन डॉलर)	उत्पादन का मूल्य (मिलियन डॉलर)
1860	1·4	13	1,010	1,886
1889	3·5	42	6,525	9,370
1909	2·7	66	44,466	20,670
1919	2·1	88	88,428	62,420

गृह-युद्ध से पूर्व अमेरिकी अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान थी जो गृह-युद्ध के पश्चात् उद्योग-प्रधान बन गई। यह तथ्य निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है—

वर्ष	कृषि-उत्पादन का मूल्य (मिलियन डॉलर)	औद्योगिक उत्पादन का मूल्य (मिलियन डॉलर)
1889	2,460	9,370
1899	4,720	11,410
1909	8,500	20,670
1919	23,780	62,420

अमेरिकी उद्योगों के द्रुत विकास के कारण

गृह-युद्ध के पश्चात् अमेरिका में उपस्थित औद्योगिक क्रान्ति या द्रुत औद्योगिक विकास के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

(1) प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता—अमेरिका में लोहा, कोयला, पैट्रोलियम, तांबा, सोना, आदि खनिज पदार्थों का विपुल भण्डार था। उद्योगों के लिए आवश्यक कृषिजन्य कच्चे पदार्थों की भी प्रचुरता थी। प्राकृतिक साधनों की बहुलता ने अमेरिका में औद्योगिक क्रान्ति के लिए आधार का कार्य किया। 1860 और 1929 के बीच अमेरिका में कच्चे-लोहे का उत्पादन 516 लाख टन से बढ़कर 5886 लाख टन, कोयले का उत्पादन 125 लाख टन से बढ़कर 6089 लाख टन, तांबे का उत्पादन 261 लाख पौंड से बढ़कर 20,028 लाख पौंड तथा पैट्रोलियम का उत्पादन 500 लाख बैरल से बढ़कर 11,055 लाख बैरल हो गया था।

(2) **जनसंख्या में वृद्धि**—1860 में अमेरिका की जनसंख्या 3 करोड़ थी जो 1930 तक बढ़कर 10 करोड़ हो गई। जनसंख्या की वृद्धि ने एक ओर, उद्योगों के लिये श्रम की आपूर्ति बढ़ाई तथा दूसरी ओर, औद्योगिक माल की खपत के लिए घरेलू बाजार का क्षेत्र-विस्तार किया।

(3) **नवीन आविष्कार एवं तकनीकी प्रगति**—अमेरिका में द्रुत औद्योगिक विकास का एक महत्वपूर्ण कारण उत्पादन-विधियों में सुधार तथा नवीन आविष्कारों के फलस्वरूप उत्पादन-लागत में कमी, मूल्यों में कमी और उपभोग में वृद्धि था। आविष्कारों की प्रगति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जहाँ 1870 में रजिस्टर्ड पेटेण्टों की संख्या 17,800 थी, वहीं 1930 में इनकी संख्या बढ़कर 4,23,000 हो गई।

(4) **सरकार की संरक्षणवादी नीति**—गृह-युद्ध के पश्चात् अमेरिकी सरकार ने संरक्षणवादी नीति का अनुसरण किया। प्रशुल्क की ऊंची दीवारों ने पुराने उद्योगों के लिये अधिकाधिक लाभार्जन सम्भव (विदेशी प्रतियोगिता समाप्त करके) बनाया तथा शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया। बलाइन (Baline) के शब्दों में, "मुक्त व्यापार और संरक्षण के साथ-साथ प्रशुल्क ने संयुक्त राज्य अमेरिका के अद्वितीय विकास एवं विलक्षण समृद्धि में योगदान किया।"

(5) **विस्तृत बाजार**—अमेरिका के कृषि-प्रधान दक्षिणी राज्यों ने उद्योगों द्वारा निर्मित माल के लिए विस्तृत बाजार का कार्य किया। अमेरिका की बढ़ती हुई जनसंख्या ने घरेलू बाजार में औद्योगिक माल की खपत बढ़ाई।

(6) **परिवहन-सुविधाओं का विकास**—गृह-युद्ध के पश्चात् अमेरिका में परिवहन की सुविधाओं का तेजी से विस्तार हुआ। रेल-मार्गों की लम्बाई 1860 30,620 मील से बढ़कर 1930 में 240,000 मील हो गई। बड़ी-बड़ी झीलों को परस्पर जोड़कर तथा नहरों के माध्यम से नदियों को जोड़कर आन्तरिक जल-परिवहन विकसित किया गया। समुद्र-तटीय परिवहन वाष्प-चालित जलयानों द्वारा विकसित किया गया। 1920 के पश्चात् मोटर यातायात का विकास हुआ। परिवहन-सुविधाओं के विस्तार ने जहाँ औद्योगिक माल का वितरण सुविधाजनक बनाया, वहीं कुछ औद्योगिक वस्तुओं की माँग स्वयं भी उत्पन्न की।

(7) **बैंकिंग प्रणाली का विकास**—1864 में राष्ट्रीय बैंकिंग व्यवस्था की शुरुआत के पश्चात् अमेरिका में बैंकिंग प्रणाली का तेजी से विस्तार हुआ। इसने विशालस्तरीय उद्योगों की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान किया।

(8) **वित्तीय पूंजीवाद का उदय**—अमेरिकी संविधान से 14वें संशोधन द्वारा सम्पत्ति के अधिकार की सुरक्षा, पूंजीपतियों द्वारा रेलों का निर्माण, भूमि एवं वित्तीय साधनों पर पूंजीपतियों का नियन्त्रण, आदि कारणों से अमेरिका में वित्तीय पूंजीवाद का आविर्भाव हुआ। इससे औद्योगिक विकास हेतु बड़े पैमाने पर पूंजी उपलब्ध हुई तथा पूंजी-गहन तकनीक विकसित हुई।

(9) औद्योगिक प्रशिक्षण—अमेरिका में औद्योगिक एवं व्यापारिक शिक्षा की समुचित व्यवस्था ने औद्योगिक उन्नति में अपूर्व योगदान किया। नई उत्पादन-विधियों की खोज के लिये अनुसन्धान शालायें स्थापित की गईं। टेलर (Taylor) ने उद्योगों में वैज्ञानिक प्रबन्ध की पद्धति आरम्भ की।

(10) उद्योगों का उचित स्थानीयकरण—उद्योगों के उचित स्थानीयकरण ने विशाल स्तरीय उद्योगों के द्रुत विकास में सहायता पहुँचाई। अमेरिका की समशीतोष्ण जलवायु भी औद्योगिक विकास में सहायक बनी।

(11) शक्ति के साधनों की प्रचुरता—कोयला, खनिज तेल और जलविद्युत के रूप में शक्ति के साधनों की प्रचुरता और सस्तेपन ने औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया।

(12) सुयोग्य उद्यमी—हेनरी फोर्ड (Henery Ford), जॉन डी० रॉकफैलर (John D. Rockfeller), जे० पी० मॉरगन (J. P. Morgan), एण्ड्रू कारनेगी (Andrew Carnegie) तथा फिलिप डी० आरमर (Philip D. Armer) सरीखे सुयोग्य एवं दूरदर्शी उद्यमियों ने औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाने में उल्लेखनीय योगदान किया। एकीकरण, वित्त-व्यवस्था और विक्रय-कला में निपुण इन व्यक्तियों ने विशाल स्तरीय उपक्रमों की स्थापना द्वारा निर्माण-लागत घटाने और नए बाजारों का सृजन करने में सफलता प्राप्त की।

प्रश्न 2—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सयुक्त राज्य अमेरिका में उद्योग-धन्धों की प्रगति का विवेचन कीजिये। अमेरिका के औद्योगिक विकास की प्रमुख विशेषतायें क्या हैं ?

Discuss the progress of industries in U. S. A. after the First world war. What are the important features of America's industrial development.

उत्तर—गृह-युद्ध के पश्चात् अमेरिका का तीव्र गति से औद्योगीकरण हुआ तथा प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक वह संसार का महान औद्योगिक राष्ट्र बन गया। प्रथम महायुद्ध के समय औद्योगिक माल की घरेलू और विदेशी माँग बढ़ जाने से औद्योगिक प्रगति को विशेष प्रोत्साहन मिला।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात अमेरिका की औद्योगिक प्रगति—प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर उत्पन्न माँग की न्यूनता से अमेरिकी उद्योगों को अल्पकालीन मन्दी का सामना करना पड़ा। 1921 के बाद औद्योगिक क्षेत्र में पुनः चेतना आ गई। 1920 से लेकर 1929 तक मोटर-निर्माण उद्योग के उत्पादन में 100 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इससे विद्युत-सृजन उद्योग को विशेष प्रोत्साहन मिला। विद्युत का उत्पादन 1920 में 43 बिलियन किलोवाट से बढ़कर 1929 में 97 बिलियन किलोवाट हो गया। 1921 से लेकर 1929 तक कुल औद्योगिक उत्पादन में 42 प्रतिशत वृद्धि हुई। परिणामतः अमेरिका की राष्ट्रीय आय 1921 में 59 बिलियन डॉलर से

बढ़कर 1929 में 87 बिलियन डॉलर हो गई तथा प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय 522 डॉलर से बढ़कर 715 डॉलर हो गई।

1 29 में अमेरिकी अर्थव्यवस्था का विस्तार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। अर्थव्यवस्था में अत्युत्पादन के चिन्ह् स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे तथा आर्थिक अवसाद की शुरुआत हुई। मन्दी का उद्योगों पर अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। अनेक कारखाने बन्द हो गए तथा बेरोजगारी की संख्या बहुत बढ़ गई। मन्दी के दौरान (1929–33) कुल औद्योगिक उत्पादन में 50 प्रतिशत की गिरावट आई। भारी उद्योगों तथा टिकाऊ उपभोक्ता वस्तु उद्योगों के उत्पादन मे 80 प्रतिशत तक गिरावट आई। बेरोजगारों की संख्या अक्टूबर 1930 में 46·39 लाख से बढ़कर जनवरी 1933 में 130 लाख हो गई। मार्च 1933 में रूजवेल्ट (Roosevelt) अमेरिका के राष्ट्रपति बने। उन्होंने देश को आर्थिक संकट से मुक्त कराने के लिए 'न्यू डील' नामक कार्यक्रम लागू किया। इसके अन्तर्गत 1933 का 'राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान अधिनियम' पारित हुआ। अधिनियम के प्रमुख उद्देश्य उत्पादन एवं व्यापार का नियमन मजदूरी में वृद्धि, काम के घण्टों में कमी और मूल्यों में वृद्धि थे। इन प्रयासों से औद्योगिक क्षेत्र की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक (आधार वर्ष 1923) अगस्त 1934 में 73 से बढ़कर अगस्त 1936 में 107 हो गया। इस बीच कारखानों में रोजगार का सूचकांक 79 से बढ़कर 84 तथा कारखानों में मजदूरी का सूचकाँक 62 से बढ़कर 81 हो गया।

द्वितीय महायुद्ध काल में अमेरिकी उद्योग—द्वितीय महायुद्ध का अमेरिकी उद्योगों पर अत्यधिक अनुकूल प्रभाव पड़ा। सितम्बर 1939 (जब महायुद्ध आरम्भ हुआ) से लेकर दिसम्बर 1941 (जब पर्ल हारबर पर आक्रमण हुआ) तक अल्पावधि में ही अमेरिका का औद्योगिक उत्पादन बढ़कर दुगुना हो गया। इस अत्याशित वृद्धि के तीन कारण थे—सुरक्षा कार्यक्रम, अमेरिकी माल के लिए विदेशी माँग में वृद्धि तथा उपभोक्ता पदार्थों के लिए घरेलू माँग में वृद्धि। 1941 में पारित उधार-पट्टा अधिनियम के अन्तर्गत वस्तुओं की उधार बिक्री आरम्भ हुई, जिससे उद्योगों को भारी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। युद्धकाल में मोटर उद्योग ने हवाई जहाजों, टैंकों, जीपों तथा युद्ध से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं का उत्पादन आरम्भ किया। 1938–39 को आधार वर्ष मानते हुए औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक 1943 में 239 हो गया। टिकाऊ विर्निमित माल के उत्पादन का सूचकांक 360 हो गया। यन्त्रों का उत्पादन बढ़कर चौगुना तथा परिवहन के साज-सामान का उत्पादन बढ़कर सात गुना हो गया।

अमेरिकी उद्योगों की वर्तमान स्थिति—इस समय अमेरिका विश्व का सबसे बड़ा औद्योगिक राष्ट्र है। इस्पात, अल्यूमीनिय, कोयला और पैट्रोलियम (चारों आधारभूत वस्तुयें) के उत्पादन में इसका विश्व में प्रथम स्थान है। 1983 में इसने संसार के कुल इस्पात-उत्पादन का 22·6 प्रतिशत, अल्यूमीनियम-उत्पादन का 36·8 प्रतिशत, कोयला-उत्पादन का 24·9 प्रतिशत तथा पैट्रोलियम उत्पादन का 17 प्रति-

शत भाग उत्पन्न किया था। अन्य औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन में भी अमेरिका का विश्व में प्रमुख स्थान है। इसके विनिर्माणी उद्योगों में लगभग 1·6 करोड़ व्यक्ति संलग्न हैं। समूचे औद्योगिक क्षेत्र का अमेरिका की राष्ट्रीय आय में अंशदान 33 प्रतिशत है।

अमेरिकी औद्योगिक विकास की विशेषतायें

संयुक्त राज्य अमेरिका के औद्योगिक विकास की प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार हैं—

(1) **विशाल आकार की औद्योगिक इकाइयाँ**—व्यावसायिक संगठन के रूप में मिश्रित पूंजी कम्पनियों की सफलता, परिवहन-क्रान्ति के फलस्वरूप बाजार का क्षेत्र-विस्तार घरेलू और विदेशी प्रतियोगिता में वृद्धि आदि कारणों से अमेरिका में विशाल आकार वाली औद्योगिक इकाइयों की स्थापना को प्रोत्साहन मिला है। फॉकनर (Faulkner) के अनुसार, अमेरिका में लघु आकार वाली औद्योगिक इकाइयों का अनुपात 1914 में 49 प्रतिशत से घटकर 1929 में 33 प्रतिशत रह गया था। 'तीसा' की महामन्दी तथा उसके बाद लघु इकाइयों का अनुपात और भी कम हो गया।

(2) **कम्पनियों का विकास**—गृह-युद्ध के बाद अमेरिका में व्यक्तिगत उद्यमियों का स्थान कम्पनियों और निगमों ने ग्रहण कर लिया। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर अमेरिका में 87 प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन कम्पनियों द्वारा किया जाता था। यद्यपि 'तीसा' की महामन्दी के समय कम्पनी व्यवस्था के अनेक दोष प्रकट हुए थे, किन्तु आज भी अमेरिका में व्यावसायिक संगठन का 'कम्पनी' स्वरूप अधिक प्रचलित है; क्योंकि इसके अन्तर्गत बड़ी मात्रा में पूंजी का एकीकरण सम्भव होता है।

(3) **संयोजन आन्दोलन**—अमेरिका में संयोजन आन्दोलन की शुरूआत 1830 में हुई थी, किन्तु गृह-युद्ध के पश्चात संयोजन (Combination) की प्रवृत्ति अधिक बलवती हो गई। परिणामतः द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक 250 बड़ी-बड़ी कम्पनियों का दो-तिहाई औद्योगिक उत्पादन पर नियन्त्रण स्थापित हो गया। अमेरिका में संयोजन के पाँच स्वरूप अधिक प्रचलित हैं—समुच्चय (Pool), प्रन्यास, सूत्रधारी कम्पनियाँ, विलयन (Merger) और सामूहिक हित (Community of Interest)।

(4) **श्रम-बचत मशीनों का अधिक प्रयोग**—अमेरिका में श्रम की अपेक्षा पूंजी की प्रचुरता है। अतः अमेरिकी उद्योगों में श्रम-बचत मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग प्रचलित है। अमेरिकी वस्तुयें मुख्यतः यन्त्र-निर्मित होती हैं, हस्त-निर्मित नहीं।

(5) **मशीनों का प्रमापीकरण**—अमेरिका में मशीनों तथा उनके हिस्से-पुर्जों का प्रमापीकरण शुरू से ही प्रचलित है। 'प्रमापीकरण' (Standardization) की प्रक्रिया के अन्तर्गत सर्वप्रथम हिस्से-पुर्जे बनाए जाते हैं और बाद में उन्हें जोड़कर मशीन का रूप दे दिया जाता है।

(6) **शक्ति का अधिक प्रयोग**—अमेरिका में शक्ति का बड़े पैमाने पर प्रयोग 1870 के पश्चात आरम्भ हुआ। पहले विद्युत-उत्पादन के लिए कोयले का अधिक प्रयोग किया जाता था, किन्तु प्रथम महायुद्ध काल से खनिज तेल और जल शक्ति का प्रयोग बढ़ गया है।

(7) **विशाल उत्पादन**—डे (Day) और टॉमस (Thomas) के शब्दों में, "अमेरिकी कारखानों का अधिक सहारा लेते हैं। यन्त्रों का आविष्कार, तकनीकी सुधार तथा नवीन प्रक्रियायें कारखानों के भीतर निरन्तर परिवर्तन सम्भव बनाती हैं। श्रम का मशीनों से तथा पुरानी मशीनों का नई मशीनों से विस्थापन होता है। ये सब बातें मिलकर औद्योगिक सामग्री एवं साज-सामान का विशाल उत्पादन (Mass Production) सम्भव बनाती हैं।"

8

संयुक्त राज्य अमेरिका में संयोजन आन्दोलन

(Combination Movement in U.S.A.)

प्रश्न 1—इंगलैण्ड की तुलना में, जहाँ औद्योगिक विकास बहुत पहले हुआ, संयुक्त राज्य अमेरिका में औद्योगिक संयोजनों के विकास के कारणों का परीक्षण कीजिए। क्या इन संयोजनों की बुराइयों के विरुद्ध राज्य द्वारा नागरिकों को समुचित संरक्षण प्रदान किया जाता है?

Examine the causes of growth of industrial combinations in U. S. A. as compared to England where Industrial development took place much earlier. Does the state provide enough protection against the abuses of these Combinations ?

उत्तर—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका में सरकार ने अबन्धकारी नीति का अनुकरण किया था। इससे स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा को जन्म मिला। जब प्रतियोगिता बहुत बढ़ गई, तब व्यवसाइयों में परस्पर मिलकर संयोजन स्थापित करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। 19वीं शताब्दी के अन्त तक संयोलन की प्रवृत्ति अत्यधिक बलवती हो गई। खनिज-व्यवसाय और विनिर्माणी उद्योगों के अतिरिक्त परिवहन, सार्वजनिक सेवाओं, व्यापार और कृषि में भी संयोजनों की स्थापना की जाने लगी। संयोधन की प्रवृत्ति के फलस्वरूप 1850 से लेकर 1910

तक विनिर्माणी उद्योग के औसत सन्यन्त्र की पूंजी में 3 गुनी, श्रमिकों की संख्या में 7 गुनी और उत्पादन की मात्रा में 19 गुनी वृद्धि हुई। 1914 और 1929 के बीच विशाल आकार वाली औद्योगिक इकाइयों का अनुपात 51 प्रतिशत से बढ़कर 67 प्रतिशत हो गया। संघीय व्यापार निगम की रिपोर्ट के अनुसार, द्वितीय महायुद्ध के पश्चात अमेरिका का दो-तिहाई औद्योगिक उत्पादन 250 बड़ी-बड़ी कम्पनियों के नियन्त्रण में था। इसीलिए कहा जाता है कि "यदि फ्रांस 200 परिवारों का देश है, तब अमेरिका 250 कम्पनियों का।"

अमेरिका में औद्योगिक सयोजन के विकास के कारण

जिस समय अमेरिका में औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत हुई उस समय ब्रिटेन में औद्योगिक विकास अपनी चरम सीमा पर था। परन्तु सयोजन आन्दोलन की शुरुआत ब्रिटेन से पहले अमेरिका में ही हुई। 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में औद्योगिक संयोजनों की स्थापना की प्रबल प्रवृत्ति विद्यमान थी, किन्तु ब्रिटिश कम्पनी कानून की कठोरता के कारण ब्रिटेन में संयोजन आन्दोलन विकसित नहीं हो पाया। यद्यपि 'तीसा' की महामन्दी के पश्चात यहाँ लोहा एवं इस्पात उद्योग तथा कोयला उद्योग में कुछ संयोजनों का निर्माण अवश्य हुआ, तथापि कुल मिलाकर ब्रिटेन में संयोजन आन्दोलन अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया। आज भी ब्रिटेन में मध्यम और लघु आकार वाली औद्योगिक इकाइयों की प्रधानता है। ब्रिटेन के विपरीत अमेरिका में औद्योगिक संयोजनों के अधिक विकास के प्रमुख कारण निम्नलिखित रहे हैं—

(1) अत्यधिक प्रतियोगिता—अमेरिका में औद्योगिक संयोजनों के निर्माण में अत्यधिक प्रतियोगिता की उपस्थिति ने प्रमुख प्रेरक शक्ति का कार्य किया, क्योंकि इसके कारण समस्त प्रतियोगी संस्थाओं के लाभ समाप्त हो जाते थे। इस हानि से बचने के लिए लघु इकाइयाँ सम्मिलित रूप से कार्य करने के लिए प्रेरित हुई।

(2) गृह-युद्ध—गृह-युद्ध के समय अमेरिकी उद्योगपतियों को अप्रत्याशित लाभ प्राप्त हुआ था। इस लाभ को स्थायी बनाने के लिए आपसी प्रतियोगिता का निवारण आवश्यक समझा गया। अत; गृह-युद्ध ने पश्चात् तेजी से संयोजनों का निर्माण होने लगा। शैनन (Shannon) के शब्दों में, "गृह-युद्ध में औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए उसका दिशा-क्रम ही बदल डाला।"

(3) विशालस्तरीय उत्पादन की किफायतें—बड़े पैमाने के उत्पादन की किफायतों, जैसे—कच्चे-माल की खरीद तथा निर्मित माल की बिक्री में किफायत, विज्ञापन-व्यय में कमी, उप-उत्पादों का प्रयोग, तकनीकी विशेषज्ञों की सेवाएं प्राप्त करने की सुविधा, आदि ने भी अमेरिका में संयोजन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया।

(4) आर्थिक अस्थिरता—गृह-युद्ध के पश्चात् 1873, 1875, 1878, 1884, 1893 तथा 1896 मन्दी के वर्ष रहे। इन वर्षों में व्यवसाइयों के लाभ

पर्याप्त घट गए। अतः मन्दी के कुप्रभावों से बचने तथा लागत एवं मूल्य के बीच समता स्थापित करने के उद्देश्य से व्यवसाइयों ने संयोजन का मार्ग अपनाया।

(5) **आविष्कारों को प्रोत्साहन**—व्यवसाइयों की धारणा थी कि संयोजन के माध्यम से आविष्कारों को प्रोत्साहित तथा उनका लाभदायक ढ़ंग से प्रयोग किया जा सकता है। व्यवसाइयों की ऐसी धारणा से भी संयोजनों की स्थापना को बल मिला। श्रम-बचत यन्त्रों के आविष्कार ने विशालस्तरीय उत्पादन को किफायती बना दिया।

(6) **मौद्रिक प्रन्यास**—गृह-युद्ध के पश्चात् अमेरिका के विनियोगी बैंकरों ने अधिक लाभार्जन के उद्देश्य से मौद्रिक प्रन्यासों (Money Trusts) का निर्माण किया था। इससे भी औद्योगिक संयोजनों की स्थापना को प्रोत्साहन मिला।

(7) **संघीय प्रशुल्क नीति**—1861 में अमेरिकी सरकार से संरक्षणात्मक प्रशुल्कों की नीति अपनाई, ताकि विकासोन्मुख उद्योगों को बाहरी प्रतियोगिता से से बचाया जा सके। इस नीति ने अमेरिकी उद्योगपतियों को संयोजनों के निर्माण की ओर प्रवृत्त किया।

(8) **देश का बड़ा आकार**—अमेरिका के बड़े आकार ने भी औद्योगिक, इकाइयों के आकार में वृद्धि को प्रोत्साहित किया। इससे संयोजन आन्दोलन को बहुत बल मिला।

(9) **भारी स्थिर निवेश की आवश्यकता**—पूँजी-गहन औद्योगिक इकाइयों में भारी स्थिर निवेश की आवश्यकता ने भी अमेरिका में संयोजन आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। प्रतियोगिता की स्थिति में ऐसा निवेश अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं होता।

(10) **जनता की उदासीनता**—जनसाधारण की उदासीनता ने भी अमेरिका में संयोजन आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। व्यवसायी वर्ग संयोजनों के माध्यम से निरन्तर समृद्धि का विश्वास दिलाता रहा और जनसाधारण ने व्यवसाइयों द्वारा प्रयुक्त तरीकों पर तब तक कोई ध्यान नहीं दिया, जब तक समृद्धि जारी रही।

अमेरिका में संयोजनों के प्रति स्वरूप—संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यावसायिक संयोजनों के प्रचलित स्वरूप पाँच रहे हैं—समुच्चय, प्रन्यास, सूत्रधारी कम्पनी, विलयन और सामूहिक हित। 'समुच्चय' (Pool) व्यावसायिक इकाइयों का वह संगठन है, जिसका उद्देश्य समूचे व्यवसाय को सदस्य-इकाइयों में बाँटकर कीमतों को नियन्त्रित करना होता है। अमेरिका में संयोजन का यह रूप 1873 और 1887 के बीच अधिक प्रचलित था, जिसे सरकार ने 1987 के 'अन्तर्राज्य वाणिज्य अधिनियम' द्वारा गैर-कानूनी घोषित कर दिया। तदुपरान्त अमेरिकी व्यवसाइयों ने 'प्रन्यास' (Trust) को जन्म दिया। संयोजन का यह स्वरूप 1887 से लेकर 1897 तक अधिक लोकप्रिय रहा। तदुपरान्त सरकार द्वारा प्रन्यासों को गैर-कानूनी घोषित

किए जाने पर सूत्रधारी कम्पनियों का आविर्भाव हुआ। संयोजन का यह स्वरूप 1897 और 1904 के बीच अधिक प्रचलित रहा। इसके बाद संयोजन के 'विलयन' (Merger) और 'सामूहिक हित' (Community of Interest) स्वरूप प्रचलित हुए।

संयोजन आन्दोलन के प्रभाव—अमेरिका में सयोजन आन्दोलन के अच्छे और बुरे दोनों तरह के प्रभाव दिखाई दिए। संयोजन आन्दोलन ने अमेरिका में औद्योगिक विकास की गति तेज कर दी तथा अल्पकाल मे उसे संसार का प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र बना दिया। संयोजन द्वारा बाजार का क्षेत्रीय विभाजन, उपोत्पादों का लाभदायक प्रयोग श्रम एवं पूँजी के उपयोग पर प्रभावी नियन्त्रण, विज्ञापन-व्यय में कमी, आविष्कारों में वृद्धि तथा मन्दी का सफलता पूर्वक सामना सम्भव हुआ। इसने व्यावसायिक जगत में सर्वाधिक योग्य का दीर्घ जीवन' (Survival of the Fittest) सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप दिया। इन गुणों के साथ-साथ संयोजन आन्दोलन में अनेक बुराइयां भी थीं। सर्वप्रथम, संयोजन द्वारा प्रतियोगिता की समाप्ति के फलस्वरूप व्यावसायिक जगत में प्रतियोगिता से सम्भावित लाभ भी समाप्त हो गए। दूसरे, संयोजन ने छोटे-छोटे उद्योगों को कुचलकर आर्थिक शक्ति के सन्केन्द्रण को बढ़ावा दिया। तीसरे, संयोजन ने राजनीतिक भ्रष्टाचार को प्रोत्साहित किया। चौथे, संयोजनों के निर्माण से श्रमिकों और उपभोक्ताओं का शोषण बढ़ गया; क्योंकि विशिष्ट किस्म के श्रम की खरीद तथा विशिष्ट किस्म के माल की बिक्री में संयोजित इकाइयों ने एकाधिकारी स्थिति प्राप्त कर ली थी। इन दुष्प्रभावों के कारण संयोजन की प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग जोर पकड़ने लगी।

व्यावसायिक संयोजनों का नियमन—उपभोक्ताओं और श्रमिकों के हितों की रक्षा करने के लिए अमेरिका ने समय-समय पर संयोजन-विरोधी कानून बनाकर उनकी कार्यवाहियों को नियमित करने का प्रयास किया। सर्वप्रथम 1887 में पारित 'अन्तर-र्राज्य वाणिज्य अधिनियम' के अन्तर्गत समुच्चयों (Pools) को असंवैधानिक घोषित किया गया। अधिनियम की व्यवस्थायें लागू करने के लिए 'अन्तर्राज्य वाणिज्य आयोग' गठित किया। तदुपरान्त 1890 में पारित 'शेरमन ट्रस्ट विरोधी अधिनियम' के अन्तर्गत समस्त प्रकार के एकाधिकारों को असंवैधानिक घोषित करते हुए एकाधिकारी स्थिति के सृजनकर्त्ताओं को दण्डित करने की व्यवस्था की गई। परन्तु जब 1895 में अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने 'अमेरिकी शुगर रिफाइनिंग कम्पनी' के पक्ष में अपना निर्णय दे दिया, तब शेरमन अधिनियम निरर्थक-सा हो गया।

1894 में पारित 'विल्सन प्रशुल्क अधिनियम' के अन्तर्गत आयात-व्यापार को प्रतिबन्धित करने के उद्देश्य से बनाए गए संयोजनों को असंवैधानिक करार दिया गया। शेरमन अधिनियम की खामियों को दूर करने के उद्देश्य से 1914 में 'क्लेटन ट्रस्ट विरोधी अधिनियम' पारित किया गया। इसके अन्तर्गत मूल्य-विभेद को गैर-कानूनी घोषित किया गया तथा किसी व्यक्ति के एक से अधिक प्रतिष्ठानों या बैंकों में संचालक होने पर रोक लगा दी गई। 1914 में पारित दूसरे अधिनियम के अन्तर्गत

पाँच सदस्यों का 'संघीय व्यापार आयोग' गठित किया गया, जिसे अनुचित ढग की प्रतियोगिता के विरुद्ध जांच पड़ताल का अधिकार सौंपा गया। आगे चलकर 1918 में पारित 'निर्यात-व्यापार अधिनियम' के अन्तर्गत निर्यात-व्यापार को शेरमन अधिनियम की व्यवस्थाओं से मुक्त कर दिया गया। 1926 में पारित 'सहकारी विपणन अधिनियम' के अन्तर्गत कृषि-विपणन के उद्देश्य से स्थापित संयोजनों को भी शेरमन अधिनियम की व्यवस्थाओं से मुक्त कर दिया गया। 'तीसा' की महामन्दी के समय औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से ट्रस्ट-विरोधी कानूनों की कार्यवाही आंशिक रूप से स्थगित कर दी गई। पुन: 19:7 में ट्रस्ट-विरोधी कानूनों को कड़ाई से लागू किया गया, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के समय इन कानूनों में पुन: ढिलाई कर दी गई।

1930 में अमेरिका का 74 प्रतिशत इस्पात, 84 प्रतिशत खनिज-पदार्थ तथ 90 प्रतिशत से अधिक विद्युत के सामान का उत्पादन एकाधिकारी संयोजनों द्वारा किया जाता था। द्वितीय महायुद्ध के समय तथा उसके पश्चात एकाधिकारी संयोजनों में वृद्धि जारी रही। आजकल भी अमेरिकी अर्थव्यवस्था में एकाधिकारी संयोजनों का प्रभाव बिल्कुल वैसा बना हुआ है, जैसा कि भूतकाल में था। व्यवहार में ट्रस्ट-विरोधी अधिनियम अधिक सफल नहीं हो पाए हैं।

9

संयुक्त राज्य अमेरिका में परिवहन का विकास

(Development of Transport in U. S. A.)

प्रश्न 1—संयुक्त राज्य अमेरिका में परिवहन-साधनों के विकास की व्याख्या कीजिये।

Discuss the development of the means of transport in U.S.A.

उत्तर—संयुक्त राज्य अमेरिका में परिवहन के साधनों का विकास विभिन्न चरणों में हुआ। प्रथम चरण (18वीं शताब्दी) में टर्नपाइक सड़कों की प्रधानता थी। दूसरे चरण के अन्तर्गत नदियों में वाष्प-चालित नावों का प्रयोग आरम्भ हुआ। तीसरे चरण में यातायात के साधन-स्वरूप नहरों का निर्माण और प्रयोग किया गया। चौथे चरण में रेलों का विकास हुआ, जिन्होंने आन्तरिक जल-परिवहन को चुनौती प्रदान की। पाँचवें और छठे चरण में सामुद्रिक जहाजों तथा वायुयानों का प्रयोग आरम्भ हुआ।

सड़क परिवहन का विकास– औपनिवेशिक काल में अमेरिकी सड़कों की स्थिति अत्यधिक खराब थी। झील और नदियाँ परिवहन की मुख्य साधन थीं तथा सड़कें इनकी सहायक स्वरूप थीं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात अमेरिकी सरकार ने सड़क परिवहन के विकास की आवश्यकता स्वीकार की। ब्रिटेन के टर्नपाइक ट्रस्ट को आदर्श मानते हुए अमेरिका में भी सड़कों के निर्माण एवं विकास का कार्य टर्नपाइक ट्रस्टों (Turnpike trust) को सौंपा गया। इन संस्थाओं पर सरकार का कोई नियन्त्रण नहीं था। ये सड़कों के प्रयोक्ताओं से टैक्स वसूल करती थीं। पूंजीगत साधनों के अभाव तथा सड़क-विज्ञान से अपरिचित होने के कारण टर्नपाइक ट्रस्ट सड़कों का व्यवस्थित ढंग से विकास नहीं कर पाए।

1818 में पहली बार संघ सरकार ने 'कम्बरलैंड सड़क' (जिसे 'राष्ट्रीय पाइक' की संज्ञा दी गई) का निर्माण किया। इससे पूर्व सड़कों के निर्माण में संघ सरकार ने कोई रुचि नहीं दिखाई। नहर यातायात की उन्नति से भी सड़कों की स्थिति उपेक्षित बनी रही। अमेरिकी गृह-युद्ध के समय सड़कों का नितान्त अभाव महसूस किया गया। 1890 में जब शिकागो में 'अच्छी सड़कों का आन्दोलन' आरम्भ हुआ, तब सड़क-निर्माण की ओर जनता का ध्यान आकर्षित हुआ। इसी बीच मोटर यातायात का विस्तार होने से सड़कों का महत्व बढ़ गया। सर्वप्रथम 1895 में 4 मोटरगाड़ियाँ सड़कों पर चलनी आरम्भ हुईं। 1963 के अन्त तक अमेरिकी सड़कों पर मोटर वाहनों की संख्या बढ़कर 7·5 करोड़ हो गई, जो संसार भर की मोटर-गाड़ियों की 50 प्रतिशत थी। 1972 में प्रति एक हजार व्यक्तियों के पीछे अमेरिका में 560 मोटरगाड़ियाँ थीं।

19वीं शताब्दी के अन्त तक अमेरिका में सड़कों का निर्माण मुख्यत: नगर और जिला अधिकारियों का दायित्व था। संघ और राज्य सरकारों ने वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से सड़कों के विकास की ओर ध्यान दिया। 1913 में सड़कों के निर्माण पर राज्य सरकारों ने 370 लाख डॉलर तथा स्थानीय निकायों ने 1370 लाख डॉलर खर्च किए। 1916 में पारित 'संघीय सहायता राजमार्ग अधिनियम' के अन्तर्गत राष्ट्रीय महत्व की सड़कों के निर्माण का आधा-आधा व्यय संघ और राज्य सरकारों द्वारा वहन करने की व्यवस्था की गई। 1944 में 'अन्तर्राज्य एवं प्रतिरक्षा राजमार्गों की राष्ट्रीय प्रणाली, का सृजन किया गया। 1963 के अन्त तक सड़कों के निर्माण पर संघीय सरकार ने 300 करोड़ डॉलर तथा राज्य सरकारों ने 150 करोड़ डॉलर खर्च किए। इस समय अमेरिका में संघीय राजमार्गों की लम्बाई 9 लाख मील, प्रादेशिक राजमार्गों की लम्बाई 7 लाख मील तथा स्थानीय सरकारों की सड़कों की लम्बाई 40 लाख मील है।

आन्तरिक जल परिवहन का विकास—अमेरिका में यातायात के साधन-स्वरूप नदियों और झीलों का प्रयोग बहुत समय तक किया जाता रहा। 1807 में फूल्टन द्वारा वाष्प-चालित नौका बनाई जाने के बाद नदी परिवहन का बड़े पैमाने पर प्रयोग

आरम्भ हुआ । 1811 तक सैकड़ों वाष्प-चालित नौकायें नदियों में प्रयुक्त की जाने लगीं । धीरे-धीरे नदियों के तट पर अनेक व्यापारिक केन्द्र (शहर) विकसित हो गए। चूंकि अमेरिका की अधिकांश नदियों का बहाव उत्तर से दक्षिण की ओर है तथा व्यापार की आवश्यकता पूरब से पश्चिम की ओर है, इसलिए नदी परिवहन का क्षेत्र अत्यधिक सीमित हो जाता है । आजकल अमेरिका की 20 प्रमुख नदियों का परिवहन के साधन-स्वरूप प्रयोग किया जा रहा है । इन नदियों से प्रतिवर्ष 50 करोड़ टन सामान ढोया जाता है । नदियों के अतिरिक्त, आन्तरिक जल परिवहन के अन्तर्गत झीलों का प्रयोग भी सम्मिलित है । अमेरिका में बड़ी-बड़ी झीलों को नहरों द्वारा परस्पर जोड़ दिया गया है । अत: परिवहन की दृष्टि से झीलों की उपयोगिता बढ़ गई ई ।

गृह-युद्ध से पूर्व अमेरिका में परिवहन के साधन-स्वरूप नहरों का विशेष महत्व था । 1817 से लेकर 1837 तक का समय अमेरिकी परिवहन के इतिहास में 'नहर-निर्माण का युग' कहलाता है । ईरी झील (Lake Eire) को हडसन नदी से जोड़ने वाली 362 मील लम्बी ईरी नहर (Eire Canal) का निर्माण इसी युग में हुआ। यह पश्चिम के लिए पहला व्यापारिक मार्ग सिद्ध हुई । 'न्यूयार्क' शहर के विकास में इस नहर का प्रमुख योगदान रहा । इस युग में निर्मित अमेरिका की अन्य नहरें थीं—पेनसिलवानिया नहर, चेसपेक तथा ओहियो नहर, मोरिस नहर, डेलवेयर और रिरिटन नहर । गृह-युद्ध के पश्चात् अमेरिका में रेलों का द्रुतगति से विकास आरम्भ हुआ। इससे आन्तरिक जल परिवहन के महत्व में भारी गिरावट आई । आजकल अमेरिका में नौका-चालन योग्य नदियों की लम्बाई 26 हजार मील तथा नहरों की लम्बाई 2 हजार मील है ।

रेलवे परिवहन का विकास—अनेक विद्वानों ने अमेरिका में रेलवे-विकास के इतिहास को ही उसके 'आर्थिक विकास का इतिहास' स्वीकार किया है; क्योंकि अमेरिका में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात रेलों के द्रुत विकास के साथ-साथ हुआ है। अमेरिका में रेल-निर्माण का कार्य आरम्भ करने का श्रेय 1827 में स्थापित 'बाल्टिमोर एवं ओहियो रेल-रोड कम्पनी' को है । डेलावेयर से हडसन तक पहली रेलवे लाइन 1929 में आरम्भ हुई। रेल-मार्गों की लम्बाई 1830 में 30 मील से बढ़कर 1840 में 3 हजार मील तथा 1860 में 30 हजार मील हो गई। गृह-युद्ध से पूर्व तक अमेरिका में रेलों का विकास नदियों और नहरों के पूरक-स्वरूप हुआ था । गृह-युद्ध के पश्चात् रेलों का स्वतन्त्र रूप से तथा तीव्र गति से विकास आरम्भ हुआ । 1860 से लेकर 1920 तक अमेरिका में रेल-मार्गों की लम्बाई 30 हजार मील से बढ़कर 253 हजार मील हो गई, जो समूचे यूरोप में रेल-मार्गों की लम्बाई से अधिक तथा समूचे विश्व में रेल-मार्गों की लम्बाई का एक-तिहाई भाग थी।

प्रथम महायुद्धकाल में सरकार ने रेलों का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया

था, किन्तु युद्ध की समाप्ति पर रेलों का नियन्त्रण पुनः निजी कम्पनियों को सौंप दिया गया। 1920 के परिवहन अधिनियम के अन्तर्गत सरकार ने रेलवे कम्पनियों का एकाधिकार स्वीकार किया तथा 'अन्तर्राज्य वाणिज्य आयोग' को रेल-भाड़े की न्यूनतम दरें निश्चित करने का अधिकार दिया गया। 'तीसा' की महामन्दी के समय रेलवे कम्पनियों को वित्तीय सहायता पहुंचाने के उद्देश्य से 'पुनर्निर्माण वित्तआयोग' की स्थापना की गई। रेलों में डीजल और विद्युत इंजनों का प्रयोग 1925 में आरम्भ हो चुका था यातायात-नियन्त्रण की व्यवस्था तथा यात्रियों के लिए वातानुकूलित डिब्बों का प्रयोग 1927 में आरम्भ हुआ। द्वितीय महायुद्ध के समय रेलों की जो तकनीकी प्रगति स्थापित हो गई थी, वह युद्धोत्तरकाल में पुनः आरम्भ हुई। 1958 के परिवहन अधिनियम के अन्तर्गत अन्तर्राज्य वाणिज्य आयोग को रेलवे तथा परिवहन के दूसरे साधनों पर नियन्त्रण हेतु विस्तृत अधिकार सौंपे गए।

वर्तमान में रेल-मार्गों के विचार से अमेरिका का संसारभर में सर्वोच्च स्थान है। यहाँ लगभग 400 रेलवे कम्पनियाँ हैं, जो 375 हजार मील लम्बे रेल-मार्ग पर गाड़ियाँ चलाती हैं। इनके पास 30 हजार इंजन, 27 हजार सवारी गाड़ी के डिब्बे तथा 17 लाख मालगाड़ी के डिब्बे हैं। रेलवे-प्रणाली का पूँजीगत-मूल्य 28 बिलियन डॉलर है, जो अमेरिका की कुल राष्ट्रीय-सम्पत्ति का 10 प्रतिशत भाग है। रेलवे-प्रणाली में 17 लाख व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त हैं।

जहाजरानी का विकास—अमेरिका में जहाजरानी का इतिहास औपनिवेशिक काल से आरम्भ होता है। जिस समय अमेरिका में आन्तरिक परिवहन के साधन दोषपूर्ण थे, उसका तटीय व्यापार समुन्नत था। नेपोलियन युद्धों के समय अमेरिकी जहाजरानी का द्रुतगति से विकास हुआ था। इसीलिए अमेरिकी जहाजरानी को 'स्वतन्त्रता-संग्राम का शिशु' कहा जाता है, जिसने नेपोलियन युद्धों के समय परिपक्वता की स्थिति प्राप्त कर ली। अमेरिकी जहाजरानी का कुल टन-भार 1797 में 87 हजार टन से बढ़कर 1815 तक 156 हजार टन हो गया। अमेरिकी गृह-युद्ध से लेकर प्रथम महायुद्ध तक जहाजरानी के विकास की गति मन्दी रही। प्रथम महायुद्ध के समय सरकार ने जहाजरानी के विकास की आवश्यकता स्वीकार की। सरकार ने आर्थिक सहायता (उपदान) देकर जहाजरानी के विकास को प्रोत्साहित करने का निर्णय लिया। 1914 में अमेरिकी जहाजरानी का कुल टन-भार 10·66 लाख टन था, जो 1939 तक बढ़कर 930 लाख टन हो गया।

द्वितीय महायुद्ध ने अमेरिका में जहाजरानी के विकास को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया। जहाज-निर्माण के कार्य को नया जीवन प्राप्त हुआ। 1942 में 'युद्ध जहाजरानी प्रशासन' की स्थापना की गई, जिसके नियन्त्रण में समस्त जहाजों को रक्खा गया। 1946 में यह संस्था समाप्त कर दी गई तथा जहाजरानी पर नियन्त्रण रखने का कार्य पुनः 'समुद्री परिवहन आयोग' (जिसका गठन 1937 में किया गया था) को सौंप दिया। 1950 में समुद्री परिवहन आयोग के स्थान पर

'संघीय सामुद्रिक बोर्ड' का गठन किया गया। टन-भार के विचार से 1925 में अमेरिकी जहाजरानी की स्थिति ब्रिटेन के बाद दूसरी हो गई थी। द्वितीय महायुद्ध के समय अमेरिका संसार का सबसे बड़ा सामुद्रिक शक्ति वाला देश बन गया। 1939 की अपेक्षा 1945 में अमेरिकी जहाजरानी का कुल टन-भार पाँच गुना अधिक हो गया, जो संसार भर में जहाजरानी के कुल टन-भार का दो-तिहाई भाग था। युद्धोत्तरकाल में अमेरिकी जहाजरानी की सापेक्षिक स्थिति में गिरावट आई तथा 1963 तक अमेरिका के पास संसार की कुल टन-भार क्षमता का मात्र 16 प्रतिशत भाग रह गया। आजकल अमेरिका के पास 3 हजार समुद्री-जहाज तथा 1000 मिलियन टन से अधिक माल ढोने की नौपरिवहन क्षमता है। इसके दो-तिहाई जहाज विदेशी व्यापार में तथा शेष एक-तिहाई तटीय व्यापार में संलग्न हैं।

वायु परिवहन का विकास—अमेरिका में वायु परिवहन का विकास प्रथम महायुद्ध के समय आरम्भ हुआ। युद्धोत्तरकाल में वायुयानों का प्रयोग डाक-सेवा में किया जाने लगा। निजी उद्यम के रूप में वायु परिवहन का विकास 1925 के 'केली अधिनियम' के साथ आरम्भ हुआ। 1926 में पारित 'वायु वाणिज्य अधिनियम' के अन्तर्गत नागरिक उड्डयन के कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए 'वायु वाणिज्य केन्द्र' की स्थापना की गई। 1934 से लेकर 1938 तक अमेरिका में वायु परिवहन का तेजी से विकास हुआ। वायु परिवहन के नियमन हेतु 1938 में 'नागरिक वैमानिकी प्रशासन' की स्थापना हुई जिसे बाद में 'नागरिक वैमानिकी बोर्ड' में बदल दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् नागरिक उड्डयन में तेजी से प्रगति हुई। 1939 में नागरिक विमानों की कुल उड़ान 68 करोड़ यात्री मील थी जो 1957 में बढ़कर 2890 करोड़ यात्री मील हो गई। आजकल अमेरिका में 54 हवाई सेवाएं हैं तथा 8 हजार हवाई अड्डे हैं।

प्रशुल्क दरों में कटौती की बजाय वृद्धि आवश्यक हो गई। 1944 तक प्रशुल्कों की औसत दर बढ़कर 33 प्रतिशत हो गई। यह 1933 के प्रशुल्क अधिनियम की शर्तों से एकदम विपरीत स्थिति थी।

1844 के बाद अमेरिकी अर्थव्यवस्था अवसाद से मुक्त हो गई। 1845 में डेमोक्रेटिक दल सत्तारूढ़ हुआ, जो नीचे प्रशुल्कों का समर्थक था। अतः 1846 में 'वॉकर प्रशुल्क अधिनियम' पारित हुआ। इसके अन्तर्गत आयातित वस्तुओं को तीन श्रेणियों में बाँटा गया तथा प्रत्येक श्रेणी की वस्तुओं के लिए प्रशुल्क की अलग दर निश्चित की गई। विलास वस्तुओं पर 100 प्रतिशत तथा अर्ध-विलास वस्तुओं पर 50 प्रतिशत प्रशुल्क लगाया गया। वाणिज्यिक वस्तुओं के लिए प्रशुल्क की दरें 30 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक निर्धारित की गईं। इस व्यवस्था का सरकारी आय पर अनुकूल प्रभाव पड़ा तथा अमेरिकी अर्थव्यवस्था समृद्धि की ओर अग्रसर हुई। बाद में 1857 के प्रशुल्क अधिनियम द्वारा सभी स्तरों पर प्रशुल्क की दरों में 5 प्रतिशत की कमी की गई तथा प्रशुल्क रहित आयात की जाने वाली-वस्तुओं की संख्या बढ़ाई गई।

उच्च प्रशुल्कों की अवधि—1857 के पश्चात् अमेरिका को पुनः आर्थिक मन्दी का सामना करना पड़ा। गृह-युद्ध के कारण सरकार की आर्थिक कठिनाइयाँ अधिक बढ़ गईं। अतः 'प्रत्येक वस्तु पर करारोपण' का नारा प्रचलित हो गया। गृह-युद्ध के समय (1861-65) अमेरिकी सीनेट में केवल उत्तरी राज्यों का प्रतिनिधित्व था, जो ऊँचे संरक्षणात्मक प्रशुल्कों के समर्थक थे। अतः प्रशुल्क दरों में भारी वृद्धि की गई। सर्वप्रथम 1861 के 'मोरिल प्रशुल्क अधिनियम' के अन्तर्गत आयातित वस्तुओं पर मूल्यानुसार करों की जगह 'विशिष्ट कर' लगाए गए तथा आयात-शुल्कों में इतनी वृद्धि की गई कि वे 1946 के वॉकर प्रशुल्क अधिनियम' के बराबर हो गए। तदुपरान्त 1864 के प्रशुल्क अधिनियम के अन्तर्गत सभी वस्तुओं पर प्रशुल्क की दरें बढ़ाई गईं। प्रशुल्क की औसत दर 47 प्रतिशत हो गई। गृह-युद्ध की समाप्ति पर उत्पादन-शुल्क घटाए गए किन्तु प्रशुल्क की दरें पूर्ववत् ऊँची बनी रहीं। परिणामतः व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो गईं तथा 'उच्च संरक्षणात्मक प्रशुल्क' आलोचना का विषय बन गया। 1870 में प्रशुल्क की दरें कुछ घटायी गईं। 1872 में सभी प्रकार की वस्तुओं पर प्रशुल्क की दरें 10 प्रतिशत घटा दी गईं। चाय और कहवा सरीखी वस्तुओं पर आयात-शुल्क पूर्णतः समाप्त कर दिया गया।

1873 से अमेरिकी अर्थव्यवस्था में पुनः अवसाद की स्थिति उत्पन्न हो गई। अतः 1875 में प्रशुल्क दरें पुनः बढ़ाई गईं तथा 1872 का प्रशुल्क अधिनियम रद्द कर दिया गया। 1881 तक अमेरिकी अर्थव्यवस्था अवसाद की स्थिति से उबर चुकी थी। अतः प्रशुल्क के प्रश्न पर विचार करने के लिए 1882 में एक आयोग

गठित किया गया। आयोग ने प्रशुल्कों दरों में 25 प्रतिशत की कमी का सुझाव दिया था, किन्तु 1883 के अधिनियम द्वारा प्रशुल्क दरों में केवल 5 प्रतिशत की कमी की गई।

1890 के 'मैक-किनले प्रशुल्क अधिनियम' के अन्तर्गत सभी आयातित वस्तुओं पर प्रशुल्क की दरें बढ़ाई गई। प्रशुल्क की औसत दर 48.4 प्रतिशत हो गई। अधिनियम के अन्तर्गत कृषि-वस्तुओं को भी संरक्षण प्रदान किया गया। राष्ट्रपति को दूसरे देशों के साथ द्विपक्षीय समझौते करने का अधिकार भी दिया गया। 1894 के 'विल्सन गौरमैन अधिनियम' के अन्तर्गत प्रशुल्क की औसत दर घटाकर 41.3 प्रतिशत कर दी गई थी, किन्तु '1897 के डिंगले प्रशुल्क अधिनियम' के अन्तर्गत प्रशुल्क की औसत दर बढ़ाकर 57 प्रतिशत कर दी गई। डिंगले अधिनियम पर आधारित प्रशुल्क नीति लगभग 12 वर्षों तक चली। इस अवधि में अमेरिकी अर्थव्यवस्था का तेजी से विकास हुआ।

20वीं शताब्दी में प्रशुल्क नीति—1908 में प्रशुल्कों के प्रति रिपब्लिकन पार्टी की परिवर्तित नीति उसके इस बयान से स्पष्ट होती है, "संरक्षण के वास्तविक सिद्धान्त का पोषण ऐसे शुल्क लगाए जाने में है, जो घरेलू एवं विदेशी उत्पादन-लागत का अन्तर समाप्त कर दें तथा घरेलू उद्योगों को उचित लाभ प्रदान करें।" 1909 के 'पाइन-आलड्रिच प्रशुल्क अधिनियम' से सरकारी नीति में उपस्थित परिवर्तन बिलकुल स्पष्ट हो गया। इनके अन्तर्गत बहुत-सी वस्तुओं को प्रशुल्क-मुक्त कर दिया गया तथा कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रशुल्क की दरें बहुत कम कर दी गई। प्रशुल्कों की न्यूनतम एवं अधिकतम दरें लागू की गई तथा विभेदात्मक देशों से आयातित वस्तुओं पर 25 प्रतिशत अतिरिक्त प्रशुल्क लगाया गया। 1913 का 'अण्डरऊड प्रशुल्क अधिनियम' गृह-युद्ध के पश्चात् सबसे नीचे प्रशुल्कों वाला अधिनियम था। इसके अन्तर्गत 100 वस्तुओं पर प्रशुल्क पूर्णतः समाप्त कर दिया गया तथा 953 वस्तुओं पर प्रशुल्क की दरें घटायी गई। यह व्यवस्था 1921 तक चलती रही। इस बीच अमेरिकी किसानों तथा उद्योगपतियों की ओर से संरक्षणात्मक प्रशुल्कों की माँग हुई। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर बढ़ती हुई विदेशी प्रतियोगिता ने भी संरक्षणात्मक प्रशुल्कों की आवश्यकता उत्पन्न कर दी थी। अतः 27 मई 1921 को संसद के विशेष सत्र में पारित "आपातकालीन प्रशुल्क अधिनियम' के अन्तर्गत ऊन, अनाज, माँस और चीनी पर आयात-शुल्क लगाया गया।

1922 के 'फोर्डने मैकम्बर अधिनियम' के अन्तर्गत संरक्षणात्मक प्रशुल्कों की दरें 1899 के प्रशुल्क-स्तर से भी ऊँची कर दी गई। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य कृषि-पदार्थों तथा प्रथम महायुद्धकाल में जन्म उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना था। अमेरिकी वस्तुओं के साथ विभेदात्मक बर्ताव करने वाले देश से आयातित वस्तुओं पर राष्ट्रपति को प्रशुल्क दरों में 50 प्रतिशत तक की वृद्धि का

अधिकार दिया गया। 1930 के 'हॉवले-स्मूट अधिनियम' के अन्तर्गत प्रशुल्क दरों में और भी वृद्धि की गई। मूल्यानुसार 120 प्रतिशत तक का प्रशुल्क लगाया गया। प्रशुल्क की औसत दर 53.2 प्रतिशत हो गई। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य विदेशी वस्तुओं का आयात समाप्त करके स्वर्ण के आयात को प्रोत्साहित करना था।

'तीसा' की महामन्दी के समय अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा घोषित 'न्यू डील पॉलिसी' द्विपक्षीय समझौतों द्वारा प्रशुल्क की दरें घटाने से सम्बन्धित थी। अत: 1934 के 'पारस्परिक व्यापार समझौता अधिनियम' के अन्तर्गत राष्ट्रपति को द्विपक्षीय समझौते का अधिकार दिया गया। राष्ट्रपति को प्रशुल्क की अधिकतम दरों में 50 प्रतिशत की कटौती का अधिकार भी दिया गया। कुल मिलाकर, 1930 का 'हॉवले-स्मूट अधिनियम' द्वितीय महायुद्ध के बाद तक सरकार की आधारभूत प्रशुल्क नीति का कार्य करता रहा; क्योंकि 1934 के 'पारस्परिक व्यापार समझौता अधिनियम' के अन्तर्गत केवल कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रशुल्क घटाए गए थे। अत: उच्च प्रशुल्कों की सामान्य प्रवृत्ति बनी रही। 1955 में पारित 'व्यापार समझौता (विस्तार) अधिनियम' के अन्तर्गत राष्ट्रपति को द्विपक्षीय समझौतों से सम्बन्धित विस्तृत अधिकार प्रदान किए गए थे, किन्तु सरकारी प्रशुल्क नीति की सामान्य प्रवृत्ति संरक्षण की ओर उन्मुख रही।

राष्ट्रपति केनेडी के कार्यालय में अमेरिकी सरकार ने प्रशुल्क दरें घटाने का प्रयास किया। 1962 के 'व्यापार विस्तार अधिनियम' के अन्तर्गत राष्ट्रपति को कुछ प्रशुल्कों में 50 प्रतिशत तक की कमी करने, कुछ प्रशुल्कों को पूर्णतया समाप्त करने तथा आयातों के विरुद्ध उद्योगपतियों को सुरक्षा प्रदान करने के उपाय अपनाने का अधिकार दिया गया। प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की स्थिति से निपटने के लिए राष्ट्रपति निक्सन के कार्यकाल में 1971 के अधिनियम द्वारा प्रशुल्कों में पुन: वृद्धि की गई। आजकल अमेरिकी सरकार की प्रशुल्क नीति की सामान्य प्रवृत्ति संरक्षण की ओर उन्मुख है। सरकार का उद्देश्य उद्योगों के साथ-साथ कृषि को भी संरक्षण प्रदान करना है। गृह-युद्ध से पूर्व प्रशुल्क नीति का मुख्य उद्देश्य आय-प्राप्ति था। गृह-युद्ध के पश्चात प्रशुल्क नीति का स्वरूप निरन्तर संरक्षणात्मक होता चला गया। परिणामत: संघ सरकार की आय में प्रशुल्कों का हिस्सा 1860 में 96 प्रतिशत से घटकर 1900 में 42 प्रतिशत, 1940 में 6 प्रतिशत तथा 1963 में एक प्रतिषत रह गया (यद्यपि प्रशुल्कों से प्राप्त कुल आय 1860 में 4 करोड़ डॉलर से बढ़कर 1963 में 100 करोड़ डॉलर हो गई)।

11
संयुक्त राज्य अमेरिका में श्रमिक-संघवाद
(Trade Unionism in U. S. A.)

प्रश्न 1—संयुक्त राज्य अमेरिका में श्रमिक-संघवाद के विकास का वर्णन कीजिये।

Trace the growth of trade unionism in U. S. A.

उत्तर—ग्रेट ब्रिटेन की तरह, अमेरिका का श्रमिक समाज समरूपी नहीं है। इसमें जर्मनी, ब्रिटेन, पोलैंड, चीन आदि देशों से आकर बसे भिन्न-भिन्न भाषाओं, प्रजातियों, रूप-रंग और सस्कृतियों के व्यक्ति सम्मिलित हैं। अमेरिकी श्रमिक समाज की विषमरूपता श्रमिक संघवाद की शुरुआत में मुख्य रुकावट सिद्ध हुई थी। जहाँ ब्रिटेन में श्रमिक संघवाद विशुद्धत: आर्थिक उद्देश्यों से आरम्भ हुआ था; वहीं अमेरिका में श्रमिक संघवाद की शुरुआत आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों से भी हुई। ब्रिटेन के श्रमिक संघ एक ही केन्द्रीय संगठन से सम्बद्ध हैं, किन्तु अमेरिकी श्रमिक संघ स्वतन्त्र रूप से कार्य कर रहे हैं। ग्रेट ब्रिटेन की तरह, अमेरिका में श्रमिकों की कोई राजनीतिक पार्टी भी नहीं है।

गृह-युद्ध से पूर्व श्रमिक संघवाद—औपनिवेशिक-युगीन अमेरिका में केवल कुटीर और लघु उद्योगों का अस्तित्व था। अत: श्रमिकों का कोई स्थायी संगठन नहीं था, यद्यपि 18वीं शताब्दी के अन्त तक श्रमिक संगठनात्मक आधार पर अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने की बात सोचने लगे थे। बोगर्ट (Bogert) और केमरर (Kemrar) ने 1766 से लेकर 1820 तक के समय को अमेरिकी श्रमिक संघवाद का 'सुषुप्त काल' (Dormant Period) माना है। इस अवधि में हड़ताल के उद्देश्य से स्थायी संगठनों का निर्माण हुआ; क्योंकि श्रमिकों में संगठन की भावना पूर्णरूप से विकसित नहीं हो पाई थी। उनकी हड़तालों को न्यायालयों द्वारा 'षडयन्त्र' माना जाता था।

1820 से लेकर 1840 तक का समय अमेरिकी श्रम-आन्दोलन का 'जागरण काल' (Awakening Period) माना जाता है। इस काल में अनेक स्थायी श्रम-संघों का निर्माण हुआ। सर्वप्रथम 1827 में 'फिलाडेलफिया मिस्त्री व्यापार संघ' की स्थापना हुई, जिसके विषय में मेकैनिकल फ्री प्रेस ने लिखा था, "पहली बार कर्मकारों ने सार्वजनिक मीटिंग में यह परखने का प्रयास किया कि क्या उनका व्यक्तियों या वर्ग के रूप में कोई अधिकार है, जिसके द्वारा वे शासित हैं।" आगे चलकर न्यूयार्क

और बोस्टन सरीखे शहरों में भी इसी तरह की संस्थायें स्थापित हुईं। 1830 तक शू मेकर्स, कॉम्ब मेकर्स, कारपेन्टर, प्रिंटर्स तथा हैण्डलूम वर्कर्स के राष्ट्रीय संगठन अस्तित्व में आ गए। श्रमिकों का प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन 1833 में आयोजित हुआ, जिसमें देश भर के श्रमिक-प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसी अवधि में महिला श्रमिकों का संगठन भी स्थापित हुआ, जिसका उद्देश्य महिला श्रमिकों को सुरक्षा प्रदान करना था। आर्थिक समृद्धि के परिणामस्वरूप भी श्रम-आन्दोलन प्रोत्साहित हुआ। श्रमिकों की माँग का औचित्य प्रकट होने लगा।

परन्तु 1837 में उत्पन्न आर्थिक अवसाद के कारण बहुत-से कारखाने बन्द हो गए तथा बेकारी की समस्या अप्रत्याशित रूप से बढ़ गई। फलतः 1834 में निर्मित श्रमिकों के बहुत-से संगठन 1837 में समाप्त हो गए। श्रम-आन्दोलन का सामना करने के लिए सेवायोजकों ने भी अपने संगठन बनाने आरम्भ किए। 1842 तक अमेरिका में किसी भी तरह का संयोजन अवैध था। अतः 1842 तक श्रमिकों के संगठन भी अवैध बने रहे।

1842 से लेकर 1860 तक का समय अमेरिकी श्रम-आन्दोलन का 'उन्माद काल' (Hot Air Period) कहलाता है। इस अवधि में विभिन्न विचारधारा के व्यक्तियों ने श्रमिकों पर अपना प्रभाव जमाने का प्रयास किया। ब्रिटिश समाजवाद के जनक रॉबर्ट ओवन (Robert Owen) ने अमेरिका आकर 'समाजवादी बस्ती' की स्थापना की। 1851 में कार्ल मार्क्स के शिष्य जोसफ वेडमेयर (Joseph Weydemeyer) ने अमेरिका पहुँचकर मार्क्सवादी विचारों का प्रचार किया। फ्रांसीसी विचारक चार्ल्स फूरियर (Charles Fourier) के विचारों पर आधारित 'काल्पनिक समाज' के निर्माण हेतु प्रयास भी किए गए। इस अवधि में अमेरिकी श्रमिकों ने राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक माँगें रखनी आरम्भ कीं। 1845 में 'कर्मचारी संरक्षणात्मक संघ' की स्थापना हुई। इसके अन्तर्गत सहकारी आधार पर 800 वितरण केन्द्र स्थापित किये गए। श्रमिकों ने मजदूरी-वृद्धि की माँग को लेकर आन्दोलन भी इसी अवधि में प्रारम्भ किया। इससे पूर्व श्रम-आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य काम के घण्टों में कमी कराना होता था। उस समय श्रमिकों को प्रतिदिन साढ़े बारह घण्टे काम करना पड़ता था। श्रम-आन्दोलन के परिणामस्वरूप 10 घन्टे प्रतिदिन काम को सिद्धान्ततः माना जाने लगा। 1820 से लेकर 1860 तक श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी में 13 प्रतिशत की वृद्धि हुई। संचार-साधनों के विकास, कैलिफोर्निया में सोने की खानों की खोज तथा व्यापारिक कार्यों में वृद्धि से अमेरिकी श्रम-आन्दोलन को व्यापक स्वरूप प्राप्त हुआ। श्रम-संघों के प्रति सरकार और जनता के रुख में भी परिवर्तन आया। 1850 में 'इण्टरनेशनल टाइपोग्राफिक यूनियन', 1854 में 'दी हिट फिनिशर्स', 1959 में 'दी नेशनल यूनियन ऑफ मेकैनिक्स एण्ड ब्लैकस्मिथ', तथा 'दी नेशनल मोल्डर्स यूनियन' की स्थापना हुई।

गृह-युद्ध के पश्चात श्रमिक संघवाद—1860 से लेकर 1914 तक का समय

अमेरिकी श्रम-आन्दोलनके इतिहास में पुनरुत्थान काल' (Revival Period) कहलाता है। गृह-युद्ध के दौरान सामान्य कीमत-स्तर में 76% की वृद्धि के विपरीत मजदूरियों में केवल 50 प्रतिशत की वृद्धि हो पाई। फलत: श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी घट गई। गृह-युद्ध के पश्चात कारखानों में यन्त्रों का प्रयोग बढ़ जाने तथा विदेशों से बड़ी संख्या में श्रमिकों का आयात होने के कारण बेकारी की समस्या गम्भीर हो गई (1864 में पारित एक अधिनियम के अन्तर्गत सेवायोजकों को विदेशों से श्रमिकों के आयात की छूट दी गई थी)। बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना से श्रमिकों और सेवायोजकों का आपसी सम्पर्क कम हो गया। इन सब कारणों से गृह-युद्ध के पश्चात श्रम-आन्दोलन को विशेष बल मिला। 1861 से लेकर 1873 तक श्रमिकों के 23 संगठनों का निर्माण हुआ, जिनमें से 'नोबुल आर्डर ऑफ दी नाइट्स ऑफ लेबर' तथा 'अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर' अधिक प्रभावी सिद्ध हुए। नाइट्स ऑफ लेबर की स्थापना 1869 में हुई। 1886 तक इसकी सदस्य-संख्या बढ़कर 7 लाख हो गई। विभिन्न वर्गों की सदस्यता (जिनके हितों में विविधता थी) के कारण यह संगठन सफल नहीं हो सका। 1900 तक इसकी सदस्य-सख्या घटकर एक लाख रह गई। 1881 में स्थापित 'फेडरेशन ऑफ लेबर' नाइट्स ऑफ लेबर में उपस्थित मतभेद का परिणाम था। इसके उद्देश्य नाइट्स की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी थे। तीसा की महामन्दी के समय तक यह श्रमिकों के प्रमुख देशव्यापी संगठन के रूप में कार्य करता रहा। 1935 में इसका विभाजन हो गया तथा जे० एल० लुईस की अध्यक्षता में 'औद्योगिक संगठन कमेटी' के नाम से एक नए संगठन की स्थापना हुई।

प्रथम महायुद्ध के बाद का समय अमेरिकी श्रम-आन्दोलन का 'परिपक्वता काल' (Maturity Period) कहलाता है। इस काल में विभिन्न उतार-चढ़ावों का सामना करते हुए श्रम-संगठनों की स्थिति सुदृढ़ होती चली गई। सर्वप्रथम 'तीसा' की महामन्दी के समय उत्पन्न व्यापक बेरोजगारी ने श्रमिकों को आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त कमजोर बना दिया। परिणामत: 1931 में फेडरेशन ऑफ लेबर की सदस्य-सख्या घटकर 29 लाख रह गई, जबकि 1920 में यह 41 लाख थी। मन्दी-निवारण हेतु चालू किये गए न्यू डील कार्यक्रम के अन्तर्गत सरकार ने श्रमिकों के प्रतिनिधियों को सौदेबाजी का अधिकार देकर श्रम-संघों को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया। 1935 में पारित श्रम-सम्बन्ध अधिनियम के अन्तर्गत श्रमिकों को संगठन बनाने और सामूहिक सौदेबाजी का अधिकार दिया गया तथा 'राष्ट्रीय श्रम-सम्बन्ध बोर्ड' की स्थापना की गई। 1935 में गठित 'औद्योगिक संगठन कमेटी' अकुशल श्रमिकों की तथा 'अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर' कुशल श्रमिकों की प्रमुख संस्थायें बन गईं। 1940 में दोनों संस्थाओं की सदस्य-संख्या 90 लाख तक पहुँच गई। 1945 में दोनों संस्थाओं ने अपना एकीकरण कर लिया। 1964 में एकीकृत संस्था 'फेडरेशन' की सदस्य-संख्या एक करोड़ तक पहुँच गई।

द्वितीय महायुद्ध ने श्रम की माँग में उल्लेखनीय वृद्धि की। युद्ध की समाप्ति पर सभी महत्वपूर्ण उद्योगों में श्रमिकों के संगठन क्रियाशील थे और 25 प्रतिशत श्रमिक किसी न किसी संगठन के सदस्य थे। अधिक मजदूरी की माँग को लेकर 1945 और 1946 में श्रम-संगठनों ने व्यापक हड़तालों का आयोजन किया। श्रमिकों की मजदूरी तो बढ़ गई, किन्तु राष्ट्रीय उत्पादन को पहुँची क्षति के कारण उनके संगठनों ने जन-विश्वास खो दिया। यह तर्क दिया जाने लगा कि श्रमिकों और सेवायोजकों के बीच शक्ति-संतुलन के लिए श्रम-सँगठनों की शक्ति में कमी अनिवार्य है। इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए 1947 में श्रम-व्यवस्था सम्बन्ध अधिनियम पारित किया गया। यह 'टाफ्ट-हार्टले अधिनियम' भी कहलाता है। इसने 1935 के 'श्रम-सम्बन्ध अधिनियम' (या वैगनर अधिनियम) का स्थान ले लिया। अधिनियम को लागू करने की ज़िम्मेदारी 'राष्ट्रीय-श्रम सम्बन्ध बोर्ड' पर सौंपी गई। अधिनियम के अन्तर्गत कुछ किस्म की हड़तालों को अवैध घोषित किया गया, किन्तु सँघ की सदस्यता श्रमिक का अधिकार मानी गई। अधिनियम में गैर-संघीय श्रमिकों की सुरक्षा तथा अनिवार्य सामूहिक सौदेबाज़ी की व्यवस्था की गई। सेम्युलसन (Samuelson) सरीखे अर्थशास्त्रियों का विचार है कि टाफ्ट-हार्टले अधिनियम से श्रम-संघों की शक्ति में कोई कटौती नहीं हुई है।

12

महान आर्थिक अवसाद एवं न्यू-डील
(Great Economic Depression and the New Deal)

प्रश्न 1—1929 की महान आर्थिक मन्दी के कारणों का परीक्षण कीजिए। आर्थिक पुनरुत्थान की प्रोन्नति के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में क्या उपाय किए गए तथा वे किस सीमा तक सफल रहे ?

Examine the causes of great economic depression of 1929. What measures were adopted to promote economic recovery in U. S.A. and to what extent they were successful ?

उत्तर—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अमेरिकी अर्थव्यवस्था की प्रकृति और संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुए। महायुद्ध से पहले ब्रिटेन संसार का

प्रमुख ऋणदाता देश था। महायुद्ध के बाद यह स्थान अमेरिका को प्राप्त हो गया। 1919 से लेकर 1929 तक अमेरिका के राष्ट्रीय उत्पादन में 43 प्रतिशत की वृद्धि हुई। श्रमिकों की मजदूरी (वास्तविक एवं मौद्रिक) बढ़ गई तथा बेरोजगारी लगभग समाप्त हो गई। 1922 से लेकर 19'9 तक अमेरिका के विदेशी व्यापार में 28 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1929 तक अमेरिका 2,100 करोड़ डॉलर का ऋणदाता बन गया तथा निर्यात-आधिक्य के भुगतान-स्वरूप उसके पास संसार का 28 प्रतिशत स्वर्ण-कोष एकत्रित हो गया। इस तरह, 1929 में अमेरिकी अर्थव्यवस्था समृद्धि की चरम सीमा पर पहुंच गई थी। अक्टूबर 1929 में 'वाल स्ट्रीट संकट' (Wall Street Crisis) के साथ अमेरिका में महान आर्थिक अवसाद का युग आरम्भ हुआ, जो 1933 तक चलता रहा। **मन्दी की भीषणता का अनुमान निम्न तथ्यों से लगाया जा सकता है—**

(1) **राष्ट्रीय आय में गिरावट**— अमेरिका की मौद्रिक आय 1929 में 8104 करोड़ डॉलर से घटकर 1932 में 4895 करोड़ डॉलर रह गई। इसके परिणाम-स्वरूप देशवासियों के जीवन-स्तर (उपभोग-स्तर) में 20 प्रतिशत की गिरावट आई।

(2) **हिस्सों और प्रतिभूतियों के मूल्यों में गिरावट**—औद्योगिक संस्थाओं के शेयरों का मूल्य सितम्बर 1929 में 364.9 डॉलर से घटकर जनवरी 1933 तक 62.7 डॉलर रह गया। इस बीच सार्वजनिक सेवाओं में संलग्न संस्थाओं के शेयरों का मूल्य 141.9 डॉलर से घटकर 28 डॉलर तथा रेल कम्पनियों के शेयरों का मूल्य 180 डॉलर से घटकर 28.1 डॉलर रह गया।

(3) **थोक मूल्यों और मजदूरियों में गिरावट**—1923 को आधार वर्ष मानते हुए थोक मूल्यों का सूचकांक 1929 में 95.4 से घटकर 1933 में 65.9 रह गया। मजदूरियों का सूचकांक 1929 में 100.5 से गिरकर 1933 में 40 रह गया।

(4) **औद्योगिक उत्पादन में गिरावट**—औद्योगिक उत्पादन में समग्र रूप से 50 प्रतिशत की गिरावट आई, यद्यपि भारी उद्योगों तथा टिकाऊ उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों में उत्पादन की गिरावट 80 प्रतिशत तक थी। 193l के दौरान पूंजीगत पदार्थों के मूल्यों में 35 प्रतिशत की गिरावट आई तथा सामान्य से 47 प्रतिशत कम उत्पादन हुआ।

(5) **रोजगार में गिरावट**—1923 को आधार वर्ष मानते हुए रोजगार का सूचकांक 1929 में 97.5 से गिरकर 1933 में 64.6 रह गया। अक्टूबर 1930 में बेरोजगार श्रमिकों की संख्या 46.39 लाख थी, जो जनवरी 1933 तक बढ़कर 130 लाख हो गई।

(6) **विदेशी व्यापार में गिरावट**—अमेरिकी निर्यात-व्यापार का मूल्य 1929 में 524.1 करोड़ डॉलर से घटकर 1932 में 161.1 करोड़ रह गया। इस बीच

आयात-व्यापार का मूल्य 439.9 करोड़ से घटकर 132.3 करोड़ डॉलर रह गया।

(7) **कृषि की दयनीय स्थिति**—1932 तक कृषि-पदार्थों के मूल्यों में 50 प्रतिशत की गिरावट आई। प्रति कृषक-परिवार औसत वार्षिक आय 1929 में 847 डॉलर से घटकर 1932 तक 242 डॉलर रह गई। गेहूं का उत्पादन 1929 में 80.65 करोड़ बुशल से घटकर 1932 में 72.62 करोड़ बुशल तथा कपास का उत्पादन 149 मिलियन गाँठ से घटकर 127 मिलियन गाँठ रह गया।

आर्थिक अवसाद के कारण

रॉबिन्स के अनुसार, अमेरिकी अर्थव्यवस्था में उत्पन्न महामन्दी का मुख्य कारण वास्तविक बचतों की अपेक्षा निवेश की अधिकता (जिसकी वित्त-व्यवस्था बैंक-साख की अस्थिर पूर्ति से हुई थी) थी। शुम्पीटर ने नवप्रवर्त्तनों के प्रवाह द्वारा पोषित परिवहन एवं कृषि-क्रान्तियों को आर्थिक मन्दी की उपस्थिति के लिए उत्तरदायी ठहराया है। हैन्सन के शब्दों में, महान मन्दी इस तथ्य का परिणाम थी कि अनेक वृहद् निवेश अभिवृद्धियां उस समय समाप्त हो गई, जिस समय अमेरिकी अर्थव्यवस्था की परिणति अत्यधिक बचत एवं निवेश अवसरों में सामान्य गिरावट में हो रही थी।" संक्षेप में, अमेरिकी अर्थव्यवस्था में उपस्थित तीसा की महामन्दी निम्न कारणों का परिणाम थी—

(1) **अत्यधिक आशावादिता एवं सुरक्षा की धारणा**—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अमेरिकी उद्यमी अत्यधिक आशावादी बन गए। युद्धकालीन अप्रत्याशित लाभों ने उन्हें निवेश-वृद्धि के लिए प्रेरित किया। परिणामतः न्यूयार्क शेयर बाजार में बिकने वाले शेयरों की सख्या 1927 में 18 लाख से बढ़कर 1929 में 180 लाख हो गई। अक्तूबर 1929 में 165 लाख शेयर बिकने के लिए आए थे। परिणामतः उनके मूल्यों में भारी गिरावट आई, जो आर्थिक अवसाद की शुरुआत थी।

(2) **युद्धोत्तरकालीन कृषिजन्य आय में गिरावट**—प्रथम महायुद्ध के समय कृषि-पदार्थों की माँग और उत्पादन में भारी वृद्धि हुई थी। युद्धोत्तरकाल में माँग घटने से कृषि-पदार्थों के मूल्यों में अप्रत्याशित गिरावट आई। परिणामतः किसानों की क्रयशक्ति घट गई, जो औद्योगिक माल की माँग में गिरावट का कारण बनी।

(3) **युद्धोतरकालीन समृद्धि की दोषपूर्ण प्रकृति**—निस्सन्देह प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अमेरिकी अर्थव्यवस्था ने निरन्तर समृद्धि (1911-22 की अल्पकालीन मन्दी को छोड़कर) का अनुभव किया, किन्तु यह समृद्धि अनेक अर्थों में दोषपूर्ण थी। मोटर उद्योग, मकान-निर्माण और सड़क निर्माण के कार्यों में तो भारी वृद्धि हुई; किन्तु कोयला, सूतीवस्त्र और जलयान-निर्माण उद्योग का समुचित विस्तार नहीं हो पाया। कृषि की स्थिति दयनीय बनी रही। युद्धोत्तरकालीन समृद्धि की दोषपूर्ण प्रकृति ने आर्थिक अवसाद की शक्तियों को बल प्रदान किया।

(4) **न्यून-उपभोग**—1900 से लेकर 1929 तक अमेरिका में मजदूरियों की अपेक्षा लाभों में अधिक वृद्धि हुई। परिणामत: बचत और उपभोग के बीच अन्तराल बढ़ गया। जे० एम० क्लार्क (J. M. Clark) के अनुसार, "लाभ के रूप में मिलने वाली आय का अनुपात बढ़ गया था और मजदूरी के रूप में मिलने वाली आय का अनुपात घट गया था।" आय के वितरण की विषमता ने न्यून-उपभोग या अत्युत्पादन की स्थिति को जन्म दिया, जो आर्थिक अवसाद का प्रमुख कारण थी।

(5) **आय की विषमता में वृद्धि**—1922 से लेकर 1929 तक जहाँ औद्योगिक श्रमिकों की मजदूरी में 33 प्रतिशत की वृद्धि हुई, वहीं कम्पनियों के निवल लाभ में 76 प्रतिशत की तथा हिस्सेदारों को वितरित किया जाने वाले लाभांश में 108 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जे० के० गालब्रेथ (J. K Galbraith) के अनुसार, 1929 में उच्च आय वाली 5 प्रतिशत जनसंख्या को अमेरिका की एक-तिहाई राष्ट्रीय आय प्राप्त होती थी। आय की अत्यधिक विषमता का अर्थ यह था कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था निवेश के ऊँचे स्तर या विलासतादायक उपभोग के ऊँचे स्तर या दोनों पर आधारित थी। निवेश और विलासतादायक व्यय दोनों अपरिहार्य रूप से व्यापक उच्चा वचनों के विषय होते हैं।

(6) **विदेशी व्यापार में अव्यवस्था**—प्रथम महायुद्ध के पश्चात ऋण-दाता देश बन जाने के बावजूद, अमेरिका ने आयात व्यापार पर प्रशुल्क की ऊँची दरें बनाएं रक्खीं। अमेरिका के साथ प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन वाले देशों को या तो स्वर्ण भेजकर या नया ऋण लेकर घाटा पूरा करना होता था। जब इन देशों के लिए स्वर्ण के निर्यात द्वारा घाटे की पूर्ति करनी सम्भव नहीं रही, तब उन्होंने अपने आयातों में कटौती कर दी। परिणामत: अमेरिकी निर्यात घटने लगे तथा घरेलू बाजार में वस्तुओं की अधिकता उत्पन्न हो गई।

(7) **अत्यधिक सट्टेबाजी**—प्रथम महायुद्ध तथा उससे बाद का समय अमेरिकी उद्योगों के लिये अभूतपूर्व समृद्धि का समय था। उद्योगों में बढ़ते हुए लाभ के कारण उनके शेयरों और प्रतिभूतियों में सट्टेबाजी को बढ़ावा मिला। शेयरों और प्रतिभूतियों की भारी खरीदारी के कारण इनके मूल्यों में 20 गुनी तक वृद्धि हो गई। अन्ततोगत्वा अक्तूबर 1929 में ऐसी स्थिति आ गई, जब शेयरों के विक्रेता तो सब थे, किन्तु क्रेता कोई नहीं रहा। शेयर बाजार की स्थिति अत्यधिक खराब हो जाने के कारण बहुत-से बैंक दिवालिया हो गए। 1929 और 1930 के दो वर्षों में ही अमेरिका के सात हजार से अधिक बैंक फेल हो गए।

(8) **बैंकों की दोषपूर्ण साख-नीति**—प्रथम महायुद्ध के पश्चात अमेरिकी बैंकों ने अत्यधिक साख का सृजन किया तथा सटोरियों को बड़े पैमाने पर उधार देना शुरू किया। अत: जब शेयरों और प्रतिभूतियों के मूल्यों में अप्रत्याशित गिरावट आई, तब बैंकों का बहुत सारा धन डूब किया। वे अपने ग्राहकों की माँग पूरी नहीं कर पाए तथा उन्हें अपना कारोबार बन्द कर देना पड़ा।

(9) **मशीन-जनित बेरोजगारी**—प्रथम महायुद्ध के पश्चात अमेरिकी कार-

खानों में श्रम-बचत मशीनों का प्रयोग बहुत बढ़ गया। यान्त्रिक प्रगति ने बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि की, जो कीन्स की शब्दावली में 'प्रभावपूर्ण माँग की न्यूनता' का का कारण बनी।

मन्दी-निवारण हेतु प्रयास – मा.प 1933 तक हूवर (Hoover) अमेरिका के राष्ट्रपति रहे। उनका अहस्तक्षेपवादी नीति में दृढ़ विश्वास था। मन्दी-निवारण हेतु उन्होंने कोई ठोस कार्यक्रम नहीं अपनाया। सर्वप्रथम उद्योगपतियों की बैठक बुलाकर उनसे सामान्य व्यवसाय तथा मजदूरी की प्रचलित दरें बनाए रखने का आग्रह किया गया। परन्तु जब मूल्यों में निरन्तर ह्रास तथा बेरोजगारी में निरन्तर वृद्धि की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी, तब सरकार को सार्वजनिक कार्यों पर व्यय की नीति अपनानी पडी। अनाजों तथा कपास की कीमतों को स्थिरता प्रदान करने के ध्येय से 'कृषि-विपणन अधिनियम' (जुलाई 1929 में पारित) के अन्तर्गत 'अनाज स्थिरीकरण निगम' तथा 'कपास स्थिरीकरण निगम' की स्थापना की गई। कृषि-मूल्यों के स्थिरीकरण पर सरकार ने लगभग 50 करोड़ डॉलर खर्च किए, किन्तु कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकला। फरवरी 1932 में 50 करोड़ डॉलर की प्रारम्भिक पूँजी से 'पुनर्निर्माण वित्त निगम' की स्थापना की गई, जो मंदी-निवारण हेतु हूवर प्रशासन का सबसे प्रभावी उपाय था। निगम ने पहले ही वर्ष में लगभग 30 करोड़ डॉलर के ऋण देकर बहुत-से बैंकों, बीमा कम्पनियों और रेलवे कम्पनियों को फेल होने से बचाया। सरकार ने बोनस विधेयक के अन्तर्गत जरूरतमन्द व्यक्तियों को लगभग 100 करोड़ डॉलर की सहायता भी प्रदान की, किन्तु इससे स्थिति में आवश्यक सुधार नहीं हो पाया। चूँकि हूवर प्रशासन अमेरिकी अर्थव्यवस्था का समुत्थान दूसरे देशों की अर्थव्यवस्थाओं में समुत्थान पर आधारित मानता था, इसलिए प्रशासन ने घाटे के बजट मन्दी-निवारण हेतु नहीं अपितु सार्वजनिक आय में अप्रत्याशित कमी के कारण बनाए।

मार्च 1933 में रूजवेल्ट अमेरिका के राष्ट्रपति बने। मन्दी-निवारण के उद्देश्य से रूजवेल्ट प्रशासन ने अपनी 'न्यू डील पॉलिसी' के अन्तर्गत दो प्रकार के कार्यक्रम लागू किये—(i) सहायता एवं पुनरुत्थान कार्यक्रम, (ii) सुधार एवं पुनर्निर्माण कार्यक्रम। इन कार्यक्रमों का अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर अनुकूल प्रभाव पड़ा (इसका विस्तृत विवेचन अगले प्रश्नोत्तरों में किया गया है)।

प्रश्न 2—राष्ट्रपति रूजवेल्ट की न्यू-डील नीति की प्रमुख विशेषतायें बताइये तथा 'आधिक्य' की समस्या के समाधान में इसकी प्रभावशीलता का परीक्षण कीजिये।

Give the salient features of President Roosevelt's new deal policy and examine its effectivenes in solving the problem of surplus.

उत्तर—4 मार्च 1933 को जब फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट (Franklin D. Roosevelt) ने राष्ट्रपति का कार्यभार संभाला, उस समय तक अमेरिकी अर्थव्यवस्था

की स्थिति अत्यन्त गम्भीर और पेचीदा हो चुकी थी। अमेरिका के 40 प्रतिशत उद्योग समाप्त हो गए थे, किसान विद्रोह पर उतारू थे, हजारों की संख्या में बैंक फेल हो गए थे, 25 प्रतिशत श्रमिक (लगभग 150 लाख) बेरोजगार हो चुके थे, निर्यात-व्यापार घटकर निम्नतम स्तर पर पहुँच गया था तथा साख-प्रणाली अव्यवस्थित हो गई थी। रूजवेल्ट ने पदारूढ़ होते ही देश को आर्थिक संकट से मुक्ति दिलाने के लिए कार्य आरम्भ किया। 6 मार्च 1933 को उन्होंने अपनी आपातकालीन घोषणा में बैंक-भुगतान स्थगित कर दिये, स्वर्ण-प्रवाह पर रोक लगा दी तथा स्वर्णमान समाप्त कर दिया। 6 मार्च को ही राष्ट्रपति ने संसद का विशेष अधिवेशन बुलाया, जो 16 जून तक चला। इस अधिवेशन में सामाजिक, आर्थिक एवं वित्तीय कार्यकलापों के संचालन हेतु कई अधिनियम पारित हुए। इनमें से कुछ तात्कालिक समस्याओं से सम्बन्धित थे और शेष स्थायी प्रगति से सम्बन्धित। इन्हें क्रमश: 'सहायता एवं पुनरुत्थान' तथा 'सुधार एवं पुनर्निर्माण' की संज्ञा दी गई। सामूहिक रूप से इन्हें 'न्यू डील पॉलिसी' का नाम दिया गया, जिसका प्रमुख उद्देश्य अधिक टिकाऊ समृद्धि का निर्माण करना था।

न्यू डील पॉलिसी की विशेषतायें

राष्ट्रपति रूजवेल्ट की न्यू डील पॉलिसी की प्रमुख विशेषतायें (या अंग) निम्न प्रकार थीं—

(1) **औद्योगिक नीति**—रूजवेल्ट प्रशासन ने औद्योगिक पुनरुत्थान हेतु उद्यमियों के लाभ में वृद्धि आवश्यक मानी, जो प्रशासन की राय में प्रतिस्पर्धा में कमी द्वारा ही सम्भव थी। 1933 के 'राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान अधिनियम' के अन्तर्गत सहायता, सुधार एवं पुनर्निर्माण के कार्यक्रम सम्मिलित थे 'अधिनियम का उद्देश्य उत्पादन एवं व्यापार का नियमन, मजदूरी में वृद्धि, काम के घण्टों में कमी और मूल्यों में वृद्धि था। अधिनियम के अन्तर्गत राष्ट्रपति को उद्योगों के लिए 'उचित स्पर्धा की संहिता' निर्धारित करने का अधिकार मिला, जो उद्योगपतियों को स्वेच्छा से स्वीकार करनी थी। संहिता के अन्तर्गत कार्य के अधिकतम घण्टों तथा मजदूरी की न्यूनतम दरों का निर्धारण भी सम्मिलित था, ताकि उत्पादन के परिसीमन द्वारा मूल्यों में वृद्धि सम्भव हो। राष्ट्रपति को उद्योगों और व्यापारिक प्रतिष्ठानों में लाइसेन्सिस प्रणाली के माध्यम से संहिता लागू करने का अधिकार मिला। स्वेच्छा से संहिता स्वीकार करने वाले उद्योगों को प्रन्यास-विरोधी अधिनियम से छूट दी गई। अधिनियम के अन्तर्गत श्रम-संघों तथा सामूहिक सौदेबाजी को वैध माना गया तथा उद्योगों को अनुचित विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिये राष्ट्रपति को प्रतिबन्धात्मक-शुल्क लगाने का अधिकार दिया गया। अधिनियम की व्यवस्थायें लागू करने के लिये 'राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान प्रशासन विभाग' की स्थापना की गई।

इस अधिनियम ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यवसाइयों में निराशावादिता के स्थान पर आशावादिता का संचार किया। वर्ष 1933 की समाप्ति तक मजदूरी में 25 प्रतिशत तथा रोजगार में 37 प्रतिशत की वृद्धि हुई। संहिता के अन्तर्गत 500 प्रकार के नियम बनाए गए जिन्हें 96 प्रतिशत सेवायोजकों ने स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया। इस कार्य के साप्ताहिक घण्टे 35 से 40 तक निर्धारित किए गए तथा शारीरिक श्रम करने वालों की मजदूरी प्रति घण्टा 30 से 40 सेण्ट तक निर्धारित की गई। 16 वर्ष तक की आयु के बच्चों को काम पर लगाना निषिद्ध ठहराया गया। औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि के स्पष्ट चिन्ह दृष्टिगोचर हुए। 1933 और 1935 के बीच ट्रस्ट-विरोधी नियम पूर्णतः स्थगित रहे। 1935 में सर्वोच्च न्यायालय ने राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान अधिनियम को असंवैधानिक घोषित कर दिया।

(2) कृषि-जन्य नीति—रूजवैल्ट प्रशासन की कृषि-जन्य नीति के दो प्रमुख उद्देश्य थे—(1) कृषि-वस्तुओं और विनिर्मित वस्तुओं के मूल्यों में समता स्थापित (कृषि-मूल्यों में वृद्धि द्वारा) करना। (ii) ऋणग्रस्तता और मूल्यों में अतिशय वृद्धि के विरुद्ध किसानों को सुरक्षा प्रदान करना। किसानों की क्रयशक्ति बढ़ाने के लिए 1933 में 'कृषि समायोजन अधिनियम' पारित किया गया। इसके अन्तर्गत बुवाई के क्षेत्र में कटौती, परती भूमि रखने के लिए किसानों को लाभ देने की व्यवस्था तथा कृषि-उपज के वैज्ञानिक विपणन की व्यवस्था की गई। 1933 के 'प्रक्षेत्र साख अधिनियम' के अन्तर्गत किसानों को बैंकों से ऋण दिलाने की व्यवस्था की गई। 1933 के 'आपात-कालीन प्रक्षेत्र-बन्धक अधिनियम' के अन्तर्गत किसानों को ऋणग्रस्तता से राहत दिलाने की व्यवस्था की गई। किसानों को संघीय बैंक से सस्ती ब्याज-दर पर दीर्घ-कालीन ऋण दिलाए गए। 193· के 'गृह-स्वामी ऋण अधिनियम' के अन्तर्गत उन व्यक्तियों को ऋण दिलाने की व्यवस्था की गई, जिनके मकान बन्धक थे। भूमि-संरक्षण तथा उर्वराशक्ति में वृद्धि हेतु 50 करोड़ डॉलर की सरकारी सहायता की व्यवस्था की गई। ये सभी अधिनियम **'कृषि समायोजन प्रशासन' द्वारा लागू किये जाते थे। 1936** में सर्वोच्च न्यायालय ने कृषि समायोजन अधिनियम को असंवैधानिक घोषित कर दिया। तदुपरान्त भूमि-संरक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत किसानों को आर्थिक सहायता देनी जारी रखी। 1938 में पारित 'प्रक्षेत्र अधिनियम' के अन्तर्गत पुराने कृषि समायोजन अधिनियम के सभी उद्देश्य सम्मिलित कर लिए गए। इसके अन्तर्गत सरकार द्वारा प्रतिवर्ष कपास, तम्बाकू, चावल, गेहूं और मकई की उपज-मात्रा एवं मूल्य निश्चित करने की व्यवस्था थी।

रूजवैल्ट प्रशासन की कृषिजन्य नीति के सन्तोषजनक परिणाम निकले। मार्च 1933 में कृषि-पदार्थों का औसत मूल्य युद्ध-पूर्व स्तर का 55 प्रतिशत था, जो 1933 की समाप्ति तक बढ़कर 70 प्रतिशत, 1934 में 90 प्रतिशत तथा 1935 में 104 प्रतिशत हो गया। किसानों की कुल नकद आय में 1933 से लेकर 1935 तक 59 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किसानों की ऋणग्रस्तता में पर्याप्त कमी आई।

'प्रक्षेत्र साख प्रशासन' ने 1934 से लेकर 1938 तक किसानों को 200 करोड़ डॉलर के 14 लाख ऋण प्रदान किए।

(3) **रोजगार एवं सामाजिक सुरक्षा नीति**—मार्च 1933 में अमेरिका की कुल श्रम-शक्ति 495 लाख थी। इसमें से 140 लाख व्यक्ति पूर्णतया बेरोजगार थे और रोजगार प्राप्त व्यक्तियों के पास भी लगभग आधा काम था। 31 मार्च 1933 को पारित 'बेरोजगारी राहत अधिनियम' के अन्तर्गत राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया कि वे बेरोजगार व्यक्तियों को सार्वजनिक कार्यों में लगायें तथा उन्हें आवास की सुविधा के साथ साथ वस्त्र, चिकित्सा एवं नकद सहायता भी प्रदान करें। 12 मई 1933 को पारित, "संघीय आपात राहत अधिनियम" के अन्तर्गत 'संघीय आपात राहत प्रशासन' की स्थापना की गई, जिसका कार्य बेरोजगारों की सहायता हेतु राज्य सरकारों को अनुदान देना था। 5 जून 1933 को पारित 'राष्ट्रीय रोजगार सेवा अधिनियम' के अन्तर्गत राज्य सरकारों के सहयोग से रोजगार कार्यालय स्थापित किए गए। रोजगार वृद्धि के उद्देश्य से 'राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान कार्यक्रम' आरम्भ किया गया। इसे लागू करने के लिए संघीय सार्वजनिक कार्य प्रशासन, संघीय नागरिक कार्य प्रशासन तथा सिविल कंजरवेशन कोर की स्थापना की गई। सार्वजनिक कार्य प्रशासन का नाम बदलकर बाद में 'कार्य-परियोजना प्रशासन' कर दिया गया। यह संस्था 1942 तक कार्य करती रही। इसने लगभग 80 लाख व्यक्तियों को रोजगार प्रदान किया तथा मजदूरी के रूप में एक बिलियन डॉलर से अधिक रकम वितरित की।

1935 में पारित 'सामाजिक सुरक्षा अधिनियम' के अन्तर्गत चार प्रकार की व्यवस्थाएं की गईं—(i) प्रसूति एवं बाल-कल्याण, अंधों एवं अपाहिजों के लिए पुनर्स्थापन अनुदान तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था के लिए संघ सरकार द्वारा राज्य सरकारों को प्रत्यक्ष अनुदान। (ii) सामाजिक सुरक्षा बोर्ड द्वारा स्वीकृत वृद्धावस्था बीमा योजना लागू करने के लिए राज्य सरकारों को अनुदान। इस तरह की सहाहता व्यक्ति के महाशारी वेतन का 50 प्रतिशत थी तथा इसकी अधिकतम सीमा 15 डॉलर रखी गई। (iii) संघीय वृद्धावस्था वार्षिकी योजना के अन्तर्गत पात्र व्यक्तियों के लिए अधिकतम 85 डॉलर प्रतिमाह सहायता की व्यवस्था की गई। योजना की वित्त-व्यवस्था के लिए कुछ श्रेणी के उद्योगों पर संघीय-उत्पादन शुल्क लगाया गया। (iv) राज्य सरकारों द्वारा अंशदायी बेरोजगारी बीमा योजना आरम्भ करना। योजना की वित्त-व्यवस्था के लिए उन सेवायोजकों पर संघीय टैक्स लगाया गया, जिनके मजदूरी-रजिस्टर में आठ या अधिक मजदूर हैं। रूजवेल्ट प्रशासन द्वारा आरम्भ किए गए सामाजिक सहायता एवं सामाजिक बीमा कार्यक्रमों का बहुत अच्छा परिणाम निकला। वृद्धावस्था पेन्शन योजना 1935 के अन्त तक सभी राज्यों में लागू हो गई। 1939 के अन्त तक बेकारी लाभ का भुगतान सभी राज्यों में होने लगा।

(4) **मुद्रा एवं साख-नीति**—न्यू डील पॉलिसी की सर्वाधिक प्रमुख व्यवस्था मुद्रा एवं साख से सम्बन्धित थी। मुद्रा एवं साख-नीति के तीन उद्देश्य थे—(i) स्फीति, (ii) बैंकिंग प्रणाली में सुधार, (iii) प्रतिभूतियों एवं वस्तु-बाजारों का निरीक्षण। 1933 के 'आपात बैंकिंग अधिनियम' के अन्तर्गत राष्ट्रपति को साख, मुद्रा, स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय का लेन-देन नियमित करने का अधिकार दिया गया। कोषागार सचिव को स्वर्ण एवं स्वर्ण सर्टिफिकेट अनिवार्यत: जमा करने के लिए अधिकृत किया गया। 1933 के 'प्रक्षेत्र राहत और स्फीति अधिनियम' के अन्तर्गत राष्ट्रपति को डॉलर में निहित स्वर्ण की मात्रा 50 प्रतिशत घटाने, रजत के सिक्कों की ढलाई आरम्भ कराने तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा 3 बिलियन डॉलर तक अतिरिक्त मुद्रा जारी कराने का अधिकार दिया गया। 193 के 'बैंकिंग कम्पनी अधिनियम' के अन्तर्गत व्यापारिक बैंकों और व्यावसायिक सस्थाओं को उदार ऋण-सहायता प्रदान करने के लिए केन्द्रीय बैंक और पुनर्निर्माण वित्त आयोग को अधिकृत किया गया। बैंक-निक्षेपों की सुरक्षा के लिये 'संघीय निक्षेप बीमा निगम' की स्थापना की गई। 1935 के बैंकिंग अधिनियम द्वारा बैंकिंग प्रणाली पर संघीय नियन्त्रण बढ़ाया गया। इसके अन्तर्गत संघीय निक्षेप बीमा निगम की निरीक्षण शक्ति बढ़ाई गई, संघीय रिजर्व बोर्ड का पुनर्गठन किया गया तथा खुले बाजार की क्रियाओं की कमेटी से साख-नीति तैयार करने के लिये कहा गया।

1935 के 'प्रतिभूति-विनिमय अधिनियम के अन्तर्गत सरकार को प्रतिभूति-बाजारों के नियन्त्रण का अधिकार दिया गया। 1936 के 'वस्तु-विनिमय अधिनियम' के अन्तर्गत कृषि-वस्तुओं की बिक्री को नियन्त्रित करने के लिए 'वस्तु-विनिमय निगम' की स्थापना की गई।

(5) **श्रम-नीति**—न्यू डील कार्यक्रम के अन्तर्गत सरकार की श्रम-नीति का मुख्य उद्देश्य संगठित श्रमिकों की शक्ति बढ़ाना था। राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान अधिनियम के अन्तर्गत श्रमिकों को संगठन बनाने और सामूहिक सौदेबाजी का अधिकार दिया गया। श्रमिकों के इन अधिकारों पर सेवायोजकों की ओर से कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता था। 1935 में जब सुप्रीम कोर्ट ने अधिनियम को असंवैधानिक ठहरा दिया, तब 1935 के वैगनर अधिनियम के अन्तर्गत श्रमिकों को संगठन बनाने तथा सामूहिक सौदेबाजी करने का अधिकार पुन:प्रदान किया। एक 'राष्ट्रीय श्रम-सम्बन्ध बोर्ड' की स्थापना की गई, जिसे श्रमिकों और सेवायोजकों के आपसी विवाद सुलझाने का अधिकार दिया गया।

न्यू डील पॉलिसी द्वारा आधिक्य की समस्या का समाधान—अमेरिका के आर्थिक इतिहास में न्यू डील कार्यक्रम को क्रान्तिकारी परिवर्तनों का सूचक माना जा सकता है। इसने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के मूल में निहित बुराइयों (अत्युत्पादन या न्यून उपभोग के कारण उपस्थित आर्थिक मन्दी एवं बेरोजगारी) पर प्रहार करते हुए नए आर्थिक दर्शन का सूत्रपात किया, जो मुख्यत: कीन्सवादी सिद्धान्त पर आधारित था। अति-बचत या उपभोग-व्यय की न्यूनता को आधिक्य (मन्दी) की समस्या का

मूल कारण मानते हुए, न्यू डील कार्यक्रम के अन्तर्गत सार्वजनिक कार्यों के आयोजन द्वारा जनसाधारण के हाथों में अतिरिक्त क्रयशक्ति पहुँचाने का प्रयास किया गया। सार्वजनिक कार्यों की वित्त-व्यवस्था में मुद्रा-प्रसार का आश्रय लिया गया। निवेश-व्यय को प्रोत्साहित करने के लिये सस्ती मुद्रा-नीति अपनाई गई। न्यू डील कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि-समायोजन अधिनियम ने कृषि-क्षेत्र में, राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान अधिनियम ने उद्योग-क्षेत्र में तथा वैगनर अधिनियम ने श्रम-क्षेत्र में उल्लेखनीय योग-दान देकर आर्थिक पुनरुत्थान के लिये मार्ग तैयार किया। फॉकनर (Faulkner) के शब्दों में, "राष्ट्रपति रूजवेल्ट की न्यू डील नीति आर्थिक शस्त्रों द्वारा मन्दी से लड़ने की प्रथम आर्थिक पद्धति थी तथा इस अर्थ में यह अपूर्व थी।"

कुछ विद्वानों की राय में रूजवेल्ट की न्यू डील पॉलिसी अमेरिकी अर्थव्यवस्था के मौलिक दोषों का निवारण करने में विफल रही। इसका कार्य तो भयानक रोग के लक्षणों से लड़ने तक सीमित रहा। रूजवेल्ट का प्रयास अधिक ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को रेफ्रीजरेटर में रखने के समान था। कृषि समायोजन अधिनियम, राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान अधिनियम, काम के घण्टों में कमी, मजदूरी और मूल्यों में वृद्धि, घाटे की वित्त-व्यवस्था का प्रयोग, उत्पादन में कटौती आदि ऐसे प्रयास थे, जिनसे आधार-भूत समस्या का स्थायी निदान नहीं हो पाया। फॉकनर के शब्दों में, "तीसा की महामन्दी का कभी अन्त नहीं हुआ। यह तो केवल चालीस वाले दशक की महान सैन्य तैयारी में विलीन हो गई।" इसलिये कहा जाता है कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान न्यू डील कार्यक्रम द्वारा नहीं, अपितु द्वितीय महायुद्ध द्वारा हो पाया।

प्रश्न 3—न्यू डील अबन्धवाद का पतन दर्शाता है, किन्तु पूंजीवाद की समाप्ति नहीं।" व्याख्या कीजिये। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह किन परिस्थितियों में अपनाया गया तथा इसके क्या परिणाम हुए ?

"The New Deal shows a decline of laissez faire but no break with capitalism." Discuss under what circumstances was it adopted in U. S. A. and what were its results ?

उत्तर—राष्ट्रपति रूजवेल्ट की न्यू डील पॉलिसी का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक क्रियाकलाप के क्षेत्र में राजकीय नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप बढ़ाना था, प्रचलित आर्थिक प्रणाली (पूंजीवादी अर्थव्यवस्था) में किसी तरह का मौलिक परिवर्तन करना नहीं। रूजवेल्ट ने न्यू डील नीति के उद्देश्यों को इन शब्दों में व्यक्त किया था, "हमारा पहला कार्य उन साधनों और संस्थाओं का नियन्त्रण करना है, जो हमारे पास हैं। दूसरा कार्य अतिरिक्त उत्पादन के लिये विदेशी बाजार प्राप्त करना है। उपभोग, अर्ध-उपभोग, धन एवं आय के समान वितरण की समस्यायें बाद की चीजें हैं।" न्यू डील कार्यक्रम ने उत्पत्ति के साधनों तथा लाभ के निजी स्वामित्व पर कोई प्रहार नहीं किया। इसीलिए फॉकनर (Faulkner) ने न्यू डील को अबन्धवादी नीति का पतन तो माना है, किन्तु पूंजीवादी व्यवस्था की समाप्ति या समाजवादी व्यवस्था

की शुरुआत नहीं। न्यू डील कार्यक्रम ने अमेरिका की पूंजीवादी व्यवस्था में 'नियोजन एवं केन्द्रीय नियन्त्रण' के लिए मार्ग तैयार किया, जो समाजवादी व्यवस्था में प्रचलित अधिनायकवादी प्रकृति का न होकर जनतन्त्रीय प्रकृति का था। रूजवेल्ट के शब्दों में, "जो कुछ हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह हमारी आर्थिक प्रणाली में सन्तुलन है अर्थात कृषि एवं उद्योग के बीच सन्तुलन तथा मजदूरी-अर्जकों, सेवायोजकों और उपभोक्ताओं के बीच सन्तुलन। हम यह भी चाहते हैं कि हमारे घरेलू बाजार समृद्ध एवं विस्तृत बने रहें तथा दूसरे देशों के साथ हमारा व्यापार खाते के दोनों ओर बढ़े।"

न्यू डील कार्यक्रम इस कीन्सवादी धारणा पर आधारित था कि पूंजीवादी प्रणाली में उपस्थित आर्थिक उच्चावचन बाजार शक्तियों की स्वतन्त्र क्रियाशीलता का परिणाम होते हैं। अतः स्थिर आर्थिक प्रगति के लिए कुछ-न-कुछ मात्रा में सरकारी नियन्त्रण अनिवार्य है। न्यू डील कार्यक्रम आर्थिक क्षेत्र में राजकीय हस्तक्षेप द्वारा अधिक टिकाऊ समृद्धि की प्राप्ति का प्रयास था। इसके अन्तर्गत औद्योगिक क्षेत्र को राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान अधिनियम द्वारा, कृषि क्षेत्र को कृषि समायोजन अधिनियम द्वारा तथा श्रम-क्षेत्र को वैगनर अधिनियम द्वारा नियन्त्रित किया गया। अपने उद्देश्यों की पूर्ति में यह कार्यक्रम पर्याप्त सीमा तक सफल रहा, क्योंकि यह कीन्सवादी आर्थिक दर्शन से ओत-प्रोत था। जे० के० गालब्रेथ (J K Galbraith) के शब्दों में, "न्यू डील कार्यक्रम में अनेकों दर्शन सम्मिलित थे। न्यू डील पॉलिसी के प्रथम कुछ वर्ष भानुमति का पिटारा सदृश्य थे, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के लिए छोटा-मोटा उपहार सम्मिलित था। सुदृढ़ वित्त के प्रतिपादकों के लिये इसमें बजटीय रूढ़िवादिता थी तथा मौद्रिक उत्साहियों के लिये करेन्सी एवं विनिमय का अभिसाधन (Manipulation) सम्मिलित था। शनैः शनैः आर्थिक नीति के सम्बन्ध में दो विचारधारायें प्रबल होने लगीं। इनमें से एक कीन्सवादी विचारधारा थी और दूसरी विचारधारा यह थी कि एकाधिकार तथा आर्थिक शक्ति का सन्केन्द्रण प्रमुख समस्यायें हैं।"

न्यू डील कार्यक्रम किन परिस्थितियों में अपनाया गया—मार्च 1933 में जब रूजवेल्ट प्रशासन में न्यू डील कार्यक्रम लागू किया, उस समय अमेरिकी अर्थव्यवस्था महान आर्थिक संकट से गुजर रही थी। यह संकट (मन्दी) अक्टूबर 1929 में 'वाल स्ट्रीट संकट' के साथ आरम्भ हुआ था और मार्च 1933 में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। औद्योगिक प्रतिष्ठानों, सार्वजनिक संस्थाओं, रेलवे कम्पनियों, बैंकों और बीमा कम्पनियों के शेयरों और प्रतिभूतियों के मूल्य में भारी गिरावट आई थी। 40 प्रतिशत उद्योग-धन्धे समाप्त तथा हजारों की संख्या में बैंक फेल हो गए थे। औद्योगिक उत्पादन घटकर आधा रह गया था। भारी उद्योगों तथा टिकाऊ उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों का उत्पादन तो 80 प्रतिशत तक घट गया था। 25 प्रतिशत श्रम-शक्ति (लगभग 140 लाख व्यक्ति) पूर्णतः बेरोजगार थे। रोजगार-प्राप्त व्यक्तियों को भी आंशिक कार्य मिल पाता था। थोक मूल्यों और मजदूरियों में अत्यधिक गिरावट

आई थी। थोक मूल्यों का निर्देशांक (आधार वर्ष 1923) घटकर 64 8 तथा मजदूरियों का निर्देशांक घटकर 41·6 रह गया था। स्पष्टतः मूल्यों की अपेक्षा मजदूरियों में अधिक गिरावट विद्यमान थी। अमेरिका का निर्यात-व्यापार 1929 में 524 करोड़ डॉलर से घटकर 1932 में 161 करोड़ डॉलर रह गया था, जबकि उसका आयात-व्यापार 440 करोड़ रुपये से घटकर 132 करोड़ रुपये रह गया था। दूसरे शब्दों में, अमेरिका का विदेशी व्यापार घटकर केवल 30 प्रतिशत रह गया। यद्यपि कृषि-उत्पादन के स्तर में अधिक गिरावट नहीं आई, किन्तु कृषि-पदार्थों का मूल्य घटकर 50 प्रतिशत रह गया था। फलतः किसानों की औसत वार्षिक आय 1929 में 847 डॉलर से घटकर 1932 में केवल 242 डॉलर रह गई थी। अमेरिका की बैंकिंग और साख-व्यवस्था पूर्णतः अस्त-व्यस्त हो चुकी थी।

न्यू डील कार्यक्रम के परिणाम—न्यू डील कार्यक्रम आर्थिक अस्त्रों द्वारा मन्दी के निवारण का अभूतपूर्व प्रयास था। कार्यक्रम के अन्तर्गत आर्थिक अवसाद के निवारण हेतु किए गए प्रमुख उपाय इस प्रकार थे—(i) मुद्रा-प्रसार, (ii) बैंकिंग प्रणाली में सुधार, (iii) प्रतिभूति-बाजार एवं वस्तु-बाजार का नियन्त्रण, (iv) कृषि-मूल्यों में ह्रास को रोकने के लिए कुछ भूमि को परती छोड़कर कृषि-उत्पादन में कटौती तथा इसके बदले किसानों को राजकोष से अधिक सहायता (v) घाटे के बजटों का प्रयोग, (vi) उद्योगपतियों, बैंकों और बीमा कम्पनियों को ऋण या अनुदान देकर दिवालिया होने से बचाना (vii) सार्वजनिक कार्यों के माध्यम से बेरोजगारी निवारण (viii) श्रमिकों के काम के घण्टों में कमी तथा उन्हें सामूहिक सौदेबाजी और संघवाद का अधिकार प्रदान करना। ये समस्त उपाय 'राहत एवं पुनरुत्थान' (Relief and Recovery) तथा 'सुधार एवं पुनर्निर्माण' (Reform and Reconstruction) से सम्बन्धित अधिनियमों में सम्मिलित थे, जिन्हें सामूहिक रूप से 'न्यू डील कार्यक्रम' की संज्ञा दी गई थी।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति में न्यू डील कार्यक्रम पर्याप्त अंश तक सफल रहा, उद्योग, कृषि, व्यापार, वाणिज्य तथा रोजगार की स्थिति में पर्याप्त अंश तक सफल रहा। उद्योग, कृषि, व्यापार, वाणिज्य तथा रोजगार की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। बैंकिंग प्रणाली और शेयर बाजार में स्थिरता आई। विदेशी व्यापार की मात्रा बढ़ गई। न्यू डील कार्यक्रम के फलस्वरूप 1936 तक अमेरिका की आर्थिक स्थिति में हुए सुधार का अनुमान संघीय रिजर्व बोर्ड द्वारा प्रेषित निम्न सूचनाओं से लगाया जा सकता है—

उद्योग सम्बन्धी सूचकांक (आधार वर्ष 1923)

मदें	अगस्त 1934	अगस्त 1935	अगस्त 1936
1. औद्योगिक उत्पादन	73	87	107
2. निर्माण-संविदा	27	38	65
3. कारखाना-रोजगार	79	82	84
4. कारखाना-मजदूरी	62	69	81

मूल्य-सूचकांक (आधार वर्ष 1923)

मदें	अगस्त 19·4	अगस्त 1935	अगस्त 1936
1, सामान्य मूल्य स्तर	76.4	80.5	86.6
2. कृषि-उत्पादों का मूल्य	69.8	79.3	83.6
3. खाद्यानों का मूल्य	73.9	79.9	83.1
4. विनिर्मित माल का मूल्य	78.3	77.9	79.7

न्यूडील कार्यक्रम ने अमेरिका की सामाजिक, आर्थिक प्रणाली में कई महत्व-पूर्ण एवं स्थायी परिवर्तनों का सृजन किया। **सर्वप्रथम**, इसने अमेरिका की पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में नियोजन एवं केन्द्रीय नियन्त्रण हेतु आवश्यक वातावरण का सृजन किया। **दूसरे**, इसने मन्दीग्रस्त अर्थव्यवस्था में समृद्धि की पुनः प्राप्ति के लिए उचित उपाय खोज निकाले। इसके अन्तर्गत 'कृषि समायोजन अधिनियम' ने कृषि- क्षेत्र में, राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान अधिनियम' ने उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में, 'वैगनर अधिनियम' ने श्रम-संघवाद एवं सामूहिक सौदेबाजी के क्षेत्र में, 'सामाजिक सुरक्षा अधिनियम' ने सामाजिक बीमा एवं सामाजिक सहायता के क्षेत्र में तथा 'बेरोजगारी राहत अधिनियम' ने रोजगार के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान देकर स्थिर आर्थिक समृद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त किया। **तीसरे**, कीन्सवादी सिद्धान्तों पर आधारित नए आर्थिक दर्शन का सूत्रपात किया। अत्युत्पादन या न्यून उपभोग को मन्दी का मूल कारण मानते हुए इसने सार्वजनिक कार्यों के माध्यम से जनसाधारण के हाथों में अतिरिक्त क्रयशक्ति देने का प्रयास किया। सार्वजनिक कार्यों की वित्त-व्यवस्था मुद्रा-प्रसार (हीनार्थ-प्रबन्धन) द्वारा की गई। निजी निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए सस्ती मुद्रा-नीति अपनाई गई। **चौथे**, इसने अमेरिका की मौद्रिक, बैंकिंग एवं वित्तीय व्यवस्था में अनेकों स्थायी परिवर्तनों को जन्म दिया, जिनका अमेरिका के आर्थिक विकास पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। **पाँचवें**, इसने महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तनों का सृजन किया। सामाजिक सुरक्षा की विस्तृत व्यवस्था से व्यक्तियों के आत्मविश्वास में वृद्धि हुई। अनेक प्रकार के सामाजिक कल्याण-कार्य किए जाने लगे। रूजवेल्ट के शब्दों में, "न्यू डील ने सामाजिक प्रगति के क्षेत्र का विस्तार किया।" **छठे**, इसने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के मूल में निहित बुराइयों की ओर व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित किया तथा आर्थिक स्थिरता हेतु आर्थिक क्षेत्र में राजकीय नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप को आवश्यक ठहराया।

न्यूडील कार्यक्रम का दूसरा पहलू भी है। इसे लागू करने में बहुत अधिक व्यय हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अमेरिकी सरकार पर ऋण का भार 1933 में 19.500 मिलियन डॉलर से बढ़कर 1937 में 36,000 मिलियन डॉलर हो गया।

सार्वजनिक ऋण का बड़ा आकार भविष्य में स्वयं सरकार एवं देशवासियों के लिए समस्या बन गया। न्यूडील कार्यक्रम से उत्पादन और मूल्यों में तो वृद्धि हुई, किन्तु बेरोजगारी की समस्या का पूर्णरूपेण निदान नहीं हो पाया। कृषि-वस्तुओं का मूल्य बढ़ाने के लिए कृषि-उत्पादन में कटौती को विद्वानों ने मूर्खतापूर्ण उपाय माना है। अमेरिका में कृषि का उत्पादन घटने पर विदेशों ने अपनी उपज बढ़ा ली, जिससे अमेरिकी कृषि पदार्थों की विदेशी माँग घट गई। आलोचकों ने 1938 में उत्पन्न व्यावसायिक प्रतिसार (Recession) को 'न्यू डील कार्यक्रम' की विफलता का सूचक माना है। इसके अन्तर्गत बेरोजगारों की संख्या पुन: बढ़कर 110 लाख हो गई थी। इसीलिए कहा जाता है कि 'राष्ट्रपति रूजवेल्ट अमेरिकी अर्थव्यवस्था के मौलिक दोषों को दूर करने में विफल रहे। उनका कार्य भयंकर रोग के बाहरी लक्षणों के साथ जूझने तक सीमित रहा।'

प्रश्न 4—"अमेरिकी अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान न्यू-डील द्वारा नहीं वरन् युद्ध द्वारा हुआ।" क्या आप सहमत हैं ? तर्क दीजिए।

"The American economy was re-energised not by the new deal but by the war when it came." Do you agree ? Give reasons.

उत्तर—आज का अमेरिका पिछले दो विश्व युद्धों की देन है। इनमें से कोई भी युद्ध न तो अमेरिका की मुख्य भूमि पर लड़ा गया और न किसी युद्ध में अमेरिका ने प्रत्यक्ष रूप से भाग ही लिया। अतः जहाँ दोनों महायुद्धों ने यूरोप के अधिकांश देशों की अर्थव्यवस्थाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था; वहीं अमेरिकी अर्थव्यवस्था के लिए ये वरदान सिद्ध हुए। दूसरे महायुद्ध ने अमेरिकी अर्थव्यवस्था को विशेष रूप से लाभ पहुँचाया। युद्ध-जनित परिस्थितियों के कारण अमेरिकी अर्थव्यवस्था 1936 में उत्पन्न प्रतिसार (Reclssion) की प्रवृत्ति से मुक्त होकर समृद्धि की ओर अग्रसर हुई। लेंडलीज समझौते के अन्तर्गत युद्धकाल में अमेरिका ने मित्र राष्ट्रों को **490,960 करोड़ डॉलर मूल्य के सामान और सेवाओं का** निर्यात किया था। इसमें से 60 प्रतिशत का निर्यात अकेले ग्रेट ब्रिटेन को तथा 22 प्रतिशत का निर्यात सोवियत रूस को किया गया था। युद्धकालीन उत्पादन की व्यवस्था के लिए अमेरिकी सरकार ने 'युद्ध उत्पादन बोर्ड' की स्थापना की। सरकार ने सामरिक कारखानों की स्थापना पर 1600 करोड़ डॉलर तथा अस्त्र-शस्त्रों के उत्पादन पर 18,600 करोड़ डॉलर खर्च किए।

अमेरिकी अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान 'न्यू डील' की बजाय द्वितीय महायुद्ध द्वारा हुआ—प्रथम महायुद्ध के पश्चात 1919 से लेकर 1922 तक की अल्पकालीन मन्दी को छोड़कर, अमेरिकी अर्थव्यवस्था ने सामान्य रूप से समृद्धि का अनुभव किया था। परन्तु यह समृद्धि अस्थायी सिद्ध हुई तथा अक्टूबर 1929 से अमेरिका में महान आर्थिक अवसाद एवं बेरोजगारी का युग प्रारम्भ हुआ, जो मार्च 1933 तक बना

रहा। यह महामन्दी मूलतः अत्युत्पादन परिणाम थी। अमेरिकी अर्थव्यवस्था को अवसाद से छुटकारा दिलाकर अधिक टिकाऊ समृद्धि का सृजन करने के लिये मार्च 1933 में रूजवेल्ट प्रशासन ने 'न्यू डील कार्यक्रम' लागू किया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आधिक्य की समस्या से निबटने के लिये अनेक तरीके अपनाए गए थे, जैसे—मुद्रा एवं साख का प्रसार, बैंकिंग प्रणाली में सुधार, प्रतिभूति एवं वस्तु-बाजारों पर नियन्त्रण, उत्पादन में कटौती द्वारा कृषि मूल्यों में गिरावट की रोकथाम, उत्पादकों के लिये ऋण एवं अनुदान की व्यवस्था, घाटे की वित्त-व्यवस्था का प्रयोग, काम के घण्टों में कमी तथा सार्वजनिक कार्यों के माध्यम से रोजगार के अवसरों में वृद्धि, श्रमिकों को संघवाद एवं सामूहिक सौदेबाजी का अधिकार दिलाना तथा सामाजिक सुरक्षा की व्यापक व्यवस्था का आरम्भ इन उपायों से 1936 तक अमेरिका की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। 1936 में अमेरिका के विदेशी व्यापार का सूचकांक 1929 के स्तर से केवल 7·5 पाइण्ट कम था। 1923 को आधारवर्ष मानते हुए (जो समृद्धि का वर्ष था औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक अगस्त 1934 में 73 से बढ़कर अगस्त 1936 में 107 हो गया था। इस अवधि में कारखाना-रोजगार का सूचकांक 79 से बढ़कर 84, कारखाना-मजदूरी का सूचकांक 62 से बढ़कर 81 तथा सभी वस्तुओं के मूल्य का सूचकांक 76·4 से बढ़कर 86·6 हो गया।

कुछ विद्वानों की राय में रूजवेल्ट का न्यू डील कार्यक्रम अमेरिकी अर्थव्यवस्था के मूलभूत दोषों का निवारण करने में पूर्णतया विफल रहा। इसका कार्य क्षेत्र भयानक रोग (अवसाद) के बाहरी लक्षणों से जूझने तक सीमित बना रहा। कार्यक्रम में सम्मिलित कृषि समायोजन अधिनियम, राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान अधिनियम, काम के घण्टों में कमी, मजदूरी और मूल्यों में वृद्धि ऐसे प्रयत्न थे, जो भयानक रोग की जड़ नहीं काट सके। यही कारण है कि 1937 में अमेरिकी अर्थव्यवस्था पुनः प्रतिसार की चपेट में आ गई। प्रतिसार की प्रवृत्ति के कारण 1938 में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या बढ़कर 110 लाख तक पहुँच गई। यह प्रवृत्ति न्यू डील कार्यक्रम की विफलता का सबूत थी। 1939 में आरम्भ दूसरा महायुद्ध ही अमेरिकी अर्थव्यवस्था को प्रतिसार की प्रवृत्ति से छुटकारा दिला पाया। फॉकनर (Faulkner) के शब्दों में, "तीसरे दशक की महामन्दी कभी समाप्त नहीं हुई। यह तो केवल चौथे दशक की महान सैन्य तैयारी में विलुप्त हो गई थी।"

न्यू डील कार्यक्रम के आलोचक अमेरिकी अर्थव्यवस्था के पुनरुत्थान में न्यू डील की अपेक्षा दूसरे महायुद्ध का ही श्रेय मानते हैं। इस मान्यता के समर्थन में अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर दूसरे महायुद्ध के पड़े बहुमुखी प्रभावों का तर्क देते हैं। द्वितीय महायुद्ध का अमेरिकी अर्थव्यवस्था के सभी अंगों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा था, जिसका विवेचन निम्न प्रकार है—

(1) औद्योगिक उत्पादन पर प्रभाव—युद्धकाल में अमेरिका के औद्योगिक

उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई । समग्र औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक (1935–39 = 100) बढ़कर 239, टिकाऊ उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन का सूचकांक बढ़कर 360, खनिज उत्पादन का सूचकांक बढ़कर 149 तथा कोयला एवं खनिज तेल के उत्पादन का सूचकांक बढ़कर 145 प्रतिशत हो गया। मशीनों का उत्पादन बढ़कर चार गुना तथा परिवहन के साज-सामान का सात गुना हो गया । औद्योगिक उत्पादन में हुई यह भारी वृद्धि उपलब्ध संसाधनों के अधिकतम विदोहन, अनेक शिफ्टों में काम तथा तकनीकी सुधारों का परिणाम थी। युद्ध की समाप्ति तक अमेरिकी उद्योगों की स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ हो गई । परिणामत: 1947 में अमेरिका संसार की कुल विनिर्मित वस्तुओं का 50 प्रतिशत भाग उत्पन्न करने लगा ।

(2) **कृषि पर प्रभाव**—द्वितीय महायुद्ध का अमेरिकी कृषि पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा। युद्धकाल में कृषि-पदार्थों की विदेशी माँग (मित्र-राष्ट्रों के लिये) में वृद्धि हुई, जिससे उत्पादन वृद्धि को प्रोत्साहन मिला। युद्धकाल में कृषि का उत्पादन 25 प्रतिशत बढ़ा। यह वृद्धि कृषि क्षेत्र के विस्तार द्वारा नहीं, अपितु कृषि-यन्त्रों के अधिकाधिक प्रयोग तथा सघन कृषि द्वारा सम्भव हुई। युद्ध की समाप्ति पर अमेरिकी कृषक की स्थिति बहुत अच्छी थी ।

(3) **विदेशी व्यापार पर प्रभाव**—द्वितीय महायुद्ध का अमेरिका के विदेशी व्यापार पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ा। औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि से निर्यात-व्यापार में अत्यधिक वृद्धि हुई। 1937 की अपेक्षा 1947 में अमेरिका का निर्यात-व्यापार साढ़े चार गुना अधिक तथा आयात-व्यापार दुगुना अधिक था।

(4) **रोजगार पर प्रभाव**—युद्धकाल में औद्योगिक क्षेत्र का विस्तार होने से रोजगार के अवसरों में भारी वृद्धि हुई। विनिर्माणी उद्योगों में संलग्न श्रमिकों की संख्या बढ़कर डयौढ़ी हो गई। श्रम की बढ़ी हुई माँग की अधिकांश पूर्ति रिटायर्ड व्यक्तियों, विद्यार्थियों और स्त्रियों को काम पर लगाकर की गई। युद्ध-काल में स्त्री-श्रमिकों की संख्या बढ़कर लगभग दुगुनी हो गई। सामरिक उद्योगों में श्रमिकों की भर्ती, प्रशिक्षण तथा विभिन्न कारखानों में उनके वितरण की व्यवस्था हेतु, युद्ध जन-शक्ति आयोग' की स्थापना की गई। औद्योगिक विवादों के निपटारे के लिए 'युद्ध श्रम बोर्ड' की स्थापना की गई, जिसका निर्णय मानना विवादी पक्षों के लिए अनिवार्य था। युद्धकाल में श्रम की माँग बढ़ जाने से श्रमिकों की मजदूरी तथा रहन-सहन का स्तर भी बढ़ गया। श्रम-संघों की संख्या और सदस्यता में पर्याप्त वृद्धि हुई ।

(5) **कीमत-स्तर पर प्रभाव**—युद्धकाल में मुद्रा की मात्रा तथा व्यापारिक बैंकों की जमा राशि बढ़कर दुगुनी हो गई। परन्तु राष्ट्रीय उत्पादन में इससे भी अधिक वृद्धि होने तथा सरकार द्वारा मजदूरी एवं मूल्य-नियन्त्रण की उचित व्यवस्था किये जाने से मूल्यों में अधिक वृद्धि नहीं हो सकी। 1941 और 1946 के

बीच थोक मूल्यों में 38 प्रतिशत तथा निर्वाह-लागत में केवल 33 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1941 में स्थापित 'मूल्य प्रशासन कार्यालय' ने मूल्य-नियन्त्रण एवं राशनिंग-व्यवस्था के दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह किया।

(6) कराधान पर प्रभाव—युद्धकाल में सरकार का कर-राजस्व बहुत अधिक बढ़ गया। सकल कर-राजस्व का आधा भाग आय, लाभ, पूंजी एवं उत्तराधिकार पर प्रत्यक्ष करों (जो प्रगतिशील प्रकृति के थे) से प्राप्त हुआ। शेष आधा भाग रोजगार एवं उत्पादन पर परोक्ष करों से जुटाया गया।

निष्कर्ष—रूजवेल्ट की न्यू डील पॉलिसी का उद्देश्य आर्थिक संकट (महामन्दी) का निवारण करना तथा उसकी पुनरावृत्ति रोकना था। इसीलिए न्यूडील के अन्तर्गत 'नियामक' एवं 'विकासजन्य' दोनों प्रकार की नीतियाँ सम्मिलित थीं। इन नीतियों ने अमेरिका की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तनों का सृजन किया। इनसे अमेरिकी अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगों (उद्योग, कृषि, रोजगार व्यापार और वाणिज्य) में पर्याप्त सुधार हुआ और गतिशीलता आई। न्यू डील पॉलिसी के समर्थक 1937 में उपस्थित प्रतिसार (सुस्ती) की प्रवृत्ति को न्यूडील कार्यक्रम की विफलता का सूचक नहीं मानते। उनकी राय में प्रतिसार की प्रवृत्ति मात्र इस तथ्य की प्रतीक थी कि दीर्घकाल तक पर्याप्त क्रयशक्ति का सृजन जारी नहीं रह सका। आर्थिक संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए बिना पुनरुत्थान हेतु हीनार्थ प्रबन्धक नीति की सार्थकता सीमित हो सकती है। 1939 में जब द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ा; तब अमेरिकी अर्थव्यवस्था को पुनरुत्थान हेतु विशेष बल मिला। अतः यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था के पुनरुत्थान में न्यूडील पॉलिसी का कितना हाथ था और युद्धजन्य परिस्थितियों का कितना हाथ था; क्योंकि दोनों ही एक साथ सक्रिय थीं।

13

युद्धोत्तर काल में अमेरिकी अर्थव्यवस्था

(American Economy During Post-War Period)

प्रश्न 1 – युद्धोत्तर काल में अमेरिकी अर्थव्यवस्था की स्थिति का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

Critically examine the condition of American economy during post-war period.

उत्तर—द्वितीय महायुद्ध का अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा था। इसका तत्कालिक प्रभाव यह दिखायी दिया कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था 1937 में उत्पन्न प्रतिसार की प्रवृत्ति से पूर्णतया मुक्त हो गई। युद्धकाल में अमेरिका ने मित्र राष्ट्रों को भारी मात्रा में सामरिक सामान, कृषिजन्य पदार्थों और सेनाओं का निर्यात किया था। फलत: अमेरिका में उत्पादन और रोजगार का तेजी से विस्तार हुआ; मूल्यों और मजदूरियों में वृद्धि हुई तथा कराधान के माध्यम से सार्वजनिक आय में वृद्धि हुई। प्रारम्भ में अमेरिका तटस्थ बना रहा था, किन्तु बाद में वह मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हुआ। युद्ध-वित्त की व्यवस्था के लिए सरकार ने जो तरीके (अतिरिक्त कराधान और मुद्रा-प्रसार) अपनाए, उनसे भावी पीढ़ी पर युद्ध का भार बहुत कम पड़ गया।

युद्धोत्तर काल में अमेरिकी अर्थव्यवस्था—1945 में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर अमेरिका की युद्धकालीन अर्थव्यवस्था को शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था में परिणित करने का कार्य शीघ्रता से आरम्भ हुआ। द्वितीय महायुद्ध के समय अमेरिकी अर्थव्यवस्था लगभग पूर्ण रोजगार के स्तर पर कार्य कर रही थी। युद्धोत्तरकाल में सम्भावित बेरोजगारी की समस्या के समाधान हेतु 1946 का 'रोजगार अधिनियम' पारित हुआ। अधिनियम ने संघीय सरकार की नई नीति की घोषणा इन शब्दों में व्यक्त की, "संघ सरकार की यह अनवरत नीति एवं उत्तरदायित्व है कि वह अपनी आवश्यकताओं एवं दायित्वों तथा राष्ट्रीय नीति के दूसरे आवश्यक विचारों से संगति रखने वाले समस्त व्यावहारिक साधनों का उपयोग करे तथा राज्य सरकारों एवं स्थानीय सरकारों के सहयोग से उद्योग, कृषि एवं श्रम से सम्बन्धित अपनी समस्त योजनाएँ समन्वित एवं क्रियान्वित करे।" अधिनियम ने यह स्पष्ट कर दिया कि "संघ सरकार की नीति उन परिस्थितियों को प्रोन्नत करने की है, जिनके अन्तर्गत औद्योगिक स्वतन्त्रता एवं प्रतिस्पर्धी उपक्रम की परम्पराओं वाले अमेरिकी राष्ट्र

से संगति रखने वाली पद्धतियों द्वारा रोजगार के अवसर सृजित होंगे।" इस अधिनियम का प्रभाव बहुत अच्छा पड़ा तथा रोजगार में निरन्तर वृद्धि जारी रही। महायुद्ध के दौरान यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्थाएँ नष्ट-भ्रष्ट हो गई थीं। युद्धोत्तर काल में इनके पुनर्निर्माण हेतु अमेरिकी माल की माँग बढ़ गई, जिससे अमेरिका में उत्पादन-वृद्धि को प्रोत्साहन मिला।

युद्धोत्तरकाल में अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा विकासशील देशों को सर्वाधिक आर्थिक सहायता प्रदान करने वाला देश बन गया; क्योंकि युद्धकाल में उसकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ बन गई थी। इसने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ तथा एशियाई विकास बैंक को बहुत अधिक सहायता प्रदान की। इसने यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण हेतु भी सहायता प्रदान की। जुलाई 1945 से लेकर जून 1952 तक अमेरिका ने 13600 करोड़ डॉलर की सहायता प्रदान की। ताकि युद्ध का विनाशकारी प्रभाव समाप्त हो तथा पुनः अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का सन्तुलन स्थापित किया जा सके। युद्धोत्तरकाल में अमेरिका ने विदेशों के साथ अनेक व्यापारिक समझौते किए, जिनके अन्तर्गत विदेशों को अमेरिकी बाजार में स्थान मिला।

अमेरिका की विदेशी आर्थिक सहायता के सन्दर्भ में 'मार्शल योजना' का प्रमुख स्थान है। यह योजना राज्य-सचिव जार्ज सी० मार्शल (George C Marshall) ने तैयार की तथा इसे 'सहकारी यूरोपीय पुनर्जीवन की नीति' का नाम दिया। योजना के बारे में 5 जून 194/ को स्वयं मार्शल ने कहा था, "यह तर्क संगत है कि संसार में सामान्य स्थिति लाने के लिये अमेरिका को वह सब कुछ करना चाहिए, जो भी वह कर सकता है, क्योंकि शांतिपूर्ण सामान्य स्थिति की उपस्थिति के बिना संसार में राजनीतिक स्थिरता नहीं आ सकती। हमारी नीति किसी देश या सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है, अपितु दरिद्रता, भुखमरी, विवशता (अभाव) एवं अव्यवस्था के विरुद्ध है। इसका उद्देश्य संसार में ऐसी अर्थव्यवस्थाओं का आविर्भाव करना है, जिनसे राजनीतिक एवं सामाजिक स्तर पर स्वतन्त्र संस्थायें जीवित रह सकें।" मार्शल योजना को व्यावहारिक रूप देने के लिए अप्रैल 1948 में अमेरिकी संसद ने एक अधिनियम पारित किया। इसके अन्तर्गत 'यूरोपीय पुनरुद्धार कार्यक्रम' अपनाया गया, जिसमें चार-वर्षीय योजना के आधार पर 18 यूरोपीय देशों को अमेरिकी सहायता दिए जाने का विचार निहित था। इस कार्यक्रम के संचालन का भार 'यूरोपीय सहयोग प्रशासन' को सौंपा गया। इसके अन्तर्गत यूरोपीय अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्जीवन हेतु अमेरिका ने 1263·40 करोड़ डॉलर की सहायता प्रदान की। दिसम्बर 1951 में 'यूरोपीय सहयोग प्रशासन' समाप्त कर दिया। इससे पूर्व सितम्बर 1951 में विदेशी सहायता कार्यों के संचालन हेतु 'पारस्परिक सुरक्षा एजेन्सी' की स्थापना की गई थी। आजकल इसी संस्था द्वारा विदेशी सहायता कार्यों का संचालन किया जा रहा है।

जून 1950 में कोरियाई युद्ध आरम्भ होने पर अमेरिकी अर्थव्यवस्था में स्फीतिक दबाव बढ़ने लगा। इसका किसानों, मजदूरों तथा निश्चित आय वर्ग की आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। जनवरी 1951 में सरकार ने मजदूरी एवं मूल्यों में वृद्धि को जाम (Freeze) कर देने की घोषणा की। परिणामतः 1951 के अन्त तक स्फीतिक दबावों में पर्याप्त कमी आ गई। 1950–53 के दौरान अमेरिका का औद्योगिक उत्पादन तेजी से बढ़ा। अल्युमीनियम का उत्पादन बढ़कर दुगुना हो गया। इस्पात का उत्पादन 100 मिलियन टन से बढ़कर 124 मिलिमन टन हो गया। विद्युत-शक्ति के उत्पादन में 45 प्रतिशत की तथा तेल-परिष्करण क्षमता में 6J प्रतिशत की वृद्धि हुई।

1953-54 में अमेरिकी अर्थव्यवस्था को प्रतिसार (सुस्ती) का आभास हुआ, जिसके दो मुख्य कारण थे—(1) प्रतिरक्षा-व्यय में कमी तथा (ii) कुछ वस्तुओं की फुटकर बिक्री में गिरावट। प्रतिसार की यह प्रवृत्ति अल्पकालीन न थी और 1954-55 में पुनः तेजी आरम्भ हो गई। अभिवृद्धि (तेजी) की प्रवृत्ति 1956 के मध्य तक चली तथा इसके बाद उत्पादन में पुनः गिरावट दिखाई देने लगी। अप्रैल 1958 तक प्रतिसार की प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई; क्योंकि इसके अन्तर्गत उत्पादन और रोजगार में 1948-1949 एवं 19 3-54 की प्रतिसारात्मक दशाओं की अपेक्षा अधिक गिरावट आई। 1957-58 में बेरोजगारी की दर बढ़कर 7.5 प्रतिशत हो गई; जबकि 1948-49 में यह 6.9 प्रतिशत तथा 1953-54 में केवल 5.8 प्रतिशत थी। प्रतिसार की यह प्रवृत्ति 1958 के अन्त में जाकर समाप्त हुई। 1959 से लेकर 1969 तक का समय अमेरिकी अर्थव्यवस्था के लिए 'तेजी और समृद्धि का काल' रहा। इस अवधि में राष्ट्रीय उत्पादन तेजी से बढ़ा; बेरोजगारी घटकर न्यूनतम रह गई तथा मूल्यों में स्थिरता बनी रही। 1969 के बाद से अमेरिका को आर्थिक क्षेत्र में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। ये कठिनाइयाँ अमेरिकी माल की विदेशी मांग में सापेक्षिक कमी का परिणाम हैं।

अमेरिकी अर्थव्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियां

वर्तमान समय में अमेरिका के आर्थिक विकास की प्रमुख प्रवृत्तियां निम्न प्रकार हैं—

(1) प्रचुरता की अर्थव्यवस्था—गालब्रेथ (Galbraith) के अनुसार अमेरिका की वर्तमान अर्थव्यवस्था 'प्रचुरता की अर्थव्यवस्था' है। इसमें देशवासियों के रहन-सहन को उच्च स्तर पर बनाए रखने के लिए आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं का प्रचुर मात्रा में उत्पादन होता है। अमेरिका में प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय उत्पादन तेजी से बढ़ रहा है, जिसके कारण वहाँ के निवासी अप्रत्याशित समृद्धि का अनुभव कर रहे हैं। वे अपनी आय का बड़ा भाग टिकाऊ एवं गैर-टिकाऊ उपभोक्ता-पदार्थों पर व्यय कर रहे हैं।

(2) **सामान्य बेरोजगारी में कमी**—सरकार की उत्पादन, रोजगार एवं क्रय-शक्ति को अधिकतम करने की नीति के कारण अमेरिकी अर्थव्यवस्था तेजी से आगे बढ़ रही है। सरकार उन सभी के लिए रोजगार के लाभप्रद अवसर (स्व-रोजगार सहित) जुटाने के लिए प्रयत्नशील है, जो काम करने के योग्य एवं इच्छुक हैं। परिणामत: कुल श्रमशक्ति के साथ बेरोजगारी का अनुपात घटकर केवल 3.8 प्रतिशत रह गया है, जबकि 1960 से पूर्व बेरोजगारी का अनुपात 6 प्रतिशत से अधिक था।

(3) **त्वरित तकनीकी प्रगति**—अमेरिकी अर्थव्यवस्था में तकनीकी प्रगति द्रुतगति से हो रही है। मुख्य तकनीकी परिवर्तन हैं—मानवीय निरीक्षण का यान्त्रिक क्रियाओं से प्रतिस्थापन तथा उद्योग-धन्धों में स्वत: चालित प्रक्रियाओं का प्रयोग।

(4) **विशालकाय और घाटे वाले बजट**—वर्तमान युग में जारी शीत युद्ध के कारण विशालकाय और घाटे वाले बजटों का निर्माण अमेरिकी अर्थव्यवस्था की सामान्य विशेषता बन गया है। आर्थिक समृद्धि एवं द्रुत आर्थिक विकास की प्राप्ति हेतु कर-संशोधन (Tax Revision) अमेरिकी सरकार की आर्थिक नीति का प्रमुख उपकरण बन गया है। विभिन्न करों में छूट प्रदान करना पूर्ण रोजगार आधिक्य के कारण सम्भव हुआ है। सरकार का सामाजिक-आर्थिक सेवाओं, अन्तरिक्ष शोध कार्यक्रम तथा प्रतिरक्षा सेवाओं पर व्यय बहुत बढ़ गया है।

भाग—4

सोवियत संघ का आर्थिक विकास

(Economic Development of Soviet Union)

1. सोवियत संघ के प्राकृतिक संसाधन
2. बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व सोवियत अर्थव्यवस्था
3. बोल्शेविक क्रान्ति
4. राजकीय पूँजीवाद
5. सामरिक साम्यवाद
6. नई आर्थिक नीति
7. सीजर्स संकट
8. सोवियत संघ में आर्थिक नियोजन
9. रूसी श्रमिक-संघवाद
10. रूसी सामाजिक सुरक्षा-प्रणाली

स्मरणीय वाक्य

1. "सोवियत संघ पिछड़े हुए देश का वृहद् औद्योगीकरण तथा आधुनिक तकनीकों वाले देश में अभूतपूर्व गति से रूपान्तरण का विचित्र उदाहरण प्रस्तुत करता है।"—**मॉरिस डॉब**

2. "सोवियत संघ का शेष विश्व पर आर्थिक प्रभाव अकेले शब्द 'नियोजन' में व्यक्त किया जा सकता है।"—**ई० एच० कार**

3. "बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व सोवियत रूस अपनी भौगोलिक स्थिति के सदृश्य आर्थिक विकास में भी एशिया के अल्पविकसित क्षेत्रों तथा पश्चिमी एवं मध्य यूरोप के औद्योगिक क्षेत्रों के बीच स्थित था।"—**मॉरिस डॉब**

4. "सामरिक साम्यवाद की अवधि में सोवियत सरकार के आर्थिक प्रयासों ने अपातकालीन दबाव के अन्तर्गत, उत्पादन एवं वितरण की प्रत्यक्षत: केन्द्र-निर्देशित प्रणाली से हटकर राज्य-संगठित वस्तु-विनियमय प्रणाली का रूप ले लिया।"—**बेकोव**

5. "नई आर्थिक नीति सामरिक साम्यवाद प्रत्याख्यान (Repudiation) थी। लेनिन बहुत बड़ा प्रत्याख्यात था। उसने ईश्वर, राजा और देश का प्रत्याख्यान किया। अन्त में उसने स्वयं अपना प्रत्याख्यान कर दिया।"-- **विन्स्टन चर्चिल**

6. नई आर्थिक नीति के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था में ऐसी आकस्मिक नवीनता नहीं आई, जिसका रातों-रात अनुसन्धान कर लिया गया था या जो प्राचीन शासन-व्यवस्था पर प्रत्यक्ष प्रहार की असफलता द्वारा थोप दी गयी थी।"—**मॉरिस डॉब**

7. "पाँचवीं पंचवर्षीय के योजना के दौरान सोवियत रूस में औद्योगिक विकास की दर 1899-1937 के बीच अमेरिका में औद्योगिक विकास की औसत दर से तिगुनी, 1950-55 के बीच पश्चिमी यूरोप में औद्योगिक विकास की दर से तिगुनी तथा इसी अवधि के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका में औद्योगिक विकास की दर से दुगुनी अधिक थी।"—**मॉरिस डॉब**

8. "रूसी सामाजिक सुरक्षा-प्रणाली समस्त मजदूरी-अर्जक जनसंख्या के लिए असीमित और सर्वव्यापी प्रणाली है। आर्थिक सुरक्षा की इस व्यवस्था ने श्रमिकों को न केवल रूसी नागरिकता के प्रति जागरूक बनाया है, अपितु उन्हें उत्पत्ति के समस्त साधनों पर संयुक्त स्वामित्व के प्रति चेतनशील भी बनाया है।"—**सिडनी और वेब**

1

सोवियत संघ के प्राकृतिक संसाधन

(Natural Resources of Soviet Union)

प्रश्न 1—सोवियत संघ के प्रमुख प्राकृतिक संसाधनों की व्याख्या कीजिए। उन्होंने सोवियत संघ के आर्थिक विकास में कहाँ तक सहायता की है ?

Describe the principal natural resources of Soviet Union. How far have they helped in the economic development of Soviet Union ?

उत्तर—मोरिस डॉब (Maurice Dobb) के अनुसार, "सोवियत संघ एक पिछड़े हुए देश का औद्योगीकृत एवं आधुनिक तकनीकों वाले देश में रूपान्तरण का विलक्षण उदाहरण है। यह रूपान्तरण विदेशों से बड़ी मात्रा में पूँजी का आयात किए बिना तथा अबन्ध्यवाद एवं स्वचालित पूँजीवादी उपक्रम की दशाओं (जो भूतकालीन औद्योगिक क्रान्तियों की विशेषताएँ रही हैं) की बजाय राष्ट्रीय आर्थिक नियोजन के निर्देशन एवं नियन्त्रण का परिणाम है। यह एशियाई देशों के भावी औद्योगीकरण हेतु संस्थापक उदाहरण बन सकता है।" ई० एच० कॉर (E. H. Carr) के शब्दों में, "शेष विश्व पर सोवियत संघ का आर्थिक प्रभाव अकेले शब्द 'नियोजन' द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।"

सोवियत संघ के प्राकृतिक संसाधन—1917 की बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व रूसी अर्थव्यवस्था अत्यन्त पिछड़ी हुई थी, किन्तु आजकल सोवियत रूस की गणना आर्थिक दृष्टि से संसार के महान राष्ट्रों में की जाती है। बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात् उसने कृषि, उद्योग, विज्ञान एवं तकनीक के क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति की है। विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में तो वह संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रमुख प्रतिस्पर्धी बन गया है। सोवियत संघ की भौतिक प्रगति में उसके प्राकृतिक संसाधनों, उसकी ऐतिहासिक एवं सामाजिक पृष्ठ भूमि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सोवियत संघ के प्रमुख प्राकृतिक संसाधन निम्न प्रकार हैं—

(1) **भौगोलिक स्थिति एवं क्षेत्रफल**—सोवियत रूस पूर्वी यूरोप, उत्तरी-पूर्वी एवं मध्य एशिया का एक संघ राज्य है। इसकी पश्चिमी सीमा पर नार्वे, फिनलैण्ड, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी और रूमानिया स्थित हैं। इसकी दक्षिणी सीमा पर तुर्की, ईरान, अफगानिस्तान और चीन स्थित हैं। उत्तर से दक्षिण तक इसकी लम्बाई 5,000 किलोमीटर है तथा पूर्व से पश्चिम तक इसकी चौड़ाई 10,000

किलोमीटर है। आकार की दृष्टि से यह संसार का सबसे बड़ा देश है। इसका कुल क्षेत्रफल 22·4 मिलियन वर्ग किलोमीटर है, जो संयुक्त राज्य अमेरिका के क्षेत्रफल का तिगुना तथा भारत के क्षेत्रफल का सात गुना है। सोवियत रूस की भौगोलिक स्थिति एवं आकार का इसके आर्थिक एवं राजनीतिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसका भू-क्षेत्र संसार के कुल भूक्षेत्र का छठा भाग है। यह उत्तरी प्रशान्त महासागर से फिनलैण्ड की खाड़ी के बीच यूरोप और एशिया महाद्वीपों में फैला हुआ है।

(2) **जलवायु एवं जल-साधन**—सोवियत संघ के विशाल भौगोलिक क्षेत्र में उष्ण जलवायु को छोड़कर अन्य सभी प्रकार की जलवायु पाई जाती है। फलतः यहाँ सभी प्रकार की वनस्पतियां पाई जाती हैं। वन और पहाड़ी चोटियाँ, अनेकों नदियों एवं झीलों के साथ विशाल मैदानी क्षेत्र, चरागाह एवं घास के मैदान उपलब्ध हैं। सम्पूर्ण भू-क्षेत्र का छठा भाग सदैव बर्फ से ढका रहता है। यहाँ वर्षा का वार्षिक औसत 2011 है। विशाल नदियाँ और विस्तृत समतल भू-क्षेत्र परिवहन की सुविधाओं के विकास में सहायक है। सोवियत रूस में लगभग एक लाख छोटी-बड़ी नदियाँ और हजारों झीलें हैं। 'वाल्गा' इसकी सबसे बड़ी नदी है, जो परिवहन के प्रमुख मार्ग के रूप में प्रयुक्त होती है।

(3) **खनिज संसाधन**—सोवियत रूस में औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक लगभग सभी खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। कोयला, खनिज तेल और खनिज लोहे के भण्डार की दृष्टि से रूस का संसार का प्रथम स्थान है। सम्पूर्ण विश्व में खनिज लोहे का जितना भण्डार है, उसके आधे से भी अधिक भाग अकेले सोवियत रूस में है, सर्वाधिक महत्वपूर्ण लौह-क्षेत्र यूक्रेन-स्थित क्रिबायराजा है, जहाँ रूस का 50 प्रतिशत लोहा उत्पन्न होता है। कोयले का अनुमानित भण्डार 1654 बिलियन टन है, जो आगामी हजारों वर्षों तक के लिए पर्याप्त है। 1966 में यहाँ कोयले का उत्पादन 586 मिलियन टन तथा लोहे का उत्पादन 150 मिलियन टन हुआ था, जो 1980 में बढ़कर क्रमश: 616 मिलियन टन और 244 मिलियन टन हो गया। इस्पात-निर्माण के लिए यहाँ लोहे और कोयले के साथ-साथ मैंगनीज के भी प्रचुर भण्डार हैं। ताँबा, सीसा, जस्ता, बाक्साइट, टिन, सोना-चाँदी, यूरेनियम और प्लेटिनम के भण्डार भी यहाँ प्रचुरता से उपलब्ध हैं।

(4) **शक्ति के संसाधन**—वाणिज्यिक ऊर्जा के स्रोतों के रूप में यहाँ कोयला, खनिज तेल, जलविद्युत और प्राकृतिक गैस की पर्याप्त प्रचुरता है। कोयले के प्रमुख क्षेत्र डोनेज घाटी और कुजबास हैं। 1966 में यहाँ विद्युत का उत्पादन 544 हजार मिलियन यूनिट था, जो 1980 में बढ़कर 1295 हजार मिलियन यूनिट हो गया। विद्युत शक्ति के उत्पादन में रूस का संसारभर में तीसरा स्थान है। यहाँ 28 करोड़ किलोवाट विद्युत उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान है। सोवियत रूस में खनिज तेल का विशाल भण्डार कैस्पियन सागर के 'बाकू' क्षेत्र में विद्यमान है।

1966 में यहाँ 265 मिलियन टन खनिज तेल तथा 143 हजार मिलियन घन मीटर गैस का उत्पादन हुआ था, जो 1980 में बढ़कर क्रमश: 603 मिलियन टन तथा 435 हजार मिलियन घन मीटर हो गया।

(5) **कृषिजन्य संसाधन**—कृषि-उत्पादन के लिये अनुकूल जलवायु तथा विस्तृत समतल मैदान के कारण रूस में लगभग सभी प्रमुख फसलों की खेती होती है। गेहूं, जौ, जई, फलेक्स, चुकन्दर, कपास और तिलहन यहाँ की प्रमुख फसलें हैं। सोवियत संघ के लगभग एक-तिहाई भू-क्षेत्र (61 करोड़ हैक्टेयर) में खेती होती है। इसका दो-तिहाई भू-क्षेत्र खेती के लिए अनुपयुक्त है; क्योंकि यह दलदली भूमि, मरुस्थल, घास के मैदानों तथा पहाड़ी प्रदेशों के रूप में है। इसके यूरोपीय भाग में काली मिट्टी का सर्वाधिक उपजाऊ प्रदेश स्थित है। औद्योगीकरण के साथ-साथ रूस में व्यापारिक फसलों की खेती का विस्तार हुआ है।

सोवियत संघ की कृषि में पशुपालन का महत्वपूर्ण स्थान है। घास के विस्तृत मैदानों की उपलब्धता के कारण यहाँ पशुपालन का धन्धा बड़े पैमाने पर किया जाता है। जंगलों से प्राप्त होने वाली वस्तुओं में 'फर' प्रसिद्ध है, जिसका निर्यात भी किया जाता है। रूस में 150 करोड़ एकड़ भूमि में वन पाए जाते हैं, जो संसार के कुल वन-क्षेत्र का 20 प्रतिशत भाग है। वन रूस की राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत हैं। रूस में मछलियों का उत्पादन भी बहुत अधिक है। मछलियों की अत्यधिक उपलब्धता के कारण कैस्पियन सागर को 'मछलियों का तालाब' कहा जाता है।

(6) **मानवीय संसाधन**—जनसंख्या की दृष्टि से सोवियत संघ का विश्व में तीसरा स्थान है। 1971 में रूस की जनसंख्या 24.5 करोड़ थी जो 1981 में बढ़कर 26.5 करोड़ हो गई। बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व रूस की 80 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण और शेष 20 प्रतिशत शहरी थी। आजकल रूस की 63 प्रतिशत जनसंख्या शहरी और केवल 37 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण है। शहरी जनसंख्या के अनुपात में हुई भारी वृद्धि रूस की औद्योगिक प्रगति की द्योतक है। यहाँ एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले 280 शहर हैं। इनमें से 53 शहर 5 लाख से अधिक जनसंख्या वाले तथा 20 शहर 10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले हैं। रूस में जनसंख्या-वृद्धि की वार्षिक दर एक प्रतिशत से भी कम है। जन्म-दर 19 प्रति हजार तथा मृत्यु-दर प्रति हजार है। देशवासियों की औसत जीवन-अवधि 70 वर्ष है तथा साक्षरता का स्तर शत् प्रतिशत है। जनसंख्या का औसत घनत्व 11.6 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है, जो अत्यधिक अनुकूल 'मनुष्य-भूमि अनुपात' का प्रतीक है। जनसंख्या का लिङ्ग-अनुपात स्त्रियों के पक्ष में है। प्रति एक हजार पुरुषों के पीछे 1174 स्त्रियाँ हैं। सोवियत संघ की जनसंख्या में विभिन्न भाषा-भाषी तथा संस्कृतियों के व्यक्ति सम्मिलित हैं।

सोवियत संघ की सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—बोल्शेविक क्रान्ति से

पूर्व रूसी समाज 'शासक' और 'शासित' दो वर्गों में विभक्त था। शासक वर्ग में सेनाधिकारी, धर्माधिकारी और राज्याधिकारी सम्मिलित थे, जो सभी रूसी जनता का शोषणा करते थे। सदियों से चले आ रहे शोषण के कारण रूसी जनता भाग्यवादी बन गई थी। 'राज्य का दैवी सिद्धान्त' प्रचलित था। जनसाधारण की दृष्टि में पादरी उनकी आत्मा का स्वामी तथा स्वर्ग का द्वारपाल था। अतः प्रत्येक कीमत पर उसकी कृपा प्राप्त करना अनिवार्य माना जाता था। रूसी जनता की इस धर्मभीरू और भाग्यवादी प्रकृति ने साम्यवादी आन्दोलन को सफलता प्रदान की। रूसी जनता के चरित्र-निर्माण को भौगोलिक परिस्थितियों ने भी प्रभावित किया। सदियों तक पश्चिमी प्रभाव से दूर रहने के कारण रूसियों की प्राचीन सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराएँ यथावत् बनी रही। एशिया और यूरोप महाद्वीपों के बीच स्थित सोवियत रूस में दोनों महाद्वीपों की अजीब मिश्रण विद्यमान है।

प्राचीन काल से ही रूस विभिन्न प्रजातियों का देश रहा है। ये प्रजातियाँ मुख्यतः एशिया से आई थीं। ईसा से आठवीं शताब्दी पूर्व तक 'स्काइथियन' प्रजाति का दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में आधिपत्य स्थापित हो चुका था। तदुपरान्त पाँचवीं शताब्दी के लगभग 'स्लाव' प्रजाति का महत्व बढ़ने लगा। सातवीं शताब्दी में यह प्रजाति तीन शाखाओं में विभक्त होकर रूस में फैल गई। दसवीं शताब्दी में यह प्रजाति बाइजेन्टाइन साम्राज्य के सम्पर्क में आई तथा इसने ईसाई धर्म के साथ-साथ बाइजेन्टाइन भाषा-लिपी और सभ्यता ग्रहण की। इसी काल में कीव (Kiev) राज्य का गठन हुआ, जिसे उस समय 'रूस' कहा जाता था। 11 वीं शताब्दी के अन्त में कीव राजघराना आपसी फूट के कारण अवनति की ओर अग्रसर होने लगा। 13 वीं शताब्दी के आरम्भ में 'तातार' प्रजाति ने रूस पर आक्रमण करके उसे अपने कब्जे में कर लिया। लगभग 200 वर्ष तक रूस पर मंगोलों का प्रभुत्व रहा। जब मंगोल शासक कमजोर पड़ने लगे तब मास्को के राजा 'इवान महान' ने उन्हें टैक्स देना बन्द कर दिया। 1530 में 'इवान खूँखार' ने जार (Tsar) की पदवी ग्रहण की। 1613 में माइकिल रोमनोव ने स्वयं को जार घोषित करके रोमनोव वंश के शासन की शुरूआत की। 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व तक रूस पर इसी वंश का शासन रहा। पीटर महान (1682-1735) पहला रूसी सम्राट था, जिसने रूस में औद्योगीकरण का सूत्रपात किया तथा देशवासियों की रूढ़िवादिता से निकालकर आधुनिकता की ओर अग्रसर किया।

निष्कर्ष—रूस मार्क्सवादी विचारधारा को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने वाला तथा आर्थिक नियोजन की सार्थकता सिद्ध करने वाला संसार का प्रथम देश है। रूस की बोल्शेविक क्रान्ति ने संसार के पराधीन देशों को साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाने की प्रेरणा दी। इसके नियोजित विकास ने एशिया तथा अफ्रीका के अल्पविकसित देशों के सम्मुख आदर्श उदाहरण प्रस्तुत

किया। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ कृषि के समूहीकरण द्वारा रूस ने कृषि एवं उद्योग के बीच संगठनात्मक असन्तुलन दूर करने का सफल प्रयास किया है। आज रूस संसार का अत्यन्त समृद्धशाली राष्ट्र है। इसका आर्थिक इतिहास अल्पविकसित देशों के लिये अत्यन्त शिक्षाप्रद है।

2
बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व सोवियत अर्थव्यवस्था

(Soviet Economy Before Bolshevik Revolution)

प्रश्न 1—बोल्शेविक क्रान्ति के समय रूसी अर्थव्यवस्था की स्थिति का परीक्षण कीजिये।

Examine the condition of Russian economy on the eve of Bolshevik Revolution.

उत्तर—1917 की बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व रूसी अर्थव्यवस्था लगभग निष्प्रवाहित (Stagnant) थी। मोरिस डॉब (Maurice Dobb) के अनुसार, "शताब्दी के प्रथम दशक में रूस अपनी भौगोलिक स्थिति के सदृश्य आर्थिक विकास की दृष्टि से भी एशिया के अल्पविकसित क्षेत्रों तथा पश्चिमी एवं केन्द्रीय यूरोप के औद्योगीकृत क्षेत्रों के मध्य स्थित था।" रूस में पूँजीवादी आर्थिक विकास की प्रक्रिया क्रान्ति से पूर्व आरम्भ हो गई थी तथा रूसी आर्थिक प्रणाली में कुछ परिवर्तन एवं सुधार भी हुए थे, तथापि ये परिवर्तन एवं सुधार रूसी अर्थव्यवस्था को इतना अधिक प्रभावित नहीं कर पाए कि 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति रुक पाती। क्रान्ति से पूर्व रूस में जारशाही का बोलबाला था। रूसी समाज दो स्पष्ट वर्गों में विभक्त था-(i) धनी और विलासी उच्च वर्ग, (ii) घोर दरिद्रता से घिरा कृषि-दास वर्ग। रूसी समाज में सामन्तों का बोलबाला था। सम्राटों का अस्तित्व भी सामन्तों की प्रसन्नता पर आधारित था। रूसी अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान थी, यद्यपि 18वीं शताब्दी में रूस का औद्योगिक विकास भी आरम्भ हो चुका था।

क्रान्ति से पूर्व रूसी कृषि—बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व रूस की 80 प्रतिशत जनसंख्या अपनी आजीविका के लिए कृषि पर आधारित थी। केवल एक-चौथाई भूमि पर खेती की जाती थी, जिसके कारण प्रतिव्यक्ति कृषित-क्षेत्र बहुत कम था। प्रति एकड़ खाद्यान्न की उपज 8 से लेकर 10 बुशल तक थी। यह ब्रिटेन की

औसत उपज की एक-चौथाई जर्मनी, की औसत उपज की एक-तिहाई और फ्रांस की औसत उपज की आधी थी। प्राचीन कृषि पद्धतियों का प्रयोग कृषि की निम्न उत्पादकता का प्रमुख कारण था। कृषि-भूमि का बड़ा भाग प्रतिवर्ष परती छोड़ दिया जाता था। मुख्यत: राई, गेहूं, जौ और जई की खेती की जाती थी। किसान छोटे-छोटे गाँवों में रहते थे। उनका सामुदायिक संगठन 'मीर' (Mir) कहलाता था, जिसका कृषि-व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान था। किसानों के पास पूँजी का अभाव था। अत: सघन खेती पूर्णतया असम्भव थी। कृषि-भूमि का वितरण अत्यधिक असमान था। 10 प्रतिशत किसान परिवारों (प्रत्येक के पास औसतन 55 एकड़ से अधिक भूमि) के अधिकार में 35 प्रतिशत कृषि-भूमि थी। 50 प्रतिशत किसान परिवारों (प्रत्येक के पास औसतन 22 एकड़ भूमि) के अधिकार में 20 प्रतिशत कृषि-क्षेत्र था। 16 प्रतिशत किसान परिवारों (प्रत्येक के पास 10 एकड़ से कम भूमि) के अधिकार में मात्र 4 प्रतिशत कृषि-क्षेत्र था। पशुओं और कृषि-औजारों का वितरण और भी विषम था। औसत कृषक परिवार की वार्षिक आय 150 रूबल से 180 रूबल तक थी। 20 प्रतिशत किसान ही अपनी आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न का उत्पादन कर पाते थे। करों तथा दूसरे दायित्वों के भुगतान हेतु निर्धन किसानों को अपनी फसल तैयार होते ही कम दामों पर बेचनी पड़ती थी। फसल के क्रेता गाँव के धनी किसान होते थे, जो निर्धन किसानों को बीज उधार देने का कार्य भी करते थे। धनी किसान 'कुलक' कहलाते थे। कुल एक करोड़ कृषक-परिवारों में से कुलक की संख्या 15 लाख थी यद्यपि इनके अधिकार में लगभग 50 प्रतिशत कृषि-क्षेत्र था।

रूस में कृषि-दास प्रथा 1580 से प्रचलित थी। मावर (Mavor) के अनुसार, 1762 में रूस की कुल 1 करोड़ 90 लाख जनसंख्या में से 1 लाख 48 हजार कृषि-दास थे। इनमें से 47 प्रतिशत जार के अधीन और शेष 53 प्रतिशत सामन्तों के अधीन थे। दास-प्रथा का उन्मूलन 1861 के दास-मुक्ति अधिनियम किया गया। कृषि-दासता के उन्मूलन ने सामन्तवादी प्रथा को गहरा आघात पहुंचाया तथा कृषि के विकास को प्रोत्साहन मिला। 1861 से लेकर 1913 तक रूस की जनसंख्या बढ़कर दुगुनी हो जाने से कृषि-भूमि पर जनसंख्या का दबाव बहुत बढ़ गया। सरकारी प्रोत्साहन से देश के पूर्वी भाग में किसानों की नई-नई बस्तियों का आविर्भाव हुआ। 1896-1900 को आधार वर्ष मानते हुए रूस में प्रमुख फसलों के उत्पादन का सूचकांक 1861 में 58 से बढ़कर 1915 में 134·5 हो गया। कृषि-उत्पादन में हुई 50 प्रतिशत वृद्धि कृषि-क्षेत्र के विस्तार का परिणाम थी और शेष आधी वृद्धि कृषि-पद्धतियों में सुधार का परिणाम थी।

क्रान्ति से पूर्व रूसी उद्योग—1860 से पूर्व रूसी अर्थव्यवस्था मूलत: कृषि-प्रधान और स्वावलम्बी थी। कुटीर उद्योगों के सिवाय आधुनिक किस्म के विशाल-स्तरीय उद्योगों का सर्वथा अभाव था। ग्रामीण व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति

स्थानीय उद्योग-धन्धों से कर लिया करते थे। ग्रामीण और शहरी दस्तकार विभिन्न प्रकार की कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन करते थे, जिनका थोड़ी-बहुत मात्रा में इंग्लैड, हालैण्ड, जर्मनी, पोलैण्ड, आदि देशों को निर्यात भी किया जाता था। रूस में औद्योगिक विकास की शुरूआत पीटर महान के शासनकाल (1682-1725) में हुई। उसने करों में छूट देकर, आर्थिक सहायता एवं एकाधिकार का अधिकार प्रदान करके, संरक्षणात्मक कर लगाकर तथा विदेशी विशेषज्ञों की सेवाएँ उपलब्ध कराकर धनी व्यापारियों एवं सामन्तों को औद्योगिक क्षेत्र में पूँजी लगाने के लिये प्रोत्साहित किया। रूस में औद्योगिक कच्चे-पदार्थों की प्रचुरता थी। पीटर महान ने उनकी खोज और उपयोग पर बल दिया। परिणामतः 18वीं शताब्दी के मध्य तक रूस लोहे और ताँबे का प्रमुख उत्पादक बन गया। उसके शासनकाल में ऊनी, रेशमी और सूतीवस्त्र, कागज, अस्त्र-शस्त्र, चमड़े के सामान एवं लोहे के अनेक कारखाने स्थापित हुए। रूस में औद्योगिक विकास की प्रक्रिया पीटर की मृत्यु के बाद भी जारी रही। परिणामतः छोटे-बड़े कारखानों की कुल संख्या 1770 में 190 से बढ़कर 1820 में 4578 तथा 1860 में 15,332 हो गई। कारखानों में संलग्न श्रमिकों की कुल संख्या 1770 में 60 हजार से बढ़कर 1820 में 177 हजार तथा 1860 में 565 हजार हो गई। नेपोलियन युद्ध के समय ब्रिटेन से माल का आयात बन्द हो जाने के कारण रूस में औद्योगिक विकास को विशेष बल मिला था। 1822 से लेकर 1850 तक रूसी सरकार की संरक्षणात्मक नीति ने भी औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित किया, यद्यपि इस अवधि में औद्योगिक विकास की गति रूस की अपेक्षा पश्चिमी यूरोप में अधिक तेज थी।

1861 में कृषि-दासता के उन्मूलन से कारखानों में श्रमिकों की भर्ती सुगम हो गई। सरकार ने भूमि की क्षतिपूर्ति-स्वरूप सामन्तों को जो ऋणपत्र दिये थे, उनसे औद्योगिक विकास हेतु पूँजी प्राप्त करने में बहुत सुविधा हुई। फलतः रूस का तेजी से औद्योगिक विकास होने लगा। 1890 से लेकर 1899 तक औद्योगिक उत्पादन में 8 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हुई। 1880 के बाद बड़े पैमाने के उद्योगों की विशेष प्रगति हुई। रूस की 7 फर्में मिलकर 90 प्रतिशत रेल-पटरियों का तथा छः फर्में मिलकर दो-तिहाई खनिज तेल का उत्पादन करती थीं। रूस में कोयले का उत्पादन 1860 में 183 लाख पूड़ों से बढ़कर 1913 में 22,140 लाख पूड़े, खनिज लोहे का उत्पादन 196 लाख पूड़ों से बढ़कर 2,830 लाख पूड़े तथा लोहा एवं इस्पात का उत्पादन 124 लाख पूड़ों से बढ़कर 2,470 लाख पूड़े हो गया था। पेट्रोल का उत्पादन 1870 में 18 लाख पूड़ों से बढ़कर 1913 में 6,610 लाख पूड़े हो गया था।

कुल मिलाकर, बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व रूस संसार के औद्योगीकृत देशों से बहुत पीछे था। विद्युत शक्ति के उत्पादन में उसका 16वाँ स्थान था। कोयले के उत्पादन में छठाँ, लोहे के उत्पादन में पाँचवा और तांबे के उत्पादन में सातवाँ स्थान था।

रूसी श्रमिकों की कार्यक्षमता का स्तर अत्यन्त नीचा था। उसके उद्योग मुख्यत: विदेशी पूँजी पर आधारित थे। रूसी उद्योगों में 2·2 मिलियर्ड स्वर्ण रूबल की विदेशी पूँजी विनियोजित थी। रूस में 18 बड़े-बड़े मिश्रित पूँजी बैंक थे, जिनकी 4·2 प्रतिशत पूँजी विदेशी थी। मोरिस डॉब के अनुसार, प्रथम महायुद्ध से पूर्व रूस 1000 लाख रूबल की वार्षिक दर से विदेशी पूँजी का आयात करता था। विदेशी पूँजी मुख्यत: फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट, ब्रिटेन, बेल्जियम और संयुक्त राज्य अमेरिका से गई थी।

क्रान्ति से पूर्व रूसी परिवहन—19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में रूस में रेलवे प्रणाली की तेजी से प्रगति हुई। 1903 तक देशभर में 40 हजार मील लम्बी रेलवे लाइनों का निर्माण हुआ। 1891 तथा 1904 के बीच 4 हजार मील लम्बी ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे लाइन द्वारा मास्को को प्रशान्त महासागर से जोड़ा गया। 1914 तक कुल रेल-मार्ग की लम्बाई बढ़कर 48,000 मील हो गई, तथापि उस समय रेलवे परिवहन के क्षेत्र में रूस का स्थान दूसरे यूरोपीय देशों से बहुत पीछे था। अधिकांश रेलवे-मार्ग इकहरा था, जिससे यातायात की ढुलाई में भारी असुविधा होती थी। रूस में सड़क यातायात की स्थिति और भी दयनीय थी। कुल सड़कों की लम्बाई 20 हजार मील थी, जिनमें से पक्की सड़कें केवल 3 हजार मील लम्बी थीं।

क्रान्ति से पूर्व रूस का विदेशी व्यापार—बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व रूस मुख्यत: कृषि-पदार्थों का निर्यातकर्त्ता एवं विनिर्मित वस्तुओं का आयातकर्त्ता था। उसके निर्यातों का दो-तिहाई भाग खाद्य-सामग्री का होता था। पश्चिमी यूरोप के देश जितना गेहूं विदेशों से मंगाते थे, उसका एक-तिहाई भाग तथा दूसरे अनाजों का आधे से अधिक भाग अकेले रूस से जाता था। रूसी आयातों का एक-तिहाई भाग विनिर्मित वस्तुओं का तथा आधा भाग कच्चे-पदार्थों एवं अर्ध-निर्मित वस्तुओं का होता था। अपनी आयातों के लिए रूस मुख्य रूप से जर्मनी पर आश्रित था।

क्रान्ति से पूर्व रूस की केवल 20 प्रतिशत जनसंख्या शहरी थी और 16 प्रतिशत श्रमशक्ति औद्योगिक क्षेत्र में संलग्न थी। प्रति एक हजार जनसंख्या के पीछे केवल 16 यान्त्रिक अश्व-शक्ति का प्रयोग होता था, जबकि ब्रिटेन, जर्मनी और अमेरिका में प्रति एक हजार जनसंख्या के पीछे क्रमश: 240, 130 और 250 यान्त्रिक अश्व-शक्ति का प्रयोग होता था। रूस में प्रतिव्यक्ति वार्षिक आय 102 रूबल थी। यह जर्मनी, ब्रिटेन और अमेरिका में प्रतिव्यक्ति वार्षिक आय की क्रमश: एक-तिहाई, एक चौथाई तथा सातवाँ हिस्सा थी। निसन्देह रूस में पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी, किन्तु पश्चिमी यूरोप के देशों की अपेक्षा यहाँ विकास की गति अत्यन्त धीमी थी।

---

(1) **जार शासन की निरंकुशता**—जिस तरह 1789 की फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के लिए लुई सम्राटों की स्वेच्छाचारिता एवं दमनकारी नीति उत्तरदायी थी; उसी तरह 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के लिए रूसी जार शासकों की निरंकुशता और क्रूरता उत्तरदायी बनी। एलेक्जेण्डर द्वितीय को छोड़कर, सभी जार क्रूरता और पशुता के अवतार थे। रूस का अन्तिम जार शासक निकोलस द्वितीय था। उसके शासनकाल (1894-1917) में प्रशासनिक व्यवस्था पर जारीना (Tsarina) का विशेश प्रभाव था, जो स्वयं रासपुतीन (Rasputin) नामक जादूगर के इशारे पर नाचती थी। रासपुतीन ने जनसाधारण का इतना अधिक शोषण कराया, जिसकी कल्पना जार के निकट सम्बन्धियों ने भी नहीं की थी। रासपुतीन की इच्छा के अनुसार ही निकोलस द्वितीय कोई प्रशासनिक कदम उठाता था।

(2) **सामन्तशाही व्यवस्था**—रूस में सामन्तशाही का आविर्भाव 9 वीं शताब्दी में हुआ। धीरे-धीरे सामन्तशाही प्रमुख संस्था बन गई। 18 वीं शताब्दी तक सामन्तों का प्रभुत्व प्राशसनिक व्यवस्था पर कायम हो गया। नौकरशाहों की नियुक्ति और पदोन्नति भी सामन्तों के इशारे पर होने लगी। सामन्तशाही का विरोध कर पाने में रूसी सम्राट स्वयं को कमजोर समझने लगे। उनका अस्तित्व सामन्तों की अनुकम्पा पर आधारित हो गया। सामन्तशाही के कारण कृषि और खेतीहरों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। जार शासन के अन्तर्गत नौकरशाही भी अपनी क्रूरता के लिए प्रसिद्ध थी। जनसाधारण को दोहरे शोषण (नौकरशाही और सामन्तशाही) का शिकार होना पड़ता था। सर्वसाधारण को राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक किसी भी तरह की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। किसी भी व्यक्ति को अकारण अपराधी ठहराया और दण्डित किया जा सकता था।

(3) **भू-सम्पत्ति का असमान वितरण**—बोल्शेविक क्रन्ति से पूर्व रूस में लगभग एक करोड़ कृषक-परिवार थे। इसमें से केवल 15 लाख धनी कृषक परिवार (कुलक) थे, जिनके अधिकार में 50 प्रतिशत कृषि-भूमि थी। ये निर्धन किसानों की भूमि खरीद लेते थे। 1882 में 'कृषक बैंक' की स्थापना से बड़े-बड़े किसानों को अधिक भूमि खरीदने में सहायता प्राप्त हुई। 1861 से लेकर 1913 तक रूस की जनसंख्या दुगुनी हो जाने से कृषि-भूमि पर जनसंख्या का दबाब बहुत बढ़ गया था। भू-सम्पत्ति के अत्यधिक असमान वितरण के कारण आधे से अधिक किसान अपने घरेलू उपभोग के लिए आवश्यक खाद्यान्न का उत्पादन नहीं कर पाते थे। लगान पर भूमि उठाने वाले बड़े किसानों द्वारा छोटे किसानों का शोषण किया जाता था।

(4) **भूमिहीन श्रमिकों की दयनीय स्थिति**—रूस में भूमिहीन श्रमिकों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उनका कुलीन, सामन्तों तथा शासकों द्वारा शोषण किया जाता था। यद्यपि 1861 के दास-मुक्ति अधिनियम द्वारा 'कृषक-दासता' समाप्त कर दी गई; किन्तु दासता से मुक्ति पाने की कीमत-स्वरूप खेतीहरों को

अपनी जोत की भूमि से हाथ धोना पड़ा। वे गाँव छोड़कर शहर जाने के लिए विवश हुए।

(5) **विशेषाधिकार-प्राप्त कुलीन वर्ग**—रूस के कुलीन वर्ग को विभिन्न सुविधाएँ और विशेषाधिकार प्राप्त थे। अधिकांश कृषि-भूमि पर उन्हीं का स्वामित्व था। उनकी जागीरदारी में उन्हीं के कानून प्रचलित थे। वे जनसाधारण से मनमाना टैक्स वसूलते और बेगार लेते थे। सेना और वरिष्ठ पदों पर उन्हीं की नियुक्ति होती थी। काश्तकारों और मजदूरों के साथ उनका सम्बन्ध अमानवीय था। अतः जनसाधारण में भारी असंतोष व्याप्त था। समय-समय पर उपस्थित 'किसान-विद्रोह' इसके प्रमाण थे।

(6) **सैनिक असन्तोष**—रूसी सम्राटों का स्वेच्छाचारी शासन सैनिक-तन्त्र पर आधारित था। जनता की विद्रोही भावनाएँ सेना के बल पर कुचली जाती थीं। परन्तु जार की सेना में भी घोर असन्तोष विद्यमान था; क्योंकि साधारण सैनिकों की स्थिति ठीक नहीं थी। सेना के उच्च पदों पर कुलीन परिवार के व्यक्ति नियुक्त थे और सैनिक सुविधाएँ उन्हीं को प्राप्त थीं। सैनिक असन्तोष के कारण ही क्रीमियाई और जापानी युद्धों में रूस को पराजय का मुँह देखना पड़ा।

(7) **औद्योगिक सर्वहारा वर्ग का उदय**—रूस में औद्योगिक विकास की शुरूआत पीटर के शासनकाल में हुई। 1861 में दास-प्रथा के उन्मूलन के पश्चात् बहुत से काश्तकार अपनी भूमि गवाँकर रोजगार की तलाश में शहर चले गए। वे औद्योगिक कारखानों में भर्ती होने लगे। पूँजीवादी विकास के साथ-साथ रूस में औद्योगिक सर्वहारा वर्ग की संख्या बढ़ती गई। एक साथ रहने और काम करने से श्रमिकों में एकता का बीज अंकुरित हुआ। 1885 में उन्होंने संघबद्ध होकर संघर्ष की नीति अपनाई। 1895 में लेनिन ने सेण्ट पीटर्सबर्ग में 'श्रमिकोद्धारक संघ' की स्थापना की तथा श्रम-आन्दोलन का नेतृत्व किया। आगे चलकर यही संघ सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी की स्थापना का आधार बना, जिसने बोल्शेविक क्रान्ति को जन्म दिया।

(8) **मार्क्सवादी विचारों का प्रभाव**—रूस में मार्क्सवादी विचारों के प्रसारण की शुरूआत प्लेखनाव ने की। उसे जार ने रूस से निष्कासित कर दिया था, किन्तु मार्क्स की पुस्तकों का रूसी भाषा में अनुवाद करके वह रूसियों तक समाजवादी विचार पहुंचाने का कार्य करता रहा। 1898 में 'सामाजिक-जनवादी श्रमिक पार्टी' की स्थापना के पश्चात् लेनिन ने 'इस्क्रा' पत्रिका के प्रकाशन द्वारा मार्क्सवादी विचारों का प्रचार-प्रसार किया। इससे श्रमिक आन्दोलन को बल मिला और अन्ततः उसने क्रान्तिकारी स्वरूप धारण कर लिया।

(9) **रूस-जापान युद्ध**—1904-05 में रूस और जापान के बीच युद्ध हुआ, जिसमें रूस की पराजय हुई। इस पराजय में रूस की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा तथा रूसियों के आत्म-सम्मान को गहरी ठेस पहुंची। जनसाधारण ने इसके लिए जार

शासन को दोषी ठहराते हुए उसे मिटा देने का संकल्प लिया। अनेक इतिहासकारों ने रूस-जापान युद्ध को बोल्शेविक क्रान्ति का जनक स्वीकार किया है।

(10) **बौद्धिक आन्दोलन**—रूसी विद्वानों ने अपनी रचनाओं में मानव-हृदय की वेदनाओं का सही चित्रण करके मध्यम और निम्न वर्गों पर व्यापक प्रभाव डाला। तुर्गनेव, दोस्तोविस्की और टालस्टाय के विचारों से शिक्षित वर्ग काफी प्रभावित हुआ; क्योंकि इनकी रचनाएँ रूसी समाज में व्याप्त अस्तव्यस्तता, नैतिक पतन, भ्रष्टाचार और पिछड़ेपन को उजागर करती थीं। इसी समय यूरोपीय विद्वानों की रचनाओं का रूसी भाषा में अनुवाद भी आरम्भ हुआ। परिणामतः रूस का बुद्धिजीवी वर्ग तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था को बदलने की बात सोचने लगा।

(11) **1905 की असफल क्रान्ति**—1904 में बाकू की बोल्शेविक समिति के नेतृत्व में वहाँ के श्रमिकों ने हड़ताल का आयोजन किया। यह हड़ताल 1905 में उत्पन्न विस्फोटक घटना का संकेत थी। जनवरी 1905 में सेण्ट पीटर्सबर्ग में विद्रोह की अग्नि भड़क उठी, जो शीघ्र ही दूसरे स्थानों में फैल गई। अनेक स्थानों पर सशस्त्र विद्रोह हुए तथा हड़ताली मजदूरों की सैनिकों से मुठभेड़ हुई। इसके बाद आन्दोलन गाँवों की ओर बढ़ा। अक्टूबर 1905 तक समूचे रूस में विद्रोह की चिंगारी फैल गई। इसमें 10 लाख श्रमिकों ने भाग लिया। यद्यपि सैनिक शक्ति और कूटनीतिक उपायों के आधार पर सरकार इस विद्रोह को दबाने में सफल हुई, तथापि आगे चलकर जार शासन के विरुद्ध विद्रोह का ताँता-सा बँध गया। 1917 की सफल क्रान्ति से पूर्व रूस में जारशाही के विरुद्ध लगभग 16 हजार विद्रोह हुए।

(12) **प्रथम महायुद्ध के प्रतिकूल प्रभाव**—प्रथम महायुद्ध से पूर्व रूस खनिज पदार्थों, रासायनिक पदार्थों, मशीनों तथा औजारों का आयात मुख्यतः जर्मनी से करता था। युद्धकाल में जर्मनी से आयात बन्द हो जाने के कारण रूस के औद्योगिक उत्पादन में तेजी से गिरावट आई। 1914 की अपेक्षा 1916 में कोयले का उत्पादन 1/10 तथा लोहे एवं इस्पात का उत्पादन 1/4 रह गया। तुर्कीस्तान से कपास का आयात बन्द हो जाने के कारण सूतीवस्त्र के अनेक कारखाने बन्द हो गए। अक्टूबर 1917 तक यूराल प्रदेश के आधे कारखाने बन्द हो चुके थे। यातायात-व्यवस्था पूर्णतया अस्तव्यस्त हो गई। 1916 के अन्त तक 21 प्रतिशत रेलवे इंजिन बेकार हो गए। परिवहन-व्यवस्था पर नियन्त्रण के प्रयास प्रशासनिक तन्त्र में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण विफल हो गए। युद्ध-वित्त की व्यवस्था हेतु सरकार ने मुद्रा-प्रसार का आश्रय लिया था। (1914 की अपेक्षा 1917 में कागजी मुद्रा की मात्रा बढ़कर दस गुनी हो गई)। परिणामतः मूल्यों में भारी वृद्धि हुई। युद्धकाल में सरकार ने 150 लाख नए सैनिक भर्ती किए। परिणामतः कृषि और उद्योगों में पुरुष-श्रमिकों की संख्या घटकर दो-तिहाई रह गई। परिणामतः औद्योगिक उत्पादन के साथ-साथ कृषि-उत्पादन में भी गिरावट आई। 1914 की अपेक्षा 1917 में रोटी का मूल्य तिगुना, दुग्ध-निर्मित वस्तुओं का मूल्य पाँच गुना तथा माँस का मूल्य सात गुना अधिक हो

गया। औद्योगिक वस्तुओं के मूल्य में इससे भी अधिक वृद्धि हुई; क्योंकि माँग में वृद्धि के बावजूद 1917 में औद्योगिक उत्पादन घटकर युद्ध-पूर्व उत्पादन का केवल 71 प्रतिशत रह गया था। युद्धजन्य परिस्थितियों ने जनसाधारण में सरकार के विरुद्ध विद्रोह की भावना भड़कायी।

(12) **किसानों का विद्रोह**—बोल्शेविक क्रान्ति को अनुप्रेरित करने वाले घटकों में किसानों का आन्दोलन सबसे शक्तिशाली घटक था। निर्धन किसान, जो छोटी-छोटी जोतों पर खेती करके अपने परिवार का भरण-पोषण नहीं कर पाते थे, कृषि-भूमि का समान वितरण तथा कुलक वर्ग (बड़े-बड़े भूस्वामी) का समापन चाहते थे। भूमि के बढ़ते हुए संकेन्द्ररा के कारण निर्धन किसान सर्वहारा वर्ग में परिणित हो गए थे। कुलकों के अन्याय और शोषण से तंग आकर यह वर्ग विद्रोह पर उतारू हो गया तथा कुलकों से बलपूर्वक भूमि छीनने लगा।

(13) **सुयोग्य नेतृत्व**—1895 में लेनिन ने 'श्रमिकोद्धारक संघ' की स्थापना की, जो रूस में सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के गठन का आधार बना। इस पार्टी (सामाजिक-जनवादी श्रमिक पार्टी) की स्थापना 1898 में हुई। 'इस्का' नामक पत्रिका के प्रकाशन द्वारा लेनिन ने मार्क्सवादी विचारों का प्रचार-प्रसार किया। 1903 के सम्मेलन में श्रमिकों की सामाजिक-जनवादी पार्टी दो धड़ों में बँट गई—बोल्शेविक और मेन्शेविक। बोल्शेविक पार्टी का नेतृत्व लेनिन ने किया। बोल्शेविक पार्टी ने क्रान्ति का प्रथम प्रयास 1905 में किया था, किन्तु वह असफल रहा। नवम्बर 1917 में बोल्शेविक पार्टी ने बलपूर्वक शासन-तन्त्र अपने नियन्त्रण में कर लिया। इस क्रान्ति के बाद लेनिन ने 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायक-तन्त्र' की स्थापना की।

नवम्बर 1917 की क्रान्ति की सफलता के कई कारण थे। सर्वप्रथम, क्रान्ति का नेतृत्व लेनिन सरीखे निष्ठावान एवं कर्मठ व्यक्तियों के हाथ में था। दूसरे, क्रान्ति ऐसे समय घटित हुई थी, जब जार के लिए बाहर से सहायता पाना सम्भव नहीं था, क्योंकि समूचा यूरोप महायुद्ध की अग्नि में झुलस रहा था। तीसरे, यद्यपि क्रान्ति का मुख्य भार औद्योगिक श्रमिकों पर था, तथापि उन्हें किसानों की सहानुभूति और सहयोग भी प्राप्त था। गिने-चुने कुलक और राज्यपरिवार के व्यक्ति ही क्रान्ति के विरूद्ध थे। चौथे, लगातार युद्धों तथा आर्थिक कष्टों के कारण सैनिकों में भी असन्तोष व्याप्त था। उनकी सहानुभूति बोल्शेविकों के साथ थी।

4

राजकीय पूंजीवाद

(State Capitalism)

प्रश्न 1—'राजकीय पूँजावाद' की नीति का परीक्षण कीजिये। इसका परित्याग क्यों किया गया ?

Examine the policy of State Capitalism. Why was it abandoned ?

उत्तर—नवम्बर 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद रूसी अर्थव्यवस्था में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई। पूँजीपतियों को मौत के घाट उतारकर श्रमिक औद्योगिक व्यवस्था को अपने कब्जे में करने लगे। चूँकि श्रमिकों को प्रबन्धीय अनुभव प्राप्त नहीं था, इसलिए औद्योगिक उत्पादन में गिरावट आई तथा औद्योगिक केन्द्रों में एक तरह का आतंक व्याप्त हो गया। कृषि-क्षेत्र में स्थिति और भी अधिक भयावह थी। बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व ही छोटे-छोटे किसान कुलकों को मौत के घाट उतारकर उनकी भूमि पर कब्जा करने लगे थे। ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त इस अराजकता को रोक पाने में प्रशासनिक तन्त्र पूर्णतया असफल रहा। परिणामत: कृषि-उत्पादन में भारी गिरावट आई तथा देश में खाद्य-संकट उपस्थित हो गया। चूँकि बोल्शेविक पार्टी किसानों और मजदूरों के सहयोग से सत्तारूढ़ हुई थी, इसलिए अपने समर्थकों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करना सत्तारूढ़ पार्टी के लिये सम्भव नहीं था। दूसरी ओर क्रान्ति के परिणामों को स्थायी रूप देने के लिये आर्थिक व्यवस्था में उत्पन्न विघटन की रोकथाम भी आवश्यक थी। ऐसी विरोधाभासी स्थिति में लेनिन ने पूँजीवादी व्यवस्था से समाजवादी व्यवस्था की ओर अविलम्ब संक्रमण असम्भव मानते हुए, अपनी पार्टी की राजनीतिक शक्ति सुदृढ़ बनाने के लिये, प्रतिक्रियावादी ताकतों के साथ समझौता किया तथा 'नियन्त्रित पूँजीवाद' या 'राजकीय पूँजीवाद' की नीति अपनाई। यह नीति नवम्बर 1917 से लेकर जून 1918 तक केवल 8 महीने जारी रही।

राजकीय पूँजीवाद की व्याख्या—राजकीय पूँजीवाद की नीति का उद्देश्य उद्योगों पर ऊपर और नीचे दोनों ओर से राजकीय नियन्त्रण स्थापित करते हुए अर्थव्यवस्था में विद्यमान विघटनकारी प्रवृत्ति की रोकथाम करना था। इस नीति द्वारा सरकार ने स्वयं को तात्कालिक परिस्थितियों के अनुरूप ढालने तथा नए सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने का यथासम्भव प्रयास किया। सरकार द्वारा जारी

की गई अज्ञाप्ति में किसानों और मजदूरों से अपील की गई कि वे 'भूमि, खाद्यान्न, कारखानों, औजारों, उत्पदित वस्तुओं एवं पहिवहन के साधनों की रक्षा आँख की भाँति करें तथा बहुमत की स्वीकृति तथा दैनिक जीवन के अनुभवों से शिक्षा ग्रहण करते हुए देश को शनैः शनैः समाजवाद की ओर ले जायें।

राजकीय पूँजीवाद या नियन्त्रित पूँजीवाद की नीति के अन्तर्गत सोवियत सरकार की (अ) भूमि-सम्बन्धी नीति तथा (ब) औद्योगिक नीति का समावेश था, जिनका संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है—

(अ) **भूमि-सम्बन्धी नीति**—बोल्शेविक क्रान्ति को सफल बनाने में किसानों के असन्तोष का प्रमुख हाथ था। अतः अपनी राजनीतिक सत्ता को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए बोल्शेविक सरकार ने किसानों का समर्थन प्राप्त करना अनिवार्य समझा तथा किसानों के लिए 'शान्ति और भूमि की नीति' अपनाई। क्रान्ति से अगले ही दिन सरकार ने भूमि-सम्बन्धी आज्ञाप्ति (Land Decree) जारी करके भूस्वामियों को बिना कोई मुआवजा दिए समस्त प्रकार की भूमि (राजघराने, महन्तों और गिरजाघरों की भूमि सहित) पर से उनका अधिकार समाप्त कर दिया। जब तक इस भूमि के पुनर्वितरण हेतु किसी स्पष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं हो पाए, तब तक के लिए भूस्वामियों की समस्त भूमि और कृषि-साधन (पशु, उपकरण, आदि) ग्रामीण समितियों और जिला समितियों को हस्तान्तरित कर दी गई। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाया तथा निकटवर्ती गाँवों के किसानों ने आपस में ही भूमि का वितरण कर लिया। इस छीना-झपटी में बहुत से कृषि-साधन बर्बाद हो गए। राजनीतिक एवं प्रशासनिक कारणों से सोवियत सरकार भूसम्पत्ति के अराजक वितरण के प्रति मूक दर्शक बनी रही।

19 फरवरी 1918 को सोवियत सरकार ने अपनी भूमि-सम्बन्धी नई नीति की घोषणा की। इसके अन्तर्गत समस्त प्रकार की भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया तथा किसानों के मध्य भूमि को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटने की व्यवस्था की गई। नई नीति का उद्देश्य 'कृषि का समाजीकरण' न होकर 'लघु कृषक-स्वामित्व' की स्थापना करना था। नई नीति के परिणामस्वरूप किसानों के पास कृषि-योग्य भूमि का अनुपात 70 प्रतिशत से बढ़कर 96 प्रतिशत हो गया तथा कृषि-कार्य छोटे-छोटे उत्पादकों के पूर्ण नियन्त्रण में चला गया। मार्च 1917 में स्थापित अस्थायी सरकार द्वारा लागू की गई 'खाद्यान्न के व्यापार में राजकीय एकाधिकार' की नीति जारी रक्खी गई।

(ब) **औद्योगिक नीति**—राजकीय पूँजीवाद के अन्तर्गत सोवियत सरकार की औद्योगिक नीति का सार 'उद्योगों पर ऊपर तथा नीचे से नियन्त्रण' था। नीचे से नियन्त्रण (Control from Below) लागू करने के लिए सरकार ने 14 नवम्बर 1917 को 'उद्योग पर श्रमिकों के नियन्त्रण की आज्ञप्ति' (Decree of the Workers' Control Over Industry) जारी की। इसके अन्तर्गत श्रमिकों की

समितियों को औद्योगिक प्रबन्ध पर निरीक्षण का अधिकार दिया गया, किन्तु उच्च अधिकारियों की स्वीकृति के बिना श्रमिकों द्वारा औद्योगिक संगठनों पर कब्जा किए जाने या उन्हें संचालित किए जाने पर रोक लगा दी गई। ऊपर से नियन्त्रण (Control from Above) लागू करने के लिए सरकार ने 18 दिसम्बर 1917 को जारी आज्ञप्ति में राजकीय एवं सामरिक दृष्टि से विशेष महत्व के उद्योगों, मजदूरी-नियन्त्रण की अवहेलना करने वाले उद्योगों तथा निजी उद्योगपतियों द्वारा बन्द किए जाने वाले उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने की घोषणा की गई। इस आज्ञप्ति के अनुसार सर्वप्रथम मई 1918 में चीनी उद्योग का राष्ट्रीकरण किया गया। तदुपरान्त तेल, दियासलाई, कहवा, मसाले, सूती वस्त्र एवं सामरिक उद्योगों तथा विदेशी व्यापार पर सरकार का एकाधिकार घोषित किया गया। राजकीय पूँजीवाद के काल में सरकार ने जिन थोड़े-से उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया, उसके पीछे उद्योगों को पूँजीपतियों के विनाश-प्रयत्नों (Sabotage) से बचाना था। जिन उद्योगों में विदेशी पूँजी विनियोजित थी, उनके लिए सरकार ने मिश्रित कम्पनियों के गठन की नीति अपनाई। मिश्रित पूँजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके 17 दिसम्बर 1917 को उन्हें स्टेट बैंक में विलीन कर दिया गया। निजी उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण हेतु दिसम्बर 1917 में 'सर्वोच्च आर्थिक परिषद' का गठन किया गया।

राजकीय पूँजीवाद का परित्याग—सोवियत सरकार ने नवम्बर 1917 से लेकर जून 1918 तक राजकीय पूँजीवाद की नीति का अनुसरण किया। जून 1918 में गृह-युद्ध आरम्भ होने पर सरकार को राजकीय पूँजीवाद की नीति छोड़नी पड़ी तथा सामरिक साम्यवाद की नीति अपनानी पड़ी। 28 जून 1918 को सामान्य राष्ट्रीयकरण की आज्ञप्ति जारी करते हुए सरकार ने सभी बड़े-बड़े उद्योगों का एक साथ राष्ट्रीयकरण कर डाला। जिन कारखानों में 10 लाख रूबल से अधिक की पूँजी विनियोजित थी, उन्हें सरकारी अधिकार में ले लिया गया। तदुपरान्त सोवियत रूस में राष्ट्रीकरण की धूम-सी मच गई तथा मार्च 1919 तक लगभग 4 हजार कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया गया। सोवियत सरकार द्वारा राजकीय पूँजीवाद की नीति का परित्याग निम्न कारणों से किया गया था—

(1) औद्योगिक क्षेत्र में अव्यवस्था—राजकीय पूँजीवाद के अन्तर्गत औद्योगिक नियन्त्रण हेतु द्वैध शासन (Diarchy) की व्यवस्था की गई थी। श्रमिकों की समितियों को 'औद्योगिक प्रबन्ध पर निरीक्षण' का अर्थात् उद्योगों पर नीचे से नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त था। उद्योगों पर ऊपर से नियन्त्रण रखना सर्वोच्च आर्थिक परिषद का उत्तरदायित्व था। सरकार ने सामान्य राष्ट्रीयकरण की बजाय निजी उद्योगों पर कठोर नियन्त्रण की नीति अपनायी थी। परन्तु औद्योगिक क्षेत्र में नियन्त्रित पूँजीवाद की नीति सफल नहीं हो पाई। अनेक मजदूर-समितियों ने सरकारी आज्ञा की अवहेलना करते हुए उद्योगों को अपने अधिकार में ले लिया। फलतः निजी

उद्योगपतियों के लिए काम करना लगभग असम्भव-सा हो गया। यद्यपि मजदूर समितियों या स्थानीय सोवियतों द्वारा किए जा रहे अवैधानिक राष्ट्रीयकरण की रोकथाम के लिए सरकार ने भरसक प्रयत्न किया, किन्तु उसके आदेशों की निरन्तर अवहेलना होती रही। परिणामतः जून 1918 में जहाँ केन्द्र सरकार के आदेश द्वारा राष्ट्रीयकृत फर्मों की संख्या केवल 100 थी; वहीं 400 से भी अधिक फर्में ऐसी थीं, जिनका राष्ट्रीयकरण स्थानीय संस्थाओं ने स्वेच्छाचारिता से किया था। केन्द्र सरकार द्वारा राष्ट्रीयकृत फर्मों पर भी स्थानीय समितियों ने अपना अधिकार कायम रक्खा। मौरिस डॉब (Maurice Dobb) के अनुसार, "यह क्रान्ति का प्रारम्भिक काल था, जब अधिकांश कार्य असमन्वित स्थानीय प्रेरणा से सम्पन्न होते थे। ऐसी प्रारम्भिक प्रवृत्तियाँ नई शासन पद्धति की शक्तियों का ही हिस्सा थीं, किन्तु इनका तात्कालिक प्रभाव अराजकतापूर्ण था।"

5

सामरिक साम्यवाद

(War Communism)

प्रश्न 1—'सामरिक साम्यवाद' को जन्म देने वाली परिस्थितियों की व्याख्या कीजिये। इसके क्या उद्देश्य थे और वे कहाँ तक पूरे हो पाए ?

Discuss the circumstances leading to war Communism. What were its objectives and how far were they fulfilled ?

... थीं, उनके लिए सरकार ने मिश्रित कम्पनियों के गठन की नीति अपनाई। मिश्रित पूँजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके 17 दिसम्बर 1917 को उन्हें स्टेट बैंक में विलीन कर दिया गया। निजी उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण हेतु दिसम्बर 1917 में 'सर्वोच्च आर्थिक परिषद' का गठन किया गया।

राजकीय पूँजीवाद का परित्याग—सोवियत सरकार ने नवम्बर 1917 से लेकर जून 1918 तक राजकीय पूँजीवाद की नीति का अनुसरण किया। जून 1918 में गृह-युद्ध आरम्भ होने पर सरकार को राजकीय पूँजीवाद की नीति छोड़नी पड़ी तथा सामरिक साम्यवाद की नीति अपनानी पड़ी। 28 जून 1918 को सामान्य राष्ट्रीयकरण की आज्ञप्ति जारी करते हुए सरकार ने सभी बड़े-बड़े उद्योगों का एक साथ राष्ट्रीयकरण कर डाला। जिन कारखानों में 10 लाख रूबल से अधिक की पूँजी विनियोजित थी, उन्हें सरकारी अधिकार में ले लिया गया। तदुपरान्त सोवियत रूस में राष्ट्रीकरण की धूम-सी मच गई तथा मार्च 1919 तक लगभग 4 हजार कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया गया। सोवियत सरकार द्वारा राजकीय पूँजीवाद की नीति का परित्याग निम्न कारणों से किया गया था—

(1) **औद्योगिक क्षेत्र में अव्यवस्था**—राजकीय पूँजीवाद के अन्तर्गत औद्योगिक नियन्त्रण हेतु द्वैध शासन (Diarchy) की व्यवस्था की गई थी। श्रमिकों की समितियों को 'औद्योगिक प्रबन्ध पर निरीक्षण' का अर्थात् उद्योगों पर नीचे से नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त था। उद्योगों पर ऊपर से नियन्त्रण रखना सर्वोच्च आर्थिक परिषद का उत्तरदायित्व था। सरकार ने सामान्य राष्ट्रीयकरण की बजाय निजी उद्योगों पर कठोर नियन्त्रण की नीति अपनायी थी। परन्तु औद्योगिक क्षेत्र में नियन्त्रित पूँजीवाद की नीति सफल नहीं हो पाई। अनेक मजदूर-समितियों ने सरकारी आज्ञा की अवहेलना करते हुए उद्योगों को अपने अधिकार में ले लिया। फलतः निजी

(1) **कच्चे-माल और ईंधन की कमी**—गृह-युद्ध के समय औद्योगिक कच्चे-माल का आयात बन्द हो गया। अतः कच्चे-माल की न्यूनता के कारण बहुत-से उद्योग बन्द हो गए। बाकू, ग्रोजनी और डोनवास से खनिज तेल की आपूर्ति बन्द हो जाने के कारण ईंधन की कठिनाइयाँ बढ़ गईं। 1916 और 1917 की अपेक्षा 1919 में ईंधन की आपूर्ति घटकर क्रमशः 50 प्रतिशत रह गई। खनिज लोहे का 60 प्रतिशत उत्पादन डोनेट्ज से, 19 प्रतिशत यूराल से तथा 21 प्रतिशत पौलैण्ड से प्राप्त होता था। इन क्षेत्रों पर दूसरों का कब्जा हो जाने से रूस के लौह उद्योग की स्थिति दयनीय हो गई। धमन भट्टियों की संख्या 1918 में 13 से घटकर 1919 में 9 और 1920 में केवल 5 रह गई। रौलिंग मिलों की संख्या 1918 में 14 से घटकर 1920 में केवल 7 रह गई। ढले हुए लोहे का उत्पादन 1918 में 37 लाख पूड़ों से घटकर 1920 में केवल 3 लाख पूड़े रह गया। कपास की न्यूनता के कारण सूतीवस्त्र उद्योग की स्थिति अत्यन्त शोचनीय बन गई।

(2) **उत्पादन और व्यापार में गिरावट**—गृह-युद्ध के समय कई औद्योगिक केन्द्र रूस के हाथ से निकल गए। रूस का 30 प्रतिशत निर्यात तथा 35 प्रतिशत आयात व्यापार बाल्टिक महासागर तट के बन्दरगाहों से गुजरता था। गृह-युद्ध से समय ये बन्दरगाह रूसी अधिकार-क्षेत्र से बाहर निकल गए। 1918 से लेकर 1921 तक रूस के औद्योगिक उत्पादन में 70 प्रतिशत की कृषि-उत्पादन में 37 उदारता माना गया। केन्द्रीय सावियत प्रबन्धकारणा कमटा [illegible] कैरेलिन (Karelin) ने मध्यमवर्गीय इन्जीनियरों एवं अर्थशास्त्रियों की सेवाएँ स्वीकार किए जाने को 'लेनिन का बुर्जुआ वर्ग के साथ समझौता' मानते हुए प्रबल विरोध किया।

(3) **गृह-युद्ध**—जून 1918 में रूस में गृह-युद्ध छिड़ गया। इस समय फ्रान्स और ब्रिटेन सरीखी विदेशी शक्तियों ने रूस में अपनी सेनाएँ भेजकर बोल्शेविक शासन का अन्त कर देना चाहा। रूस के पूँजीपति विदेशी समर्थन से प्रति-क्रान्ति करना चाहते थे। गृह-युद्ध के प्रारम्भ में सोवियत सरकार की स्थिति कमजोर पड़ गई थी। अतः बहुत बड़े क्षेत्र पर इसका नियन्त्रण समाप्त हो गया। मौरिस डॉब के शब्दों में, "सामग्रियों की न्यूनता उद्योगों को पंगु बनाने की धमकी दे रही थी तथा अकाल मास्को एवं पेट्रोग्राड की गलियों में टहलने लगा था।" अन्ततः किसानों और श्रमिकों के सहयोग से बोल्शेविक सरकार विदेशी आक्रमणकारियों को खदेड़ने तथा प्रति-क्रान्ति को रोकने में सफल हुई। गृह-युद्ध की उपस्थिति राजकीय पूँजीवाद के परित्याग का सबसे प्रबल कारण था।

सीमा पर पहुंच गया। नवम्बर 1917 में मुद्रा की कुल मात्रा 22·4 मिलियर्ड रूबल थी, जो 1919 के अन्त तक बढ़कर 120 मिलियर्ड रूबल हो गई। परिणामतः अक्टूबर 1917 में रूबल का जो मूल्य था, वह अक्टूबर 1920 तक घट कर एक प्रतिशत से भी कम रह गया। यह अति-स्फीति (Hyper Inflation) की स्थिति थी, जिसने आर्थिक अस्तव्यस्तता की प्रक्रिया को अधिक तीव्र बना दिया। मुद्रा-प्रसार की कठिनाइयाँ मुख्यतः किसानों को उठानी पड़ी; क्योंकि सरकार ने श्रमिकों की मजदूरी का भुगतान नकदी की बजाय वस्तुओं में चुकाना आरम्भ कर दिया था।

सामरिक साम्यवाद के उद्देश्य तथा उनकी पूर्ति—सामरिक साम्यवाद की नीति गृह-युद्ध के कारण उत्पन्न आर्थिक संकट एवं सैनिक आवश्यकताओं का परिणाम थी। सोवियत सरकार ने प्रति-क्रान्ति (Counter Reuolution) के भय से सामरिक साम्यवाद की नीति अपनाई थी, किसी सिद्धान्त की उपज के रूप में नहीं। इसका मुख्य उद्देश्य गृह-युद्ध के दौरान उपस्थित आर्थिक संकट का निवारण तथा सैनिक आवश्यकता की पूर्ति करना था। इन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु उत्पत्ति के साधनों को राष्ट्रीयकृत किया गया तथा अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर सरकारी नियन्त्रण बढ़ाया गया। जुलाई 1918 से लेकर मार्च 1919 तक लगभग 4 हजार कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया गया। कृषि-पदार्थों के अनिवार्य अधिग्रहण तथा दुर्लभ वस्तुओं के वितरण की केन्द्रीय व्यवस्था ने शहरी जनसंख्या एवं सैनिकों का अस्तित्व बचा लिया तथा युद्ध के लिए आवश्यक सामग्रियों का उत्पादन सम्भव बनाया। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सरकारी नियन्त्रण एवं प्रशासन के अनुरूप कई परिवर्तन किए गए। सरकारी विभागों के लेने-देने में वस्तु-विनिमय प्रणाली लागू की गई, जिससे साम्यवाद के लिए मार्ग तैयार करने में सहयोग मिला। सामरिक साम्यवाद के दौरान अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों (कृषि, उद्योग, व्यापार और श्रम) पर निम्न नियन्त्रण लागू किए गए—

(1) **कृषि**—मौरिस डॉब के अनुसार, "सामरिक साम्यवाद की प्रणाली का आर्थिक मूल (Economic Crux) रूसी सरकार का कृषकों के साथ सम्बन्ध था।" बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात् सरकार की भूमि-सम्बन्धी आज्ञप्ति के परिणामस्वरूप कृषि-क्षेत्र में जो सफलता प्राप्त हुई थी, वह अर्थव्यवस्था में उत्पन्न स्फीतिक दबावों के कारण समाप्त हो गई। कृषि-वस्तुओं की कीमतें तेजी से बढ़ने के कारण कृषि-उत्पादन हतोत्साहित हुआ तथा सरकार के लिये सामान्य प्रक्रियाओं द्वारा कृषि-पदार्थों की वसूली कठिन हो गई। ऐसी स्थिति में सरकार ने 'अनिवार्य अधिग्रहण' (Compulsory Requisitioning) की नीति अपनाई। मई 1918 में जारी आज्ञप्ति के अनुसार कृषक-परिवारों के उपभोग तथा बीज के लिए आवश्यक उत्पादन को छोड़कर, शेष उत्पादन का निश्चित मूल्य पर अनिवार्य रूप से अधिग्रहण किया जाने लगा। अतिरिक्त उत्पादन की वसूली तथा उसे सेना, उद्योग एवं श्रमिकों के बीच

वितरित करने के लिए 'आपूर्ति विभाग' खोला गया। इस व्यवस्था को गाँवों में लागू करते समय कुछ कठिनाइयाँ दिखाई पड़ी थीं। अतः जून 1918 में जारी आज्ञप्ति के अनुसार ग्रामीण निर्धनों की समितियाँ स्थापित की गईं। चूँकि अनिवार्य अधिग्रहण हेतु निर्धारित मूल्य प्रचलित बाजार-मूल्य से बहुत नीचा था, इसलिये अनिवार्य अधिग्रहण की नीति से कृषकों में असन्तोष उत्पन्न हुआ। उन्होंने कृषि का क्षेत्र घटा दिया, जिससे कृषि-उत्पादन में भारी गिरावट आई। इस नीति से मजदूरों और किसानों के बीच मैत्री-सम्बन्ध अर्थात् 'स्मिलका' (Smytchka) भंग होने की सम्भावना बढ़ गई, जिसपर सम्पूर्ण रूसी क्रान्ति आधारित थी। अतः सरकार ने ग्रामीण निर्धनों की समितियाँ भङ्ग कर दीं तथा मध्यवर्गी किसानों से पुनः मैत्री-सम्बन्धों की स्थापना का प्रयास आरम्भ किया। प्रारम्भिक आज्ञप्ति को संशोधित करते हुए सरकार ने कृषि-वस्तुओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया—(i) अनिवार्य रूप से वसूली जाने वाली वस्तुएँ,(ii) ऐसी वस्तुएँ, जो अनिवार्य रूप से तो वसूली नहीं जायेंगी, किन्तु जिनकी खरीदारी का अधिकार केवल सरकार को होगा, (iii) खुले बाजार में बेची जा सकने वाली वस्तुएँ। इस व्यवस्था की प्रतिक्रिया-स्वरूप किसान प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने लगे। इस प्रवृत्ति की रोकथाम के लिए सरकार को प्रथम और द्वितीय श्रेणी की वस्तुओं की संख्या बढ़ानी पड़ी। गृह-युद्ध के अन्त तक शायद ही कोई कृषि-वस्तु तीसरी श्रेणी में सम्मिलित रह गई हो। इस तरह, कृषि-क्षेत्र में 'सरकारी एकाधिकार' की स्थिति उत्पन्न हो गई थी।

(2) उद्योग—सामरिक साम्यवाद की नीति के अन्तर्गत उद्योगों का तेजी से राष्ट्रीयकरण हुआ। 28 जून 1918 को जारी 'सामान्य राष्ट्रीयकरण की आज्ञप्ति' द्वारा उन समस्त औद्योगिक प्रतिष्ठानों को सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया, जिनमें 10 लाख रूबल से अधिक की पूँजी विनियोजित थी। नवम्बर 1920 में जारी आज्ञप्ति के अन्तर्गत उन छोटे-छोटे औद्योगिक प्रतिष्ठानों का भी राष्ट्रीय-करण कर दिया गया, जिनमें यान्त्रिक शक्ति का प्रयोग होता था और 5 से अधिक श्रमिक काम करते थे अथवा जिनमें यान्त्रिक शक्ति का प्रयोग नहीं होता था और 10 से अधिक श्रमिक काम करते थे। उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण से औद्योगिक वस्तुओं का व्यापार निजी-क्षेत्र से निकलकर सरकारी क्षेत्र में आ गया। इससे औद्योगिक प्रशासन का केन्द्रीयकरण भी हो गया। प्रशासकीय नियन्त्रण के उद्देश्य से उद्योगों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया था—(i) राष्ट्रीय बाजार के लिए काम करने वाले मध्यम स्तरीय तथा अत्यधिक स्थानीयकृत उपक्रम। इनका नियन्त्रण प्रान्तीय आर्थिक परिषदों को सौंपा गया। (ii) राष्ट्रीय महत्व के विशालस्तरीय उपक्रम। इनका नियन्त्रण 'ग्लावकी' (Glavki) को सौंपा गया, जो सर्वोच्च आर्थिक परिषद का उपविभाग था। (iii) स्थानीय बाजार के लिए उत्पादन करने वाले लघुस्तरीय उपक्रम। इनका प्रशासन प्रान्तीय आर्थिक

परिषदों को सौंपा गया। कुल मिलाकर, सामरिक साम्यवाद के दौरान सोवियत सरकार की औद्योगिक नीति के तीन मुख्य अङ्ग थे—उद्योगों का तीव्र गति से राष्ट्रीयकरण, उद्योगों पर सरकारी एकाधिकार में वृद्धि तथा औद्योगिक प्रशासन का अत्यधिक केन्द्रीयकरण।

(3) **व्यापार**—राजकीय पूँजीवाद के दौरान राजकीय एवं निजी व्यापार के सहअस्तित्व का सिद्धान्त अपनाया गया था, जो ठीक ढंग से काम नहीं कर सका तथा व्यापार की मात्रा निरन्तर घटती गई। सामरिक साम्यवाद की नीति के अन्तर्गत उत्पादन एवं उपभोग की सभी वस्तुओं के लिए सरकारी एकाधिकार की स्थापना की गई। नवम्बर 1918 में जारी आज्ञप्ति के अन्तर्गत समस्त आन्तरिक निजी व्यापार निषिद्ध ठहराया गया तथा उपभोक्ता-वस्तुओं के वितरण की जिम्मेदारी 'आपूर्ति विभाग' को सौंपी गई। मार्च 1919 में सहकारी समितियों का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त करते हुए उन्हें आपूर्ति विभाग के आधीन वितरण-यन्त्र में सम्मिलित कर लिया गया। निजी व्यापार के उन्मूलन से आपूर्ति की वह व्यवस्था पूर्णतः समाप्त हो गई, जो पूँजीवादी प्रणाली की प्रभाव विशेषता थी।

विदेशी व्यापार के क्षेत्रों में दिसम्बर 1917 में जारी आज्ञप्ति के अनुसार लाइसेन्स प्रणाली आरम्भ की गई थी। आयात-निर्यात के लिए लाइसेन्स उन्हीं व्यापारिक प्रतिष्ठानों को दिए जाते थे, जो बहुत दिनों से विदेशी व्यापार में संलग्न थे। अप्रैल 1918 में जारी आज्ञाप्ति के अनुसार विदेशी व्यापार के क्षेत्र में 'सरकारी एकाधिकार' की स्थापना की गई, जो बोल्शेविक पार्टी की नीति के अनुरूप था। गृह-युद्ध के समय शक्तिशाली राष्ट्रों ने रूस के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी कर दी, जिसका रूस के विदेशी व्यापार पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

(4) **श्रम**—सामरिक साम्यवाद के दौरान सोवियत सरकार ने श्रमिकों के प्रति कठोर नीति अपनाई। दिसम्बर 1918 में जारी आज्ञप्ति के अनुसार 16 से 50 वर्ष तक की आयु वाले समस्त व्यक्तियों के लिए काम करना अनिवार्य बना दिया गया। जनवरी 1920 में जारी आज्ञप्ति द्वारा श्रमिकों की बलात् भर्ती योजना लागू की गई। उनकी आजीविका और कार्य-स्थान में परिवर्तन पर कठोर पाबन्दी लगा दी गई। कार्य से भागने वाले श्रमिकों के लिए दण्ड की व्याख्या की गई। श्रमिकों की सेनाएँ संगठित की गईं तथा उनसे कारखाना और सैनिक शिविर में से किसी एक को चुनने के लिए कहा गया। इस तरह, सामरिक साम्यवाद के अन्तर्गत उद्योग की तरह श्रम भी राष्ट्रीयकृत हो गया। मजदूरी का ढाँचा अत्यधिक स्वेच्छाचारी एवं अस्थिर बन गया, क्योंकि मजदूरी-नीति किसी निश्चित सिद्धान्त की बजाय आपातकालीन स्थिति से प्रभावित हुई। गृह-युद्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न मुद्रा-स्फीति ने श्रमिकों की स्थिति को और भी दयनीय बना दिया। बाद में चलकर जब सरकार ने वस्तुओं के रूप में मजदूरी का भुगतान शुरू किया, तब श्रमिकों की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ।

निष्कर्ष—सामरिक साम्यवाद की नीति द्वारा सोवियत सरकार ने स्वयं को देशी एवं विदेशी शत्रुओं से तो बचा लिया, किन्तु आर्थिक प्रणाली में कई तरह की अव्यवस्थाएँ उत्पन्न हो गईं। यह नीति बोल्शेविक पार्टी के मूलभूत उद्देश्य 'सभी के लिए रोटी, किसान के लिए शान्ति एवं भूमि तथा सर्वहारा वर्ग की तानाशाही' की पूर्ति करने में विफल रही। गृह-युद्ध की समाप्ति पर अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण तथा किसानों का समर्थन प्राप्त करने के लिए सामरिक साम्यवाद की नीति का परित्याग आवश्यक हो गया अतः मार्च 1921 में सोवियत सरकार ने सामरिक साम्यवाद का परित्याग करते हुए नवीन आर्थिक नीति अपनाई।

6
नई आर्थिक नीति
(New Economic Policy)

प्रश्न 1—सोवियत संघ की 'नवीन आर्थिक नीति' की प्रमुख विशेषताएँ बताइए। क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि नई आर्थिक नीति ने 'संक्रमण-कालीन मिश्रित अर्थव्यवस्था' का प्रतिनिधित्व किया ?

Bring out the main features of New Economic Policy of Soviet Union. Do you agree wtih the view that the New Economic policy represented a transitional mixed economy ?

उत्तर—सामरिक साम्यवाद की नीति द्वारा सोवियत सरकार ने अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों (कृषि, उद्योग, श्रम एवं व्यापार) पर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया था। इस नीति के कारण न केवल सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई, अपितु किसानों और मजदूरों के बीच मैत्री-सम्बन्ध (जिन पर बोल्शेविक क्रान्ति आधारित थी, भी बिगड़ गए। गृह-युद्ध की समाप्ति पर सोवियत सरकार ने सामरिक साम्मवाद की नीति का परित्याग करते हुए 'मिश्रित आर्थिक नीति' का अनुसरण किया, जिसे आर्थिक इतिहासकार 'नवीन आर्थिक नीति' की संज्ञा देते है। इसमें तीन बातों पर बल दिया गया—(i) प्रत्येक कीमत पर उत्पादन की मात्रा बढ़ाना। (ii) राजनीतिक संकट से बचाव अर्थात् किसानों और मजदूरों

के आपसी सम्बन्धों में सुधार। (iii) राष्ट्रीय स्नायु-मण्डल के प्रमुख केन्द्रों (विशालस्तरीय उद्योग, साख, मुद्रा, परिवहन और कर-प्रणाली) को हाथ में रखते हुए उनके द्वारा उत्पन्न नई पूँजीवादी शक्तियों का राज्य के अधिकतम कल्याण के लिए प्रयोग।

सोवियत सरकार की नवीन आर्थिक नीति कोई पूर्व-निश्चित या विधिपूर्वक निर्मित नीति नहीं थी, अपितु देश की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित नीति थी। बेकोव (Baykov) के शब्दों में, "नई आर्थिक नीति के प्रारम्भ में वे उपाय स्पष्ट नहीं थे, जिनके द्वारा उद्देश्यों एवं कार्यों को नई आर्थिक प्रणाली के सुनिश्चित रूप में ढाला जाना था। संक्रमणकाल में सरकारी एवं प्राइवेट आर्थिक कार्यकलापों के बीच समझौते की अपरिहार्य कीमत के रूप में 'प्रयास एवं त्रुटि' की पद्धति अंगीकार की गई थी।"

नई आर्थिक नीति की विशेषताएँ—सोवियत सरकार की नवीन आर्थिक नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार थीं—

(1) **अनिवार्य अधिग्रहण नीति का परित्याग**—सोवियत सरकार ने अनिवार्य अधिग्रहण की नीति का परित्याग कर दिया तथा उसके स्थान पर कृषि-कर लगाया जिसका भुगतान अनाज के रूप में करना पड़ता था। कृषि-कर का निर्धारण करते समय जोत के आकार के साथ-साथ कृषक-परिवार के आकार का ध्यान रक्खा जाता था। 'कर' का भुगतान करने के बाद किसान के पास जो अनाज बचता था, उसे खुले बाजार में बेचा जा सकता था। नई आर्थिक नीति के अन्तर्गत किसानों को सामुदायिक तथा पारिवारिक कृषि पद्धतियों में से किसी एक को चुनने का अधिकार दिया गया; किसानों का उनकी भूमि पर अधिकार स्वीकार किया गया तथा अनाज के व्यापार पर से सरकारी एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। सरकार की परिवर्तित कृषि-नीति के सम्बन्ध में लेनिन ने कहा था, "अनाज की अनिवार्य वसूली के स्थान पर कृषि-कर लगाने का प्रश्न मुख्यतः राजनीतिक है। इसका उद्देश्य कृषकों और श्रमिकों का आपसी सम्बन्ध सुधारना है। हम समाजवादी क्रान्ति की रक्षा तभी कर सकते हैं, जबकि हम किसानों से मिले रहें; यह आवश्यक है कि मध्यमवर्गीय किसानों को आर्थिक दृष्टि से सन्तुष्ट रक्खा जाए तथा खुले बाजार की पुनः स्थापना की जाए; अन्यथा श्रमिकों की सत्ता कायम रखना असम्भव हो जाएगा।" प्रारम्भ में कृषि-कर प्रतिगामी प्रकृति का था, किन्तु बाद में इसे प्रगतिशील बना दिया गया, जिसका भार बड़े किसानों पर अधिक पड़ता था।

(2) **औद्योगिक प्रशासन का विकेन्द्रीकरण**—सामरिक साम्यवाद की नीति के अन्तर्गत औद्योगिक प्रशासन के अत्यधिक केन्द्रीयकरण के कारण औद्योगिक क्षेत्र में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। नई आर्थिक नीति का उद्देश्य औद्योगिक प्रशासन का विकेन्द्रीकरण करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल विशालस्तरीय और प्रमुख उद्योग ही सरकारी स्वामित्व एवं नियन्त्रण में रक्खे गए। छोटे-छोटे उद्योगों का अराष्ट्रीयकरण (Denationalisation) करके उन्हें पुराने उद्यमियों को

लौटा दिया गया। पूँजी, कौशल एवं व्यावसायिक अनुभव जुटाने के उद्देश्य से विदेशियों को नए उद्यमों की स्थापना एवं संचालन हेतु आमन्त्रित किया गया। सरकारी और निजी पूँजी के सहयोग से कुछ संयुक्त उपक्रम भी स्थापित किए गए। 1924 में 88·4 प्रतिशत औद्योगिक संस्थाएँ निजी उद्यमियों, 3·1 प्रतिशत सहकारी समितियों तथा 8·5 प्रतिशत सरकारी स्वामित्व एवं नियन्त्रण के अन्तर्गत थीं। निजी क्षेत्र के उपक्रमों में केवल 12·4 प्रतिशत श्रमिक संलग्न थे; जबकि सरकारी उपक्रमों में 84·1 प्रतिशत श्रमिक संलग्न थे।

(3) **औद्योगिक प्रन्यासों की व्यवस्था**—औद्योगिक प्रशासन के विकेन्द्रीकरण हेतु औद्योगिक प्रन्यासों की व्यवस्था की गई, जो वाणिज्यिक दृष्टि से स्वायत्तशासी इकाइयाँ थे। प्रन्यासों के गठन की प्रक्रिया जुलाई 1922 में आरम्भ हुई। जून 1923 तक 478 प्रन्यास गठित हुए, जिनमें 3561 उपक्रम सम्मिलित थे। इन प्रन्यासों को सरकार ने 'संघीय', 'प्रादेशिक' और 'स्थानीय' तीन श्रेणियों में बाँटते हुए क्रमशः सर्वोच्च, प्रादेशिक एवं स्थानीय आर्थिक परिषदों के नियन्त्रण में रखा। समस्त प्रन्यासों में से 60 प्रतिशत संघीय, 15 प्रतिशत प्रादेशिक और 25 प्रतिशत स्थानीय थे। आधे से अधिक प्रन्यास लघु आकार के थे, जिनमें केवल 10 प्रतिशत औद्योगिक उपक्रम सम्मिलित थे। 41 प्रन्यास अत्यधिक लघु आकार के थे, जिनमें औसतन 5 या 6 उपक्रम सम्मिलित थे। बड़े आकार के प्रन्यास वस्त्र, धातु-शोधन, चीनी, रबड़, इन्जीनियरिंग, आदि उद्योगों में स्थापित हुए थे। अप्रैल 1923 में जारी आज्ञप्ति द्वारा इन प्रन्यासों के अधिकार और कर्त्तव्य भी निश्चित थे। सम्पत्ति के स्वामी के रूप में औद्योगिक प्रन्यासों को प्रसंविदा करने का अधिकार प्राप्त था। इन्हें सर्वोच्च आर्थिक परिषद से अधिकार-पत्र प्राप्त करना पड़ता था, जिसमें स्थिर एवं कार्यशील पूँजी का विवरण सम्मिलित होता था। प्रन्यास सक्रिय पूँजी रहन रखकर ऋण प्राप्त कर सकता था। वह ऋणपत्र जारी कर सकता था। कुल मिलाकर, औद्योगिक प्रन्यास उत्पादक क्रियाओं के सन्केन्द्रण के प्रतीक थे। जुलाई 1927 में औद्योगिक प्रन्यासों का उद्देश्य 'व्यावसायिक सिद्धान्तों के अनुरूप योजना के लक्ष्यों की पूर्ति, स्वीकार किया गया।

(4) **मौद्रिक सुधार**—नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत मौद्रिक लेन-देन पर आधारित बाजार-व्यवस्था पुनः स्थापित की गई, जिसका उद्देश्य सामरिक साम्यवाद के दौरान अव्यवस्थित वित्तीय व्यवस्था को पुनर्गठित करना तथा मुद्रा का स्थिरीकरण करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य द्वारा सहायता-प्राप्त उद्योगों की संख्या घटा दी गई, अलाभकारी उपक्रम बन्द कर दिए गए तथा स्थानीय बजटों को प्रादेशिक बजटों से अलग कर दिया गया। परन्तु इन उपायों से संघ सरकार के बजट-घाटे में कमी नहीं आई तथा उसे प्रतिवर्ष वृद्धिशील मात्रा में पत्र-मुद्रा जारी करनी पड़ी। इससे कीमत-स्तर में भारी वृद्धि हुई। सरकार

को 1921-22 में दो बार मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ा। 1924 में पुरानी मुद्रा के स्थान पर नई मुद्रा प्रचलित की गई, जिससे स्थिति में सुधार हुआ। 1923 में स्टेट बैंक का पुनर्गठन भी वित्तीय पुनर्गठन के उपायों में से एक था। स्टेट बैंक को कोषागार द्वारा 50 मिलियन रूबल प्रदान किए गए, ताकि वह औद्योगिक प्रन्यासों को कार्यशील पूँजी उधार दे सके।

(5) आन्तरिक व्यापार को पुनर्जीवन—सामरिक साम्यवाद की नीति से रूस का आन्तरिक व्यापार लगभग समाप्त हो गया था। नई आर्थिक नीति के अन्तर्गत इसे तीन उपायों से पुनर्जीवित किया गया—(i) निजी व्यापारियों (नेपमैन) के विकास द्वारा, (ii) सहकारी समितियों को सहायता देकर तथा (iii) सिण्डीकेटों के निर्माण द्वारा। फुटकर व्यापार के क्षेत्र में 'नेपमैन (Nepman) नामक गैर सरकारी व्यापारी का आविर्भाव हुआ। 1924 में 75 प्रतिशत फुटकर व्यापार तथा 20 प्रतिशत थोक व्यापार का संचालन निजी व्यापारी कर रहे थे। 1923 के बाद राजकीय एवं सहकारी संस्थाओं ने व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश किया तथा धीरे-धीरे उनका जाल-सा बिछ गया। औद्योगिक प्रन्यासों ने थोक व्यापार के लिए सिण्डीकेटों का निर्माण किया। केन्द्रीय स्तर पर सर्वोच्च आर्थिक परिषद ने तथा क्षेत्रीय स्तर पर प्रादेशिक सरकारों ने थोक एवं फुटकर व्यापार के लिए कई समितियों का गठन किया 1928 तक निजी व्यापारियों के हाथों में केवल 5 प्रतिशत थोक व्यापार तथा 25 प्रतिशत फुटकर व्यापार रह गया।

(6) अन्य नीतिगत परिवर्तन—नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत सामरिक साम्यवाद के दौरान बैंकों में व्यक्तिगत जमाराशियों पर लगे सभी प्रकार के प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए गए। निजी व्यक्तियों की बैंक-जमाओं को करों से मुक्त कर दिया गया। सरकारी ऋणपत्रों और विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय हेतु व्यावसायिक केन्द्रों में वित्तीय एक्सचेंज खोले गए। रेलवे, डाक, तार, गैस, विद्युत, जल, आदि सेवाओं के लिए मूल्य चुकाने की व्यवस्था की गई 1921 में करों की पारस्परिक प्रणाली अपनायी गई। औद्योगिक एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर पुनः करारोपण किया गया। सरकारी बजट से राजकीय संस्थाओं को बाहर कर दिया गया तथा सरकारी व्यय में मितव्ययता द्वारा बजट का घाटा दूर करने का प्रयास किया गया।

वस्तुतः नवीन आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप रूस में जिस प्रकार की आर्थिक प्रणाली विकसित हुई, वह 'संक्रमणकालीन मिश्रित अर्थव्यवस्था' थी। इसमें पूँजीवादी और समाजवादी दोनों प्रकार की आर्थिक प्रणालियों के लक्षण विद्यमान थे। यदि उद्योग एवं थोक व्यापार के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र की प्रधानता थी, तब कृषि एवं फुटकर व्यापार के अन्तर्गत निजी क्षेत्र का प्रभुत्व था। जून 1918 में गृह-युद्ध छिड़ने पर सोवियत सरकार को सामरिक साम्यवाद की नीति परिस्थितिवश अपनानी पड़ी थी। युद्धकाल में अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों (कृषि, उद्योग, व्यापार, परिवहन और श्रम) पर सरकार ने अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था।

परन्तु इस नीति के आर्थिक परिणाम अत्यन्त भयावह सिद्ध हुए। सामरिक साम्यवाद के विनाश ने सिद्ध कर दिया कि पूँजीवादी व्यवस्था से समाजवादी व्यवस्था में संक्रमण, जिसके लिए संस्थागत ढाँचे में परिवर्तन आवश्यक होता है, धीरे-धीरे ही सम्भव है। मार्च 1921 में बोल्वेशिक पार्टी की दसवीं बैठक में स्वयं लेनिन ने स्वीकार किया था, हम किसानों और श्रमिकों की प्रमुख उत्पादक शक्तियों की विपन्नता एवं विनाश, अत्यधिक थकावट एवं बलहीनता की ऐसी स्थिति में पहुंच गए हैं, जहाँ कुछ समय के लिए सभी विचारों को वस्तुओं की आपूर्ति बढ़ाने के मौलिक विचार के आधीन कर दिया जाना चाहिए।" नवीन आर्थिक नीति इसी मौलिक विचार को साकार रूप प्रदान करने का प्रयास थी। इसीलिए नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत असंख्य छोटे-छोटे औद्योगिक उपक्रमों का अराष्ट्रीयकरण किया गया, कृषि एवं उद्योग के बीच विनिमय-व्यवस्था पुन: स्थापित की गई तथा फुटकर व्यापार के क्षेत्र में निजी व्यापारियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की गई। आर्थिक प्रणाली में पूँजीवादी तत्वों को स्थान देने के बावजूद, सोवियत सरकार अन्ततः समाजवादी तत्वों को ही विजयी बनाना चाहती थी। इसीलिए नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत पूँजीवादी शक्तियों का नियन्त्रित एवं संयोजित प्रयोग सम्मिलित था।

प्रश्न 2—"विदेशी मध्यम वर्ग में नई आर्थिक नीति की प्रयोज्यता को पीछे की ओर मुड़ने, विफलता की स्वीकृति तथा पहले से विजित स्थिति त्याग देने के रूप में समझा गया।" क्या आप सहमत हैं ? नवीन आर्थिक नीति की मुख्य उपलब्धियों का परिक्षण कीजिए।

"In foreign bourgeois circles at the time, the introduction of New Economic Policy was hailed as a retreat, a recognition of failure and an abandonment of positions previously won." Do you agree ? Examine the main achievements of New Deal Policy.

उत्तर—नवम्बर 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद सोवियत सरकार ने 'नियन्त्रित पूँजीवाद' या' राजकीय पूँजीवाद' की नीति अपनाई, ताकि आर्थिक प्रणाली में व्याप्त अराजकता एवं विघटन को समाप्त किया जा सके तथा राजनीतिक दृष्टि से सरकार सबल हो सके। इसके परिणामस्वरूप कृषि-उत्पादन का कार्य छोटे-छोटे उत्पादकों के नियन्त्रण में चलागया। आधारभूत उद्योगों को छोड़कर, अन्य उद्योग-धन्धे निजी क्षेत्र में बने रहे, यद्यपि निजी उद्योगों पर ऊपर और नीचे दोनों ओर से नियन्त्रण लागू किया गया। अनाज के व्यापार में सरकारी एकाधिकार जारी रहा तथा विदेशी व्यापार को भी सरकारी नियन्त्रण में ले लिया गया। जून 1918 में रूस में सोवियत सरकार को 'सामरिक सम्यवाद' गृह-युद्ध छिड़ जाने पर सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु की नीति अपनानी पड़ी। आपातकालीन परिस्थितियों के दबाव में उसके आर्थिक प्रयत्न 'उत्पादन एवं वितरण की केन्द्र-निर्देशित प्रणाली' तथा 'राज्य-संगठित

वस्तु-विनिमय प्रणाली' की ओर अग्रसर होने लगे। सामरिक साम्यवाद का सहारा लेकर सरकार ने देशी और विदेशी शत्रुओं से सोवियत रूस को तो बचा लिया किन्तु इस नीति के आर्थिक परिणाम अत्यन्त भयावह सिद्ध हुए। सामरिक साम्यवाद की नीति ने सिद्ध कर दिया कि पूँजीवादी व्यवस्था का समाजवादी व्यवस्था में रूपान्तरण धीरे-धीरे ही सम्भव है। अतः गृह-युद्ध की समाप्ति पर सोवियत सरकार ने 'नवीन आर्थिक नीति' अपनाई। इस नीति के परिणाम स्वरूप रूस में 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' विकसित हुई, जिसमें पूँजीवादी एवं समाजवादी दोनों प्रकार के तत्व सम्मिलित थे।

मौरिस डॉब (Mauriee Dabb) के अनुसार, नवीन आर्थिक नीति की प्रयोज्यता को तत्कालीन विदेशी बुर्जुआ वर्ग ने लेनिन का पीछे की ओर (पूँजीवादी व्यवस्था की ओर) मुड़ना, उसके समाजवादी प्रयासों की विफलता का परिचायक तथा भूतकाल में (सामरिक साम्यवाद की अवधि) प्राप्त की गई स्थिति का परित्याग स्वीकार किया। स्वयं रूस के भीतर भी कुछ व्यक्तियों में इसे पीछे की ओर मुड़ना तथा विरोधी शक्तियों के समक्ष झुकना मानने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी।" परन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं थी जैसा कि मौरिस डॉब ने लिखा है, "नई आर्थिक नीति के अन्तर्गत विकसित अर्थ यवस्था में कोई आकस्मिक नवीनता नहीं थी, जिसका अनुसन्धान रातों-रात कर लिया गया हो। यह प्राचीन व्यवस्था पर प्रत्यक्ष प्रहार की असफलता द्वारा थोपी गई प्रणाली भी नहीं थी।" नवीन आर्थिक नीति द्वारा रूस में आर्थिक प्रणाली का मिश्रित रूप अपनाया गया था, जिसकी व्याख्या लेनिन ने 'संक्रमण-कालीन मिश्रित व्यवस्था' के रूप में की और जिसे उसने 'राजकीय पूँजीवाद' बतलाया। लेनिन का विश्वास था कि राजकीय पूँजीवाद 'संक्रमणकालीन' सिद्ध होगा; क्योंकि इसमें परस्पर विरोधी शक्तियों का समावेश विद्यमान है। उसे आशंका थी कि मिश्रित अर्थव्यवस्था में अन्ततोगत्वा या तो पूँजीवादी या समाजवादी शक्तियाँ विजयी होंगी। परन्तु वह जानबूझकर समाजवादी शक्तियों को विजयी बनाना चाहता था अर्थात् नवीन आर्थिक नीति का अन्तिम उद्देश्य 'समाजवाद' था। इसीलिए नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख केन्द्र (विशालस्तरीय उद्योग, विदेशी व्यापार, बैंकिंग और परिवहन-प्रणाली, खनिज-पदार्थ और विद्युत-उत्पादन) सरकारी स्वामित्व में रक्खे गए थे। निजी क्षेत्र को केवल लघु उद्योगों, कृषि और घरेलू व्यापार में ही पनपने का अवसर प्राप्त था। पूँजीवादी शक्तियाँ निरंकुश न हो पायें, इसलिए पूँजीवादी शक्तियों को नियन्त्रित एवं संयोजित करने की व्यवस्था भी की गई थी।

मौरिस डॉब के अनुसार, "समाजवादी समाज के प्रति लेनिन का स्वप्न तथा 1921 में संक्रमणकालीन अर्थव्यवस्था की कष्टदायी समस्याओं के प्रति उसकी धारणा ज्वलन्त यथार्थवाद से निर्मित हुई थी। उसकी धारणा मार्क्स के इस कथन के अनुरूप थी कि न्याय के सिद्धान्त तत्कालीन आर्थिक दशाओं से ऊपर नहीं उठ सकते।"

नवीन आर्थिक नीति की उपलब्धियाँ—मार्च 1921 में अपनाई गई नवीन आर्थिक नीति का सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक अनुकूल प्रभाव पड़ा। नवीन आर्थिक नीति की प्रमुख उपलब्धियाँ निम्न प्रकार गिनाई जा सकती हैं—

(1) **प्रतिव्यक्ति आय**—प्रतिव्यक्ति औसत आय, जो 1913 में 101 रूबल से घटकर 1921 में केवल 39 रूबल रह गई थी, 1925 में बढ़कर 100 रूबल हो गई अर्थात् चार वर्षों में 150 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई।

(2) **कृषि**—नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत खाद्य-फसलों (गेहूं, जौ और मकई) के उत्पादन में तो अधिक वृद्धि नहीं हो पाई, किन्तु व्यापारिक फसलों (कपास, तम्बाकू, चुकन्दर और सनई) के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। खाद्य-फसलों का उत्पादन 1913 के स्तर से नीचा रहा। पशु-पालन के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। गृह-युद्ध के समय पशुधन का बड़े पैमाने पर विनाश हुआ था। 1927 तक पशुधन युद्ध-पूर्व स्थिति में पहुंच गया। कृषि-क्षेत्र की अपर्याप्त प्रगति के फलस्वरूप इस अवधि में औद्योगिक श्रमिकों की अपेक्षा कृषि-श्रमिकों को कम लाभ पहुंचा। 1913 में कृषि-श्रमिक की वार्षिक आय औद्योगिक श्रमिक की वार्षिक आय की 35 प्रतिशत थी। 1927 में कृषि-श्रमिक की वार्षिक आय घटकर औद्योगिक श्रमिक की वार्षिक आय की मात्र 25 प्रतिशत रह गई।

(3) **विदेशी व्यापार**—नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत रूस के आयात-निर्यात व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। उसका निर्यात-मूल्य 1921 में 293 लाख रूबल से बढ़कर 1929 में 7094 लाख रूबल हो गया। 1923 तक रूस का आयात-व्यापार बढ़कर युद्ध-पूर्व स्तर का 85 प्रतिशत हो गया था। 1926 तक वह युद्ध-पूर्व स्थिति में पहुंच गया।

(4) **उद्योग**—नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत औद्योगिक उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। पूँजीगत-वस्तु उद्योगों का उत्पादन-मूल्य 1913 में 4290 मिलियन रूबल से घटकर 1921 में केवल 814 मिलियन रूबल रह गया था। 1927 तक यह बढ़कर 5372 मिलियन रूबल हो गया। दूसरी ओर, उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों का उत्पादन-मूल्य जो 1913 में 5961 मिलियन रूबल से घटकर 1921 में केवल 1111 मिलियन रूबल रह गया था, 1925 तक बढ़कर 6679 मिलियन रूबल हो गया। 1921 में कुल औद्योगिक उत्पादन 1927 मिलियन रूबल का था, जो 1927 में बढ़बर 12051 मिलियन रूबल का हो गया।

(5) **परिवहन**—नवीन आर्थिक नीति से रूस को सर्वाधिक लाभ परिवहन और संचार के क्षेत्र में हुआ। गृह-युद्ध के समय 3600 रेल के पुल, 1200 मील लम्बी रेल की पटरियाँ, 830 इंजिन डिपो और रेलवे वर्कशॉप तथा 50 हजार मील लम्बी तार एवं टेलीफोन की लाइनें नष्ट हो गई थीं। नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत न केवल इस क्षति की पूर्ति हुई, अपितु नया निर्माण-कार्य भी हाथ में

लिया गया । परिणामतः 1928 तक रेलों की लम्बाई बढ़कर 75,800 किलो-मीटर हो गई, जबकि 1913 में रेलों की कुल लम्बाई 58,549 किलोमीटर थी । 1913 में केवल 112,335 स्थानों पर ही नियमित रूप से डाक जाती थी । 1927 में ऐसे स्थानों की संख्या बढ़कर 241,000 हो गई ।

प्रश्न 3—"लेनिन ने नई आर्थिक नीति की व्याख्या दो कदम आगे बढ़ने के लिए एक कदम पीछे हटने के रूप में की ।" क्या आप सहमत हैं ? इस नीति का परित्याग क्यों किया गया ?

"Lenin described the new economic policy at a step backward to take two steps forward" Do you agree ? Why was it abandoned ?

उत्तर—"सामरिक साम्यवाद' के पश्चात् रूस में 'नवीन आर्थिक नीति' की प्रयोज्यता का विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग दृष्टिकोण से विश्लेषण किया । नवीन आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप रूस में जिस प्रकार की व्यवस्था विकसित हुई, वह 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' थी । इसमें पूँजीवादी एवं समाजवादी तत्वों का सह-अस्तित्व विद्यमान था । अर्थव्यवस्था में पूँजीवादी तत्वों को स्थान देने के लिए सोवियत सरकार ने छोटे-छोटे असंख्य औद्योगिक उपक्रमों का अराष्ट्रीयकरण (Denationalization) किया, कृषि एवं उद्योग के बीच पुनः विनिमय-व्यवस्था स्थापित की तथा व्यापार (विशेष रूप से फुटकर व्यापार) के क्षेत्र में निजी उद्यमियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की । इसे वामपन्थियों ने लेनिन का 'पूँजीवाद के समक्ष घुटने टेकना' या 'साम्यवाद की ओर से पीछे मुड़ना' स्वीकार किया । तत्कालीन विदेशी बुर्जुआ ने नवीन आर्थिक नीति की प्रयोज्यता को साम्यवादी नीति की विफलता का परिचायक, पहले से विजित स्थिति का परित्याग और अन्ततोगत्वा पूँजीवादी व्यवस्था की पुनर्स्थापना स्वीकार किया । इस नीति के परिणामस्वरूप रूसी समुदाय के कुछ वर्गों में भी आशंका एवं निराशावाद ने जन्म लिया । इन वर्गों ने नई नीति को 'विरोधी शक्तियों के समक्ष झुकना' अंगीकार किया । विंस्टन चर्चिल (Winston Churchil) ने नई आर्थिक नीति को सामरिक साम्यवाद की नीति का प्रत्याख्यान (Repudiation) स्वीकार किया ।

मौरिस डॉब (Maurice Dobb) के अनुसार, "नवीन आर्थिक नीति अपनायी गई अर्थव्यवस्था में ऐसी कोई आकस्मिक नवीनता नहीं थी, जिसका रातों-रात अनुसन्धान कर लिया गया हो या जो प्राचीन व्यवस्था पर प्रत्यक्ष प्रहार की विफलता द्वारा थोप दी गई हो ।" वस्तुतः गृह-युद्ध से पूर्व सोवियत रूस में 'राजकीय पूँजीवाद' की जो नीति प्रचलित थी, गृह-युद्ध के पश्चात् वही नीति पुनः अपना ली गई थी । गृह-युद्ध के समय सोवियत रूस साम्यवाद की दिशा में यकायक बहुत आगे बढ़ गया था । अतः जब गृह-युद्ध के पश्चात् सोवियत सरकार ने सामरिक साम्यवाद की नीति का परित्याग करते हुए पुनः राजकीय पूँजीवाद की नीति अपनाई: तब इससे विदेशी बर्जुआ वर्ग को तथा रूस के

वामपंथियों को भारी आश्चर्य हुआ। उन्होंने समझा कि लेनिन ने साम्यवाद को तिलाँजलि देकर पूँजीवादी शक्तियों के समक्ष घुटने टेक दिए हैं। परन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं थी। नई आर्थिक नीति की प्रयोज्यता द्वारा सोवियत सरकार पूँजीवादी (विरोधी) शक्तियों के समक्ष नतमस्तक नहीं हुई थी। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण अगों (बैंकिंग-प्रणाली, विदेशी व्यापार, खनिज-संसाधन, विशालस्तरीय उद्योग, विद्युत-उत्पादन एवं परिवहन-प्रणाली) पर उसका प्रभुत्व अब भी विद्यमान था। भारी, आधारभूत एवं सुरक्षा उद्योग केन्द्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत थे। निस्सन्देह औद्योगिक क्षेत्र में पर्याप्त विकेन्द्रीकरण एवं अराष्ट्रीयकरण हुआ था, किन्तु विकेन्द्रित एवं अराष्ट्रीयकृत उद्योगों को पुन: पूँजीपतियों के नियन्त्रण में नहीं दिया था। विकेन्द्रित उद्योग प्रन्यासों के नियन्त्रण में रक्खे गए थे, जिनके संचालक बोर्ड 'सर्वोच्च आर्थिक परिषद' द्वारा (अप्रैल 1923 में जारी आज्ञप्ति द्वारा निर्धारित शर्तों के अधीन) नियुक्त किए जाते थे। अराष्ट्रीयकरण की नीति कारखानों की बजाय वर्कशॉपों के सम्बन्ध में अपनाई गई थी तथा अराष्ट्रीयकृत संगठन भी सहकारी समितियों को पट्टे पर दिए गए थे। अत: नवीन आर्थिक नीति की प्रयोज्यता को पूँजीवादी शक्तियों के समक्ष पूर्णत: नतमस्तक होना नहीं माना जा सकता।

वस्तुत: नवीन आर्थिक नीति द्वारा जो अर्थव्यवस्था अपनाई गई, वह मिश्रित प्रकार की अर्थव्यवस्था थी। इसमें पूँजीवादी और समाजवादी दोनों प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान थीं तथा इसका अन्तिम उद्देश्य समाजवाद था। लेनिन ने इसकी व्याख्या 'संक्रमणकालीन मिश्रित प्रणाली' के रूप में की तथा इसे 'राजकीय पूँजीवाद' की संज्ञा दी। लेनिन ने बताया कि राजकीय पूँजीवाद की व्यवस्था अनिवार्य रूप से संक्रमणकालीन होगी; क्योंकि इसके अन्तर्गत विभिन्न परस्पर-विरोधी शक्तियों का समावेश है। ऐसी व्यवस्था में या तो पूँजीवादी शक्तियाँ हावी हो जाती हैं या समाजवादी शक्तियाँ। परन्तु लेनिन विवेकपूर्ण ढंग से समाजवादी शक्तियों को विजयी बनाना चाहता था। इसीलिए किसी भी समय नवीन आर्थिक नीति या उसके सिद्धान्त न तो स्थिर रहे और न उन्हें स्थायी जड़ें पकड़ने का अवसर ही मिल पाया। देश की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार नवीन आर्थिक नीति का रूप और गुण बदला जाता रहा।

गृह-युद्ध के पश्चात् सामरिक साम्यवाद की नीति का परित्याग तथा राजकीय पूँजीवाद की नीति का अनुसरण सोवियत सरकार की विवशता थी। सामरिक साम्यवाद की अवधि में रूस की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो चुकी थी। कृषि एवं उद्योगों के उत्पादन में भारी गिरावट विद्यमान थी। विदेशी व्यापार लगभग समाप्त हो गया था। अनिवार्य अधिग्रहण की नीति के कारण किसानों में भारी असन्तोष व्याप्त था। किसानों और मजदूरों के बीच मैत्री-सम्बन्धों (जो बोल्शेविक क्रान्ति के आधार-स्तम्भ थे) में दरार पड़ चुकी थी।

इन परिस्थितियों में सोवियत सरकार के लिए सामरिक साम्यवाद की नीति का परित्याग उसी प्रकार आवश्यक था, जिस प्रकार गृह-युद्ध के समय सामरिक साम्यवाद की नीति का अनुसरण आवश्यक था। मौरिस डॉब के शब्दों में, "समाजवादी समाज के प्रति लेनिन का स्वप्न तथा 1921 में संक्रमणकालीन अर्थव्यवस्था की कष्टदायी समस्याओं के प्रति उसकी धारणा ज्वलंत यथार्थवाद से बनी थी। लेनिन की धारणा मार्क्स के इस कथन के अनुरूप थी कि न्याय के सिद्धान्त तात्कालिक आर्थिक दशाओं से ऊपर नहीं उठ सकते।" सोवियत संघ की साम्यवादी पार्टी के इतिहास में नवीन आर्थिक नीति अपनाए जाने का कारण इन शब्दों में व्यक्त किया गया है, "सामरिक साम्यवाद गाँवों और शहरों में पूँजीवादी तत्वों के किलों पर सीधे आक्रमण द्वारा उन्हें हड़प लेने का प्रयास था। इस आक्रमण में साम्यवादी पार्टी बहुत आगे निकल गई तथा अपने आधार से ही सम्बन्ध तोड़ने की जोखिम उठाने लगी। गृह-युद्ध की समाप्ति पर लेनिन ने, इस कार्य से थोड़ी निवृत्ति चाहिए, लौटकर आधार के समीप आना चाहा तथा पूँजीवादी शक्तियों के किलों की घेराबन्दी का धीमा तरीका अपनाना चाहा, ताकि शक्ति बटोरकर पुन: आक्रमण किया जा सके।" अत: 'नवीन आर्थिक नीति' लक्ष्य (समाजवाद) की ओर दो कदम आगे बढ़ने के लिए एक कदम पीछे हटने की नीति थी।

नवीन आर्थिक नीति का परित्याग क्यों किया गया?—गृह-युद्ध के समय सोवियत सरकार द्वारा अपनाई गई 'सामरिक साम्यवाद की नीति' के विनाश ने सिद्ध कर दिया था कि पूँजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण (जिसके लिए संस्थानिक ढाँचे में परिवर्तन आवश्यक है) धीरे-धीरे ही सम्भव है। अत: गृह-युद्ध की समाप्ति पर सरकार ने 'मिश्रित आर्थिक नीति' अपनाई। अर्थव्यवस्था के प्रमुख क्षेत्रों को सरकारी प्रभुत्व में रखते हुए कृषि, लघु उद्योग और फुटकर व्यापार के क्षेत्र में पूँजीवादी शक्तियों का नियन्त्रित प्रयोग किया गया। कहीं पूँजीवादी शक्तियाँ निरंकुश न बन जायें, इसके लिए पूँजीवादी शक्तियों को संयोजित करने की व्यवस्था की गई। कुल मिलाकर, मिश्रित (या नवीन) आर्थिक नीति का उद्देश्य समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए आवश्यक मार्ग की तैयारी करना था। 1928 में प्रथम पंचवर्षीय योजना (केन्द्र द्वारा निर्देशित) लागू करते हुए सरकार ने मिश्रित आर्थिक नीति का परित्याग किया। दूसरी योजना के अन्त (1937) तक राजकीय पूँजीवाद के समय की मिश्रित अर्थव्यवस्था लुप्त हो गई तथा उसके स्थान पर समाजवादी अर्थव्यवस्था स्थापित हुई, जो बोल्शेविक क्रान्ति का व्यक्त उद्देश्य था। 1936 में लागू नए संविधान की धारा 4 में कहा गया, "सोवियत संघ के आर्थिक आधार में समाजवादी आर्थिक प्रणाली तथा उत्पत्ति के साधनों एवं उपकरणों पर समाजवादी स्वामित्व (जिसकी स्थापना पूँजीवादी प्रणाली के साधनों एवं उपकरणों के तरलीकरण, पूँजीवादी आर्थिक उत्पादन पर निजी स्वामित्व के उन्मूलन तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की समाप्ति द्वारा सम्भव हुई है।) के समावेश की घोषणा की जाती है।" रूस की तीसरी योजना का उद्देश्य समाजवादी व्यवस्था को साम्यवादी व्यवस्था में परिणित करना था।

7

सीजर्स संकट

(The Scissors Crisis)

प्रश्न 1—नियोजनकाल से पूर्व सोवियत संघ में सोवियत संघ में सीजर्स संकट को जन्म देने वाली परिस्थितियों की व्याख्या कीजिए। इसके प्रभाव क्या थे ? संकट पर काबू पाने के लिए सरकार ने क्या उपाय किए ?

Describe the circumstances leading to the Scissors Crisis in Soviet Union before plan-Period. What were its effects ? What measures were taken by the Government to overcome the Crisis ?

उत्तर—गृह-युद्ध की समाप्ति पर रूसी अर्थव्यवस्था के पुनरुत्थान हेतु सरकार ने मिश्रित आर्थिक नीति का अनुसरण किया। पुनरुत्थान-कार्य हेतु रूस को मुख्यतः घरेलू साधनों पर निर्भर रहना पड़ा; क्योंकि उसे विदेशी सहायता बहुत कम प्राप्त हुई। नवीन आर्थिक नीति के दौरान रूसी अर्थव्यवस्था को कई तरह के संकटों से गुजरना पड़ा, जैसे—ईंधन संकट, विक्रय संकट और सीजर्स संकट। 'ईंधन संकट' कोयले का उत्पादन घट जाने का परिणाम था। इसका परिवहन एवं उद्योग-धन्धों पर अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव उपस्थित हुआ। 'विक्रय संकट' कच्चे-माल की खरीद और विनिर्मित माल की बिक्री हेतु औद्योगिक प्रन्यासों के बीच उपस्थित भीषण प्रतियोगिता का परिणाम था। इस प्रतियोगिता से औद्योगिक एवं कृषि-पदार्थों के बीच विनियम-दर में औद्योगिक पदार्थों के विरुद्ध परिवर्तन हुआ। प्रतियोगिता के निवारण हेतु प्रन्यासों ने व्यावसायिक सिण्डीकेट गठित किए। इस उपाय से उद्योगों की स्थिति तो सुदृढ़ हो गई, किन्तु 'सीजर्स संकट' को जन्म मिला।

सीजर्स संकट—'सीजर्स संकट' कृषि-पदार्थों तथा औद्योगिक पदार्थों के मूल्यों में उपस्थित विषम स्थिति से सम्बन्धित था। 1922 के पूर्वार्द्ध में कृषि-मूल्यों में निरन्तर ऊपर उठने तथा औद्योगिक मूल्यों में निरन्तर नीचे गिरने की प्रवृत्ति विद्यमान थी, जिसका परिणाम 'विक्रय संकट' के रूप में फलीभूत हुआ। विक्रय संकट के निवारण हेतु जो उपाय किए गए, उनके परिणामस्वरूप 1922 के मध्य में कृषि-मूल्य एवं औद्योगिक मूल्य परस्पर सन्तुलित हो गए अर्थात् 1913 की स्थिति में आ गए। तदुपरान्त कृषि-मूल्यों में निरन्तर गिरावट तथा औद्योगिक मूल्यों में निरन्तर वृद्धि की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई चूँकि कृषि-पदार्थों तथा औद्योगिक पदार्थों के

मूल्य कैंची के दो फलकों की तरह चल रहे थे, इसलिए कृषि-मूल्यों एवं औद्योगिक मूल्यों के बीच उपस्थित विषम (असन्तुलित) स्थिति को 'सीजर्स संकट' की संज्ञा दी गई। यह संकट दोनों मूल्य-स्तरों के बीच बढ़ते हुए अन्तर तथा उसके परिणामस्वरूप कृषि एवं उद्योगों में उत्पन्न अव्यवस्था का प्रतीक था। इस संकट की गम्भीरता का अनुमान निम्न तालिका (1913 को आधार वर्ष मानते हुए) से लगाया जा सकता है—

अवधि	कृषि-मूल्य सूचकांक	औद्योगिक मूल्य-सूचकांक
जनवरी 1922	104	92
फरवरी "	105	90
मार्च "	109	82
अप्रैल "	111	77
मई "	113	74
जून "	106	89
जुलाई "	104	92
अगस्त "	100.5	99
सितम्बर "	94	112
जनवरी-फरवरी 1923	88	275

तालिका से स्पष्ट है कि 1922 के पूर्वार्द्ध में कृषि-पदार्थों तथा औद्योगिक पदार्थों के बीच विनिमय-दर कृषि के पक्ष में थी। इससे किसानों की क्रयशक्ति बढ़ी तथा औद्योगिक वस्तुओं के लिए उनकी माँग भी बढ़ गई। इसके परिणामस्वरूप 1922 के उत्तरार्द्ध में ठीक विपरीत दिशा में परिवर्तन होने लगा। विनिमय-दर निरन्तर उद्योगों के पक्ष में होती चली गई। प्रतिकूल व्यापार-शर्तों के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगिक वस्तुओं की माँग और बिक्री पर्याप्त घट गई। माँग घट जाने के कारण औद्योगिक वस्तुओं के मूल्यों में गिरावट आनी चाहिए थी, किन्तु सरकारी उद्योगों की एकाधिकारी स्थिति के कारण ऐसा सम्भव नहीं हो पाया। बाजार में आपूर्ति सीमित करके सरकारी उद्योग अपनी वस्तुओं के लिए अनुकूल शर्तें (ऊँचा मूल्य) प्राप्त करने में सफल हुए। चूँकि सरकारी उद्योगों को साख की विस्तृत सुविधाएँ प्राप्त थीं, इसलिए व्यापारिक सिण्डीकेट (औद्योगिक प्रन्यासों द्वारा स्थापित) विनिर्मित माल का पर्याप्त स्टॉक करने की स्थिति में थीं। फलतः औद्योगिक लाभ की मात्रा में भारी वृद्धि हुई। इसका परिमाण 1922-23 के प्रथम चतुर्थांश में 52 मिलियन रूबल से बढ़कर अन्तिम चतुर्थांश में 116 मिलियन रूबल हो गया।

सीजर्स संकट के कारण—प्रारम्भ में 'मुद्रा-स्फीति' को सीजर्स संकट का कारण माना गया था। कोण्डरेटिव (Kondrative) ने 'ग्रामीण बाजार का संकुचन'

सीजर्स संकट का कारण बताया। मौरिस डॉब (Maurice Dobb) के अनुसार, सीजर्स संकट का प्रमुख कारण व्यापारिक सिण्डीकेटों के निर्माण द्वारा उद्योगों को प्राप्त एकाधिकार की स्थिति था। बेकोव (Baykov) की राय में सीजर्स संकट औद्योगिक उत्पादन में कमी तथा कृषि-पदार्थों की प्रचुरता के कारण उत्पन्न हुआ था। वास्तव में सीजर्स संगट विभिन्न कारणों का सम्मिलित परिणाम था। ये कारण निम्न प्रकार थे—

(1) **ग्रामीण बाजार का संकुचन**— 1922 के मध्य से कृषि-मूल्यों में निरन्तर गिरावट के परिणामस्वरूप किसानों की क्रयशक्ति कम हो गई। परिणामतः ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगिक वस्तुओं की माँग घट गई अर्थात् ग्रामीण बाजार संकुचित हो गया।

(2) **मुद्रा-स्फीति**—1922 में स्टेट बैंक ने सरकारी उद्योगों को उदार साख-सहायता प्रदान की। परिणामतः उद्योगों में अति-निवेश की स्थिति उत्पन्न हो गई, जिससे स्फीतिक प्रवृत्ति को बल मिला (स्फीतिक प्रवृत्ति गृह-युद्ध के दौरान कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में भारी गिरावट तथा सरकारी व्यय में भारी वृद्धि के कारण पहले से ही विद्यमान थी) अत्यधिक ऊर्ध्वस्थ-व्यय तथा अकुशल औद्योगिक प्रबन्ध के कारण भी विनिर्मित माल की कीमतों में भारी वृद्धि हुई।

(3) **औद्योगिक उत्पादन में कमी तथा कृषि-उत्पादन में वृद्धि**—सीजर्स संकट का प्रमुख कारण औद्योगिक उत्पादन में गिरावट (1922 के पूर्वार्द्ध में औद्योगिक मूल्यों में उपस्थित भारी गिरावट के फलस्वरूप) तथा कृषि-उत्पादन में भारी वृद्धि था। कृषि-पदार्थों का विदेशी बाजार समाप्त हो जाने से भी रूस में कृषि-पदार्थों की प्रचुरता उत्पान्न हो गई थी।

(4) **उद्योगों की एकाधिकारी स्थिति**—आपसी प्रतियोगिता के निवारण हेतु औद्योगिक प्रन्यासों ने व्यापारिक सिण्डीकेटों का गठन किया। सिण्डीकेटों के निर्माण से कृषकों की तुलना में उद्योगों को एकाधिकारी स्थिति प्राप्त हो गई। फलतः अपनी वस्तुओं के लिए उद्योग अनुकूल शर्तें पाने में सफल हुए।

(5) **औद्योगिक वस्तुओं का संग्रह**—स्टेट बैंक से प्राप्त उदार साख-सहायता के बल पर औद्योगिक प्रन्यास विनिर्मित माल का पार्याप्त स्टॉक करने में समर्थ थे। बाजार में वस्तुओं की पूर्ति घटाकर औद्योगिक प्रन्यास ऊँचा मूल्य प्राप्त करने में सफल हुए।

सीजर्स संकट के महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक परिणाम उपस्थित हुए। सामाजिक दृष्टि से इसने कृषक वर्ग में असन्तोष को जन्म दिया। आर्थिक दृष्टि से सीजर्स संकट के परिणामस्वरूप उद्योगों को असामान्य लाभ प्राप्त हुआ, किन्तु इससे ग्रामीण जनता का आर्थिक शोषण भी हुआ। फलतः कृषि की लागत पर उद्योगों का प्रसार हुआ। राजनीतिक दृष्टि से इसने किसानों और मजदूरों के मैत्री सम्बन्धों (स्मितिका) के लिये खतरा उत्पन्न कर दिया, जो बोल्शेविक क्रान्ति का प्रमुख आधार था।

संकट-निवारण हेतु उपाय—अर्थव्यवस्था के सन्तुलित विकास हेतु कृषि एवं उद्योगों के बीच उपस्थित असामंजस्य का निवारण आवश्यक था। संकट-निवारण के लिए सरकार ने एक ओर कृषि-मूल्यों में वृद्धि तथा औद्योगिक मूल्यों में ह्रास लाने का प्रयास किया। कृषि-मूल्यों को ऊपर उठाने के लिए कृषि-पदार्थों का निर्यात प्रोत्साहित किया गया तथा किसानों को अधिक उदार साख-सहायता उपलब्ध करायी गई। औद्योगिक मूल्यों में ह्रास लाने के उद्देश्य से तीन प्रकार के उपाय किए गए—(i) उद्योग को दी जाने वाली बैंक-साख की मात्रा सीमित कर दी गई। फलतः औद्योगिक प्रन्यास विनिर्मित माल का संचित स्टॉक बेचने के लिए बाध्य हुए, क्योंकि सीमित साख के कारण उनकी संग्रह-क्षमता घट गई थी। (ii) औद्योगिक वस्तुओं का अधिकतम विक्रय-मूल्य निर्धारित करने के लिए 'आन्तरिक व्यापार कमेटी' गठित की गई। (iii) विशिष्ट परिस्थितियों में औद्योगिक मूल्य घटाने के उद्देश्य से नीचे मूल्यों पर औद्योगिक वस्तुओं का आयात किया गया।

औद्योगिक मूल्यों में गिरावट की नीति से कुछ उद्योगों को हानि होने की सम्भावना थी। इसके निवारण हेतु औद्योगिक लागतें घटाने का प्रयास किया गया। ऊँची औद्योगिक लागत का प्रमुख कारण प्रबन्धकीय व्यय की अधिकता था, जो स्वयं औद्योगिक संयंत्रों की क्षमता के अपूर्ण प्रयोग का परिणाम थी। प्रबन्धकीय व्यय घटाने के उद्देश्य अधिक कार्यक्षम्य सन्यन्त्रों तक उत्पादन को सीमित (केन्द्रित) रखने की नीति अपनाई गई। फलतः 1924 के अन्त तक औद्योगिक लागतों में 24 प्रतिशत की गिरावट आई। इस दौरान कृषि-मूल्यों तथा औद्योगिक मूल्यों के बीच असामंजस्य की स्थिति भी घटने लगी। सितम्बर 1923 में औद्योगिक मूल्यों एवं कृषि-मूल्यों का अनुपात 3 : 1 की अधिकतम सीमा पर पहुंच गया था। अक्टूबर 1924 तक यह अनुपात बदलकर 1·5 : 1 हो गया। औद्योगिक मूल्यों में लगभग दो-तिहाई कमी उत्पादन-लागत में गिरावट का परिणाम थी और एक-तिहाई कमी प्रन्यासों एवं सिण्डीकेटों के लाभों में गिरावट का परिणाम थी।

8
सोवियत संघ में आर्थिक नियोजन

(Economic Planning in Soviet Union)

प्रश्न 1—"सोवियत संघ की प्रथम पंचवर्षीय योजना जानबूझकर सीमित बनायी गई थी। इसका निष्पादन अपरिहार्य रूप से खर्चीला था। इसकी उपलब्धियाँ असन्तोषप्रद थीं।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

"The Soviet First Five Year Plan was deliberately limited in conception, it was inevitably expensive in execution, it was disappointing in achievments." Discuss critically this statement.

उत्तर—सोवियत रूस में नियोजन की शुरुआत 1920 में 'राज्य विद्युतीकरण आयोग' की स्थापना के साथ हुई। इसने 10-15 वर्षों के बीच देशभर में विद्युत शक्ति पहुंचाने की योजना तैयार की। फरवरी 1921 में 'राज्य नियोजन आयोग' की स्थापना हुई, जिसपर विद्युतीकरण की योजना के सन्दर्भ में आर्थिक योजनाएँ तैयार करने का दायित्व रक्खा गया। इसने सर्वप्रथम 1925-26 में नियन्त्रित आँकड़े प्रकाशित किए। आयोग ने 1926 में प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप तैयार किया। इसमें न्यूनतम एवं अधिकतम विचरणों के आधार पर दोहरे लक्ष्य निर्धारित थे; किन्तु साम्यवादी पार्टी के 16वें अधिवेशन में अधिकतम 'विचरण' (Variant) को ही स्वीकृति मिली।

सोवियत रूस की प्रथम पंचवर्षीय योजना (1928-33) कुछ आशावादी परिकल्पनाओं पर आधारित थी। ये परिकल्पनाएँ (मान्यताएँ) चार थीं—(i) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर रूस की साख बढ़ जाने से निर्यातों में अच्छी वृद्धि होगी। (ii) कृषि-फसलों का उत्पादन आशानुकूल रहेगा। (iii) उत्पादन-लागतों में गिरावट आएगी। (iv) सुरक्षा-व्यय में कटौती सम्भव होगी। परन्तु योजनाकाल में जापान द्वारा युद्ध की धमकी तथा संसारव्यापी मन्दी ने योजना की अधिकाँश परिकल्पनाओं को झूठा बना दिया। कृषि-वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में गिरावट का रूस के निर्यात-व्यापार (जिसमें कृषि-वस्तुओं की प्रधानता थी) पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

योजना के उद्देश्य—रूस की प्रथम योजना का मूलभूत उद्देश्य समाजवादी आधार पर कृषि, उद्योग एवं परिवहन-प्रणाली को पुनर्गठित करना था। योजना का दूसरा प्रमुख उद्देश्य आधारभूत उद्योगों के विकास द्वारा राष्ट्रीय आय में द्रुत

गति से वृद्धि करना था। योजना के पाँच वर्षों में राष्ट्रीय आय में 56 प्रतिशत की वृद्धि प्रस्तावित थी। कुल निवेश-साधनों का एक-तिहाई भाग औद्योगिक क्षेत्र के लिए प्रस्तावित था। योजना में आधारभूत उद्योगों के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गई। औद्योगिक क्षेत्र का तीन-चौथाई निवेश आधारभूत उद्योगों के लिए ही आयोजित था। निवेश की दर बढ़ाकर राष्ट्रीय आय की 25 प्रतिशत से लेकर 33 प्रतिशत तक कर देने का लक्ष्य था। निवेश-वृद्धि के लिए उपभोग में कटौती आवश्यक थी। अतः राष्ट्रीय आय के साथ उपभोग-व्यय का अनुपात 1928-29 में 77 प्रतिशत से घटाकर 1932-33 तक 66 प्रतिशत कर देने का लक्ष्य रक्खा गया। राष्ट्रीय आय, सकल निवेश तथा निवस निवेश के सम्बन्ध में रूस की प्रथम योजना के निर्धारित लक्ष्य निम्न प्रकार थे।

(हजार मिलियन रूबल में)

वर्ष	राष्ट्रीय आय	सकल निवेश	निवल निवेश
1928-29	27·5	9·70	6·22
1929-30	30·9	12·41	8·71
1930-31	34·8	15·22	11·18
1931-32	38·7	17·34	12·85
1932-33	43·3	19·55	14·54

योजनाकाल में कृषि—रूस की प्रथम योजना के कृषि-क्षेत्र से सम्बन्धित दो मुख्य उद्देश्य थे—(i) खाद्योत्पादन में 35 प्रतिशत की वृद्धि द्वारा कृषि की उत्पादकता बढ़ाना। (ii) सामूहिक प्रक्षेत्रों (Kolkhoz) और सरकारी प्रक्षेत्रों (Sovkboz) की स्थापना द्वारा कृषि का समाजीकरण करना।

'कृषि का सामूहिकीकरण' सोवियत सरकार की आर्थिक नीति का आधारभूत अङ्ग था। प्रथम योजनावधि में सामूहिक खेती का सूत्रपात हुआ तथा इस दिशा में सोवियत सरकार को अल्पकाल में ही आशातीत सफलता प्राप्त हुई। 1928 में सामूहिक खेती के अन्तर्गत केवल 13·9 लाख हैक्टेयर भूमि सम्मिलित थी, जो 1929 में बढ़कर 42·6 लाख हैक्टेयर तथा 150 लाख हैक्टेयर हो गई। सामूहिक खेती के विस्तार के साथ-साथ इसके उत्पादन में भी वृद्धि हुई। 1927 में सहकारी और सामूहिक खेती के अन्तर्गत कुल 3 5 करोड़ पूड खाद्यान्न उत्पन्न हुआ था। 1929 में इसकी मात्रा बढ़कर 40 करोड़ पूड़ हो गई। नवम्बर 1926 में सामूहिक फार्मों की संख्या 14,832 थी, जिनमें 195 हजार कृषक परिवार सम्मिलित थे। मार्च 1930 तक सामूहिक फार्मों की संख्या बढ़कर 110,200 हो

गई, जिनमें 14,300 हजार कृषक परिवार सम्मिलित थे। इस तरह, 1930 तक सामूहिक खेती में सम्मिलित हो गए, जबकि योजनाकाल में एक-चौथाई कृषि-क्षेत्र को ही सामूहिक खेती में सम्मिलित करने का लक्ष्य था। योजना के अन्त तक बाजार में 84 प्रतिशत कपास की आपूर्ति सामूहिक और सरकारी फार्मों द्वारा की जाने लगी। सामूहिक कृषि के विस्तार के साथ-साथ धनी कृषकों (कुलक) संख्या 1928 में 50 लाख से घटकर 1934 में केवल 15 लाख रह गई। कृषि के समूहीकरण से ट्रैक्टरों की संख्या तो छः या सात गुनी बढ़ गई, किन्तु मवेशियों की संख्या घटकर लगभग आधी रह गई।

सरकारी प्रक्षेत्रों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य अनाज की आपूर्ति नियमित बनाना था। इस उद्देश्य से 'ग्रेन ट्रस्ट' की स्थापना की गई थी। प्रारम्भ में सरकारी फार्म 10 हजार एकड़ से अधिक आकार वाले थे, जिसके कारण इनके प्रबन्ध में कठिनाई होती थी। अतः 1932 में सरकारी फार्मों का पुनर्गठन किया गया। इनका अधिकतम आकार पाँच हजार एकड़ तक सीमित कर दिया गया। ग्रेन ट्रस्ट को प्रादेशिक ग्रेन ट्रस्टों में विभाजित कर दिया गया। 1932 में सरकारी फार्मों के अन्तर्गत 1/10 कृषि-क्षेत्र सम्मिलित था।

रूस की प्रथम योजना में अनाज-उत्पादन का निर्धारित लक्ष्य 106 मिलियन टन था, जो 1928 के उत्पादन (73·3 मिलियन टन) से 35 प्रतिशत अधिक था। समूहीकरण की तीव्रता तथा प्रशासन की स्वेच्छाचारिता का कृषि-उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव उपस्थित हुआ। योजना के अन्त (1932) में अनाज का उत्पादन घटकर 69·9 मिलियन टन रह गया।

योजनाकाल में उद्योग—रूस में आर्थिक नियोजन की शुरुआत कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था को उद्योग-प्रधान अर्थव्यवस्था में बदलने का उद्देश्य सामने रखकर की गई थी। प्रथम योजना में भारी एवं आधारभूत उद्योगों के विकास पर विशेष बल दिया गया तथा औद्योगिक उत्पादन में 138 प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया। मौरिस डॉब के शब्दों में, "प्रथम योजना सुदृढ़ आधार पर भारी उद्योगों की स्थापना के उद्देश्य में सफल रही तथा प्रमुख उद्योगों का उत्पादन निर्धारित लक्ष्य से भी अधिक रहा।" भारी तथा आधारभूत उद्योगों के उत्पादन में 250 प्रतिशत की, मशीनरी के उत्पादन में 400 प्रतिशत की तथा खनिज तेल के उत्पादन में 200 प्रतिशत की वृद्धि हुई। योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय में औद्योगिक क्षेत्र का हिस्सा बढ़कर 70 प्रतिशत हो गया, जबकि योजना के प्रारम्भ में यह केवल 42 प्रतिशत था। पूँजीगत-वस्तु उद्योगों की प्रगति अधिक सराहनीय रही।

योजनाकाल में लोहा एवं इस्पात तथा कोयले का उत्पादन लक्ष्य से कम रहा। योजना के अन्त में खनिज लोहे का उत्पादन 62 लाख टन और इस्पात का उत्पादन 59 लाख टन रहा, जबकि निर्धारित लक्ष्य एक करोड़ टन का था।

कोयले का उत्पादन 640 लाख टन रहा, जबकि निर्धारित लक्ष्य 750 लाख टन का था। उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों का उत्पादन या तो बढ़ नहीं पाया या घट गया। 1932 में ऊनी और सूती वस्त्रों का उत्पादन 1928 के स्तर से भी नीचे था। यद्यपि कारखानों द्वारा निर्मित उपभोक्ता-वस्तुओं में 87 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, किन्तु यह वृद्धि हस्तशिल्प तथा स्थानीय उद्योगों की आहुति देकर हो पाई थी। योजनाकाल में औद्योगिक श्रम की उत्पादकता में 110 प्रतिशत की वृद्धि आयोजित थी, किन्तु वास्तविक वृद्धि केवल 41 प्रतिशत की हो पाई। फलत: औद्योगिक परियोजनाओं के परिचालन हेतु श्रम का अभाव उत्पन्न हो गया। श्रम की माँग बढ़ने से मजदूरी बहुत बढ़ गई, जिसका उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। मौरिस डॉब के शब्दों में, "उच्च प्रबन्धकीय स्तर पर आधे से अधिक व्यक्ति ऐसे थे, जिन्हें विशिष्ट तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त नहीं था।"

प्रथम योजना की आलोचनात्मक समीक्षा—रूस की प्रथम योजना 30 सितम्बर 1928 से आरम्भ हुई थी। 31 दिसम्बर 1932 को यह समाप्त घोषित कर दी गई। सरकारी स्तर पर दावा किया गया कि योजनाकाल में निर्धारित लक्ष्य से मशीनरी एवं विद्युत साजसामान के क्षेत्र में 157 प्रतिशत, भारी धातुकार्मिक उद्योग के क्षेत्र में 67.7 प्रतिशत तथा उपभोक्ता-वस्तु उद्योग के क्षेत्र में 73.5 प्रतिशत अधिक मूल्य का उत्पादन हुआ है। कृषि का सामूहीकरण 25 प्रतिशत, कृषि-क्षेत्र (लक्ष्य) की बजाय 60 प्रतिशत कृषि-क्षेत्र में सम्पन्न हुआ है। परन्तु वास्तविकता यह है कि 'वस्तु-अभाव' (Goods Faminc) के कारण योजना के दौरान कीमत-स्तर से तेजी से बढ़ा था। अत: उत्पादन के भौतिक लक्ष्य पूरे नहीं हो पाए थे। 1932 में अनाज का वास्तविक-उत्पादन 106 मिलियन टन के निर्धारित लक्ष्य से 36 मिलियन टन कम था। इस्पात का वास्तविक उत्पादन 10 मिलियन टन के निर्धारित लक्ष्य से 4 मिलियन टन कम था।

आलोचकों की राय में रूस की प्रथम योजना अपरिपक्व (Crude) विचारों पर पर आधारित थी तथा उसकी क्रियान्विति भी दोषपूर्ण थी। योजना में कृषि के परिमाणात्मक विकास पर ही ध्यान दिया गया था, कृषि के गुणात्मक विकास पर नहीं। औद्योगिक क्षेत्र में उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों की उपेक्षा से वस्तुओं के अभाव तथा स्फीतिक दबावों को जन्म मिला। 'तीसा' की संसारव्यापी मन्दी के समय रूस में मुद्रा-स्फीति की विपरीत स्थिति विद्यमान थी। योजना में परिवहन और संचार साधनों के विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। पूँजी की न्यूनता और तकनीकी विशेषज्ञों का अभाव योजना की सफल क्रियान्विति में बाधक सिद्ध हुए। ग्रामीण क्षेत्रों में कुलकों को निर्दयतापूर्वक समाप्त किया गया। दस्तकारियों तथा स्थानीय उद्योगों की बलि देकर कारखाना-उद्योग समाप्त किए गए।

सोवियत रूस के आर्थिक विकास में उसकी प्रथम योजना का महत्व इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि इस योजना द्वारा रूस से अपनी भावी अर्थव्यवस्था का

ठोस आधार तैयार किया। यद्यपि रूस की प्रथम योजना कृषि-उत्पादन बढ़ाने में असफल रही, किन्तु योजनाकाल में रूस के औद्योगीकरण की दर पर्याप्त ऊँची रही। इसीलिए 1928 और 1934 के बीच रूस के औद्योगिक क्षेत्र में संलग्न श्रमशक्ति 131 लाख हो गई। रूस ने यह प्रगति ऐसे समय में कर दिखाई; जबकि संसार के पूँजीवादी देश भयंकर मन्दी और बेरोजगारी से ग्रस्त थे। जहाँ 1930 से लेकर 1933 तक संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस के औद्योगिक उत्पादन में क्रमशः 55 प्रतिशत, 89 प्रतिशत, 66 प्रतिशत और 77 प्रतिशत की गिरावट आई; वहीं रूस के औद्योगिक क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई। औद्योगिक क्षेत्र में प्रथम योजना की सफलता को देखकर स्टालिन ने कहा था, "सोवियत रूस धातुओं, स्वचालित वाहनों और ट्रैक्टरों का देश बन रहा है।" तीसा की महामन्दी के समय रूस के द्रुत औद्योगिक विकास ने संसार का ध्यान नियोजित अर्थव्यवस्था की अच्छाइयों की ओर आकर्षित किया।

प्रश्न 2—द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व सोवियत रूस द्वारा अपनी पंचवर्षीय योजनाओं में अपनाई गई आर्थिक प्राथमिकताओं का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

Examine critically the economic priorities adopted by Soviet Russia in her five yearp lans in the period before Second World War.

उत्तर—आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया में निवेश-कार्यक्रम के लिए प्राथमिकताओं का विवेकपूर्ण निर्धारण सम्मिलित होता है। प्राथमिकताओं का निर्धारण भौतिक, मानवीय एवं वित्तीय संसाधनों की उपलब्धता पर विचार करते हुए, अर्थव्यवस्था की अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन आवश्यकताओं के सन्दर्भ में किया जाता है। रूस सरीखी समाजवादी अर्थव्यवस्था का 'नियोजन' अभिन्न अङ्ग होता है। आर्थिक नियोजन की व्यूह-रचना या तो सन्तुलित विकास की ओर उन्मुख होती है या असन्तुलित विकास की ओर।

सोवियत रूस में नियोजित विकास कार्य 1928 में आरम्भ हुआ। प्रथम पंचवर्षीय योजना समय से एक वर्ष पूर्व (31 दिसम्बर 1932) समाप्त घोषित कर दी गई। देसरी पंचवर्षीय योजना 1933 में आरम्भ होकर 1937 में समाप्त हुई। 1938 में जब रूस की तीसरी पंचवर्षीय योजना आरम्भ हुई, उस समय यूरोप पर युद्ध के बादल मँडरा रहे थे। जून 1941 में हिटलर के आक्रमण के पश्चात् रूस को अपनी तीसरी योजना स्थागित कर देनी पड़ी। रूस की चौथी पंचवर्षीय योजना 1946 में (महायुद्ध की समाप्ति से एक वर्ष बाद) आरम्भ हुई। 1943 से लेकर 1945 तक रूस अपनी अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण में संलग्न रहा।

पहली योजना की प्राथमिकताएँ—रूस की प्रथम पंचवर्षीय योजना (1928-33) का आधारभूत उद्देश्य ऐसा उद्योग सृजित करना था, जो न केवल समस्त उद्योग-धन्धों को बल्कि परिवहन एवं कृषि-व्यवस्था को भी समाजवादी आधार पर पुनर्गठित कर सके। योजना में औद्योगिक विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान

की गई। कुल निवेश-राशि का एक-तिहाई भाग उद्योगों के लिए प्रस्तावित किया गया। औद्योगिक क्षेत्र के लिए प्रस्तावित निवेश में से तीन-चौथाई हिस्सा आधारभूत उद्योगों में लगाने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार, रूस की प्रथम पंचवर्षीय योजना में भारी एवं आधारभूत उद्योगों के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता प्राप्त हुई। कृषि-क्षेत्र में सामूहिक फार्मों तथा सरकारी फार्मों की स्थापना द्वारा कृषि के समूहीकरण को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गई।

रूस की पहली योजना अपने प्राथमिक उद्देश्य की पूर्ति (सुदृढ़ आधार पर भारी उद्योगों की स्थापना) में सफल रही। अनेक उद्योगों का उत्पादन निर्धारित लक्ष्य को भी पार कर गया। पूँजीगत-वस्तु उद्योगों ने विशेष रूप से उन्नति की। चूँकि योजना में उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों को उचित महत्व प्रदान नहीं किया गया था, इसलिए उपभोक्ता-वस्तुओं का अभाव उत्पन्न हो गया तथा कीमत-वृद्धि को प्रोत्साहन मिला। कृषि के समूहीकरण में दबाव का अंश सम्मिलित होने से वास्तविक उपलब्धि लक्ष्य से बहुत अधिक रही, किन्तु इसका उत्पादन-वृद्धि की प्रेरणा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। फलत: 1932 में कृषि का उत्पादन घटकर 1928 के स्तर से भी नीचा हो गया। यद्यपि कारखाना-उद्योगों द्वारा उत्पादित उपभोक्ता-वस्तुओं की मात्रा में 87 प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु यह वृद्धि दस्तकारियों तथा स्थानीय उद्योगों की बलि देकर सम्भव हुई। योजना-निर्माताओं ने परिवहन एवं संचार साधनों के विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, जो उनकी सबसे बड़ी भूल थी। कृषि के गुणात्मक विकास की उपेक्षा उनकी दूसरी बड़ी भूल थी। योजना में राष्ट्रीय आय के साथ उपभोग-व्यय का अनुपात 1927-28 में 77 प्रतिशत से घटाकर 1932-33 में 66 प्रतिशत कर देना प्रस्तावित था, किन्तु वस्तुओं का अभाव उत्पन्न होने से जनसाधारण के वास्तविक उपभोग में गिरावट कहीं अधिक रही।

दूसरी योजना की प्राथमिकताएँ—रूस की दूसरी पंचवर्षीय योजना (1933-37) के दो मुख्य उद्देश्य थे—(i) सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की तकनीकी पुनर्निर्माण, ताकि 80 प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन नए उपक्रमों से प्राप्त होने लगे। (ii) अब तक प्राप्त आर्थिक सफलताओं को सुदृढ़ बनाना, ताकि वे राष्ट्रीय जीवन का स्वचालित हिस्सा बन जायें। योजना में कुल प्रस्तावित निवेश 133.4 मिलियार्ड रूबल था किन्तु वास्तविक निवेश 114.7 मिलियार्ड रूबल रहा। वास्तविक निवेश में विभिन्न मदों का हिस्सा तालिका के अनुसार रहा—

मदें	कुल निवेश (मिलियार्ड रूबल)	कुल निवेश का प्रतिशत
1· उद्योग	55·6	48·5
2. कृषि	14·5	12·7
3· परिवहन एवं संचार	21.8	19.0
4· व्यापार एवं वितरण	2·0	1·7
5· सामाजिक सेवाएँ	20·8	18·1
योग	114·7	100·0

इस प्रकार पहली योजना की तरह, रूस की दूसरी योजना में भी औद्योगिक विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता प्राप्त हुई; क्योंकि रूस में योजनाकरण का मूलभूत उद्देश्य कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था को उद्योग-प्रधान अर्थव्यवस्था में बदलना स्वीकार किया गया है। प्राथमिकताओं के क्रम में परिवहन एवं संचार साधनों को दूसरा, सामाजिक सेवाओं को तीसरा तथा कृषि,विकास को चौथा स्थान प्राप्त हुआ। प्रथम योजनावधि में जनसाधारण के उपभोग-स्तर में 20 प्रतिशत की गिरावट आई थी। इस प्रवृत्ति की रोकथाम के लिए दूसरी योजना में उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों के विकास पर विशेष बल दिया गया तथा इनपर पूँजीगत-वस्तु उद्योगों की अपेक्षा अधिक निवेश की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय आय के साथ निवेश-व्यय का अनुपात, जो 1932 में 28 प्रतिशत था, घटाकर 1937 में 19·5 प्रतिशत कर देने का आयोजन भी था, ताकि उपभोग-व्यय में इच्छित वृद्धि हो सके।

द्वितीय योजनावधि में रूस की आर्थिक प्रगति सन्तोषजनक रही। बड़े पैमाने के उद्योगों (मुख्यत: आधारभूत उद्योगों) के उत्पादन में 129 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि लक्ष्य 114 प्रतिशत वृद्धि का था। विद्युत शक्ति का उत्पादन 245 लाख किलोवाट के लक्ष्य से 9 लाख किलोवाट अधिक रहा। औद्योगिक श्रमिकों की उत्पादकता में पर्याप्त वृद्धि हुई तथा तकनीकी प्रगति भी उत्साहवर्द्धक रही। उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों का उत्पादन लक्ष्य से कम रहा, जिसका मुख्य कारण युद्ध की आशंका को देखते हुए प्रतिरक्षा उद्योगों की स्थापना था। योजना के अन्त तक 93 प्रतिशत किसानों ने सामूहिक खेती को स्वीकार कर लिया। 1932 की अपेक्षा 1937 में अनाज का उत्पादन 50 प्रतिशत, सब्जियों का उत्पादन 25 प्रतिशत तथा चीनी का उत्पादन 100 प्रतिशत अधिक हुआ। फलत: अकाल की सम्भावना पूर्णतया समाप्त हो गई। रेलों और सड़कों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। प्रथम योजना की अपेक्षा दूसरी योजनावधि में रेलों के विस्तार पर तिगुनी राशि खर्च की गई। अस्पतालों में बिस्तरों की संख्या में 11 गुनी, इंजीनियरों की संख्या में 7·7 गुनी, वैज्ञानिकों की सख्या में 7·5 गुनी तथा कृषि-विशेषज्ञों की संख्या में 5 गुनी वृद्धि हुई। प्रतिव्यक्ति औसत आय में 42 प्रतिशत की वृद्धि (कार्यशील जनसंख्या में 32 लाख की वृद्धि के बावजूद) हुई। योजना के अन्त तक नवीन आर्थिक नीति एवं राजकीय पूँजीवाद के समय की मिश्रित अर्थव्यवस्था लुप्त हो गई तथा उसका स्थान समाजवादी अर्थव्यवस्था ने ले लिया।

तीसरी योजना की प्राथमिकताएँ—1938 में आरम्भ रूस की तीसरी पंचवर्षीय योजना का केन्द्रीय उद्देश्य समाजवादी अर्थव्यवस्था को साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था में परिणित करना था। द्रुतगति से औद्योगीकरण हेतु परिवहन-सुविधाओं का विस्तार तथा रासायनिक उद्योगों के विकास पर विशेष बल रूस की तीसरी योजना के अन्य प्रमुख उद्देश्य थे। प्रस्तावित निवेश-राशि के विचार से पहली और दूसरी योजनाओं की अपेक्षा तीसरी योजना बड़े आकार की थी। तीसरी योजना

में कुल 188·2 मिलियार्ड रूबल का परिव्यय प्रस्तावित था, जो विकास की विभिन्न मदों पर निम्न तालिका के अनुसार बाँटा गया था—

विकास की मदें	प्रस्तावित परिव्यय (मिलियार्ड रूबल)	कुल परिव्यय का प्रतिशत
1· उद्योग	103·6	55·1
2· कृषि	18·0	9·6
3· परिवहन एवं संचार	37·5	19·9
4· व्यापार एवं वितरण	2·5	1·3
5· सामाजिक सेवाएँ	26·6	14·1
योग	188·2	100·0

इस तरह, प्रस्तावित विवेश के विचार से रूस की तीसरी योजना में औद्योगिक क्षेत्र को प्रथम, परिवहन एवं संचार को द्वितीय, सामाजिक सेवाओं को तृतीय तथा कृषि-क्षेत्र को चतुर्थ स्थान प्राप्त हुआ। प्राथमिकताओं का यह क्रम दूसरी योजना के अनुरूप था। प्रारम्भ में उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाकर जन-साधारण के रहन-सहन को ऊपर उठाने पर बल दिया गया था ; किन्तु युद्ध की आशंका ने प्राथमिकताओं में परिवर्तन आवश्यक बना दिया। फलतः औद्योगिक क्षेत्र में विनियोजित राशि का केवल 15 प्रतिशत उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों में लगाया गया। यह अनुपात प्रथम योजना में उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों पर किए गए निवेश-अनुपात के सामान था। सुरक्षा की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए संचार-साधनों के विकास पर समुचित ध्यान दिया गया। योजनावधि में 7000 मील लम्बी नई रेलवे लाइनें बिछाने, 5000 मील लम्बी रेलवे लाइनों को दुहरा बनाने तथा 1200 मील लम्बी रेलवे लाइनों के विद्युतीकरण का आयोजन था (दूसरी योजनावधि में केवल 2500 मील लम्बी नई रेलवे लाइनें बिछायी गई थीं)।

जून 1941 में जब हिटलर ने रूस-जर्मन संधि की अवहेलना करते हुए रूस पर आक्रमण किया तब समूचा रूस विशाल रण-क्षेत्र में परिणित हो गया। इस तरह, रूस की तीसरी योजना केवल साढ़े तीन वर्षों में समाप्त हो गई। इस अवधि में 130 मिलियार्ड रूबल की पूँजी का निर्माण हुआ, जिसका एक-तिहाई भाग पूर्वी क्षेत्र के विकास में लगाया गया। औद्योगिक उत्पादन 14 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य था। 1938 से लेकर 1940 तक औद्योगिक उत्पादन में कुल 44 प्रतिशत की वृद्धि हुई। पूँजीगत-वस्तुओं के उत्पादन में 50 प्रतिशत तथा उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में 33 प्रतिशत की वृद्धि हुई। सकल राष्ट्रीय उत्पादन में 40 प्रतिशत की

वृद्धि हुई। 1940 में रूस ने 183 लाख टन इस्पात, 1660 लाख टन कोयला, 310 लाख टन खनिज तेल, 150 लाख टन खनिज लोहा, 383 लाख टन अनाज तथा 170 लाख टन कपास का उत्पादन किया। समूची रेलवे प्रणाली का पुनर्निर्माण इस काल की प्रमुख विशेषता थी।

प्रश्न 3—सोवियत संघ की चौथाई पंचवर्षीय योजना की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। पहली योजनाओं से यह किसी तरह भिन्न थी ?

Describe the main features of the Fourth Five Year Plan of Soviet Union. How did it differ from the earlier plans ?

उत्तर—द्वितीय महायुद्ध के दौरान रूस में जन-धन की अपार क्षति हुई। युद्ध की समाप्ति पर रूस ने अपनी अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण आरम्भ किया। मार्च 1946 में रूस की चौथी पंचवर्षीय योजना युद्धोत्तरकालीन पुनर्निर्माण एवं आर्थिक विकास की योजना के रूप में ही लागू हुई। योजना के प्रारूप का निर्माण फरवरी 1955 में आरम्भ हुआ। प्रारूप को अन्तिम स्वीकृति मार्च 1946 में मिली।

योजना के उद्देश्य—रूस की चौथी पंचवर्षीय योजना (1946-50) के चार स्वीकृत उद्देश्य थे—(i) युद्धकाल में विनष्ट अर्थव्यवस्था का तेजी से पुनर्निर्माण (ii) औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाकर युद्ध-पूर्व स्तर का डेढ़ गुना करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आधारभूत उद्योगों के पुनर्निर्माण को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गई। (iii) कृषि की समुन्नति तथा खाद्य-पदार्थों एवं उपभोक्ता-सामग्रियों का अधिक से अधिक उत्पादन (iv) रूस की सामरिक क्षमता का विस्तार।

योजना का प्रस्तावित परिव्यय—चौथी पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित पुनर्निर्माण एवं विकास कार्यक्रमों के लिए कुल 250 मिलियार्ड रूबल का परिव्यय प्रस्तावित था। इसका 41 प्रतिशत औद्योगिक क्षेत्र के लिए, 19·1 प्रतिशत कृषि-क्षेत्र के लिए, 18·4 प्रतिशत संचार-साधनों के लिए. 19·7 प्रतिशत सामाजिक सेवाओं के लिए तथा 1·8 प्रतिशत व्यापार एवं वितरण के लिए निर्धारित किया गया। इस तरह, प्राथमिकता के क्रम में उद्योगों को पहला, सामाजिक सेवाओं को दूसरा, कृषि को तीसरा तथा परिवहन एवं संचार को चौथा स्थान प्राप्त हुआ। मौरिस डॉब (Maurice Dobb) के अनुसार, प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से धनी होने के बावजूद अभी तक रूस पूँजीगत निवेश की दृष्टि से धनवान नहीं बन पाया। इसलिए रूस की योजनाओं में उद्योग की विभिन्न शाखाओं को प्राथमिकता दिया जाना स्वाभाविक था।

योजना के लक्ष्य—चौथी योजना के स्वीकृत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्न भौतिक लक्ष्यों का निर्धारण किया गया था—

(1) **राष्ट्रीय आय**—पाँच वर्षों की अवधि के भीतर राष्ट्रीय आय में

38 प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया। इस उद्देश्य से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्राथमिक, द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्रों के लिए विकास के लक्ष्य निर्धारित किए गए।

(2) **आधारभूत एवं भारी उद्योग**—अर्थ यवस्था के पुनर्निर्माण तथा सामरिक क्षमता में वृद्धि के उद्देश्य से योजना में भारी एवं आधारभूत उद्योगों के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गई एवं इस्पात के उत्पादन में 35 प्रतिशत, कोयला के उत्पादन में 51 प्रतिशत, विद्युत के उत्पादन में 60 प्रतिशत तथा रासायनिक पदार्थों के उत्पादन में 50 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया। इंजीनियरिंग सामान एवं रेलवे इंजनों का निर्माण युद्ध-पूर्व स्तर से दुगुना तथा ट्रैक्टरों एवं मोटर वाहनों का उत्पादन युद्ध-पूर्व स्तर से तिगुना करने का लक्ष्य था।

(3) **उपभोक्ता-वस्तु उद्योग**—उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों के उत्पादन में 25 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया। युद्ध-पूर्व स्तर से सूती वस्त्रों का 34 प्रतिशत, ऊनी वस्त्रों का 39 प्रतिशत, चमड़े के जूतों का 12 प्रतिशत, कपड़े के जूतों का 30 प्रतिशत, कृत्रिम रेशम का 35 प्रतिशत, कागज का 65 प्रतिशत, मछलियों का 50 प्रतिशत अधिक उत्पादन प्राप्त करने का आयोजन था। योजनाकाल में कैमरा, साईकिल, सस्ती मोटरसाईकिल, रेडियो, घड़ी और ग्रामोफोन सरीखी टिकाऊ उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन शुरु करने की व्यवस्था भी की गई।

(4) **कृषि**—युद्ध-पूर्व स्तर से अनाज के उत्पादन में 7 प्रतिशत, चुकन्दर के उत्पादन में 22 प्रतिशत, कपास के उत्पादन में 25 प्रतिशत तथा फ्लैक्स (Flax) के उत्पादन में 39 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया। माँस का उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से भेड़, बकरी और सुअर सरीखे पशुओं की सख्या-वृद्धि पर बल दिया गया।

(5) **परिवहन**—चौथी योजना में परिवहन-प्रणाली के विकास से सम्बन्धित दो तरह के कार्यक्रम स्वीकार किए गए—(i) युद्धकाल में क्षतिग्रस्त सड़कों, नहरों तथा रेलों का पुनर्निर्माण। (ii) परिवहन-सुविधाओं का विस्तार। योजनाकाल में 7 हजार मील लम्बी नई सड़कों, 4500 मील लम्बी नई रेलवे लाइनों तथा 8 हजार मील लम्बे नौकाचालन योग्य आन्तरिक जल-मार्ग के निर्माण का लक्ष्य रक्खा गया। योजनाकाल में रेलों, सड़कों और आन्तरिक जल मार्गों द्वारा ढोए जाने वाले यातायात में युद्ध-पूर्व स्तर से 33 प्रतिशत की वृद्धि प्रत्याशित थी।

(6) **क्षेत्रीय सन्तुलन**—रूस की द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान सन्तुलित क्षेत्रीय विकास के उद्देश्य से बहुत-से उद्योग पूर्वी क्षेत्र में (जहाँ खनिज पदार्थों की प्रचुरता थी) स्थानान्तरित किए गए। शनैः शनैः पूर्वी क्षेत्र का औद्योगिक महत्व बढ़ने लगा। जहाँ 1913 में पूर्वी क्षेत्र समूचे देश के कोयला-उत्पादन का मात्र 13 प्रतिशत उत्पन्न करता था, वहीं 1938 में यह 31 प्रतिशत उत्पन्न करने लगा। द्वितीय महायुद्ध के दौरान पश्चिमी और दक्षिणी-पश्चिमी क्षेत्रों के अधिकांश उद्योग

पूर्ववर्ती योजनाओं से चौथी योजना की भिन्नता—रूस की चौथी योजना मुख्यतः युद्धोत्तरकालीन पुनर्निर्माण की योजना के रूप में लागू की गई थी; जबकि इससे पूर्व की योजनाएँ मुख्यतः आर्थिक विकास की योजनाएँ थीं। पूर्ववर्ती योजनाओं का मुख्य उद्देश्य रूस की 'कृषि-प्रधान मिश्रित अर्थव्यवस्था' को उद्योग-प्रधान समाजवादी अर्थव्यवस्था में परिणित करना था। आर्थिक नियोजन के प्रथम दशक (1928-38) में रूस के लोहा एवं इस्पात, कोयला, खनिज तेल और विद्युत उद्योगों की उत्पादन-क्षमता बढ़कर क्रमशः चार गुनी, तीन गुनी, साढ़े तीन गुनी और सात गुनी हो गई। अनेक नए उद्योग स्थापित हुए, जैसे—वायुयान-निर्माण, भारी रसायन, अल्यूमिनियम, ताँबा, राँगा, टीन आदि। रूस संसार भर में सर्वाधिक ट्रैक्टर और रेलवे इंजिन बनाने वाला देश बन गया। खनिज तेल, सोना तथा फॉस्फेट के उत्पादन में उसका दूसरा स्थान हो गया। 1928 के औद्योगिक उत्पादन की अपेक्षा 1938 में रूस का औद्योगिक उत्पादन चौगुना हो गया। कृषित-क्षेत्र 10·5 करोड़ हैक्टेयर से बढ़कर 18·5 करोड़ हैक्टेयर हो गया। 93 प्रतिशत कृषक परिवार सामूहिक खेती में सम्मिलित हो गए तथा 99 प्रतिशत अनाज सामूहिक फार्मों में पैदा किया जाने लगा।

तीसरी योजना का केन्द्रीय उद्देश्य रूस की समाजवादी अर्थव्यवस्था को साम्यवादी अर्थव्यवस्था में परिणित करना था। पहली और दूसरी योजनाओं की तरह. रूस की तीसरी योजना में भी औद्योगिक विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गई। जून 1941 में जब हिटलर ने रूस पर आक्रमण किया, तब रूस की समूची अर्थव्यवस्था 'युद्धकालीन अर्थव्यवस्था' में परिणित हो गई। युद्ध के दौरान रूस के 70 लाख व्यक्ति मारे गए तथा 50 लाख घायल हुए। लगभग 8 लाख वर्गमील क्षेत्र में आधी कोयला-खानों, आधी विद्युत-सृजन क्षमता, 40 हजार मील लम्बी रेल की लाइनों, 41 हजार छोटे-बड़े कारखानों, 68 हजार सामूहिक फार्मों, 2900 मशीन-ट्रैक्टर स्टेशनों, 137 हजार ट्रैक्टरों तथा 49 हजार कम्बाइण्ड हार्वेस्टरों को भारी क्षति पहुँची। यद्यपि रूस ने पुनर्निर्माण का कार्य 1943 में आरम्भ कर दिया था, किन्तु 1945 के अन्त तक इस कार्य में आँशिक सफलता ही प्राप्त हुई। मार्च 1946 में आरम्भ रूस की चौथी योजना का केन्द्रीय उद्देश्य अर्थ-व्यवस्था का तेजी से पुनर्निर्माण करना था। इस कार्य में पूरे दो वर्ष लग गए तथा 1948 तक रूस का औद्योगिक उत्पादन युद्ध-पूर्व स्तर पर पहुंच गया।

प्रश्न 4—सोवियत रूस में स्टालिनोत्तर युगीन नियोजन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

Point out the important features of post Stalin era planning in Soviet Russia.

उत्तर—रूस की प्रारम्भिक योजनाओं पर स्टालिन का पूर्ण प्रभाव था। 1953 में स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत रूस की राजनीतिक एवं आर्थिक

व्यवस्था में क्रमिक परिवर्तन आरम्भ हुआ, जो रूस की पाँचवी और परिवर्ती योजनाओं से स्पष्ट जान पड़ता है।

पाँचवी योजना की विशेषताएँ—रूस की पाँचवी योजना (1951-55) की दो मुख्य विशेषताएँ थीं—(i) समग्र औद्योगिक उत्पादन में 72 प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया, जो पूर्ववर्ती योजनाओं में निर्धारित लक्ष्यों से नीचा था। (ii) पूँजीगत-वस्तुओं तथा उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन-अन्तर घटाने का प्रयास किया गया। तद्नुसार पूँजीगत-वस्तु उद्योगों के उत्पादन में 80 प्रतिशत तथा उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों के उत्पादन में 65 प्रतिशत वृद्धि आयोजित की गई, जबकि विगत योजनाओं में उपभोक्ता-वस्तुओं की अपेक्षा पूँजीगत-वस्तुओं का उत्पादन दुगुनी गति से बढ़ा था। पाँचवी योजनावधि में श्रम की उत्पादकता में 50 प्रतिशत, कृषि-उत्पादन में 40 से 50 प्रतिशत तक तथा समग्र राष्ट्रीय उत्पादन में 60 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया। पूँजीगत-वस्तु उद्योगों की अपेक्षा उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों को वरीयता, उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों में विकेन्द्रीकरण की नीति का अनुसरण तथा क्षेत्रीय आर्थिक नियोजन का आरम्भ पाँचवी योजना की अन्य प्रमुख विशेषताएँ थीं।

पाँचवीं योजना का निष्पादन-कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। मौरिस डॉब (Maurica Dobb) के अनुसार, "पाँचवी योजना के दौरान रूस में औद्योगिक विकास की दर 1899–1937 के बीच अमेरिका में औद्योगिक विकास की औसत दर से तीन गुनी, 1950–1955 के बीच पश्चिमी यूरोप में औद्योगिक विकास दर से तीन गुनी तथा इसी अवधि में अमेरिका की औद्योगिक विकास दर से दो गुनी अधिक थी।" पाँचवी योजना के दौरान रूस के समग्र औद्योगिक उत्पादन में 85 प्रतिशत की वृद्धि हुई। पूँजीगत-वस्तुओं के उत्पादन में 91 प्रतिशत तथा उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में 76 प्रतिशत की वृद्धि हुई। श्रम की उत्पादकता में 44 प्रतिशत तथा राष्ट्रीय आय में 80 प्रतिशत की वृद्धि हुई। योजनावधि में कुल पूँजीगत निवेश 686·7 मिलियार्ड रूबल रहा, जो प्रथम योजनावधि की अपेक्षा 10 गुना अधिक था। योजनाकाल में 2 लाख ट्रैक्टरों की सहायता से 33 मिलियन हैक्टेयर बंजर भूमि को कृषि-योग्य बनाया गया।

छठी योजना की विशेषताएँ—रूस की छठी पंचवर्षीय योजना (1956-60) के दो मुख्य उद्देश्य थे—(i) जनसाधारण के रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाना। (ii) पूँजीगत-वस्तु उद्योगों तथा उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों के बीच समन्वय स्थापित करना। पाँचवी योजना की अपेक्षा छठी योजना में 67 प्रतिशत अधिक पूँजीगत-निवेश प्रस्तावित था। योजनावधि में राष्ट्रीय आय में 60 प्रतिशत, औद्योगिक उत्पादन में 65 प्रतिशत (पूँजीगत-वस्तुओं के उत्पादन में 70 प्रतिशत तथा उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में 60 प्रतिशत), श्रम की उत्पादकता में 50 प्रतिशत, औद्योगिक श्रमिकों की आय में 30 प्रतिशत, उनकी संख्या में 14 प्रतिशत तथा

सामूहिक कृषकों की आय में 40 प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया। कृषि-विकास पर विशेष बल दिया गया। खाद्यान्न के उत्पादन में 38 प्रतिशत, कपास के उत्पादन में 56 प्रतिशत तथा ऊन के उत्पादन में 82 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया। परन्तु रूस की छठी योजना केवल तीन वर्षों तक चल पाई। बाद में इसे सप्तवर्षीय योजना (1959-65) में परिणित कर दिया गया। 1957 में श्रमिकों के काम के दैनिक घण्टे 8 से घटाकर 7 कर दिए गए तथा सामाजिक सुरक्षा की कई स्कीमें आरम्भ की गई। योजनावधि में मशीन-ट्रैक्टर स्टेशनों को समाप्त करते हुए इनके यन्त्र सामूहिक फार्मों के हाथों बेच दिए गए।

सप्तवर्षीय योजना की विशेषताएँ—इस योजना का निर्माण विभिन्न आर्थिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों के सन्दर्भ में किया गया था। योजना का आर्थिक उद्देश्य उत्पादन-शक्तियों का सर्वांगीण विकास तथा भारी उद्योगों को प्राथमिकता प्रदान करते हुए, आर्थिक प्रणाली की समस्त शाखाओं में उत्पादन का ऐसा स्तर प्राप्त करना था, ताकि साम्यवादी व्यवस्था क निर्माण हेतु भौतिक एवं तकनीकी आधार की स्थापना सम्भव हो तथा आर्थिक प्रतियोगिता की दौड़ में रूस पूँजीवादी देशों से आगे निकल जाए। योजना का राजनीतिक उद्देश्य समाजवादी पद्धति का सुदृढ़ीकरण, सोवियत जनता की एकता एवं संघबद्धता, सोवियत जनवाद का विकास तथा साम्यवादी समाज के निर्माण में जनसमुदाय की व्यापक भागीदारी था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में योजना का उद्देश्य विभिन्न सामाजिक व्यवस्था वाले देशों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लेनिनवादी सिद्धान्त के आधार पर विदेश नीति का अनुसरण करना था।

सप्तवर्षीय योजना में सम्मिलित विकास कार्यक्रमों के लिए कुल 1970 हजार मिलियन रूबल का परिव्यय प्रस्तावित था, जो विगत नियोजनकाल (1928 से लेकर 1958 तक) में किए गए समस्त पूँजीगत-निवेश के बराबर था। योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय में 7·4 प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन में 8·6 प्रतिशत (पूँजीगत-वस्तुओं के उत्पादन में 9·4 प्रतिशत तथा। औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन में 7·4 प्रतिशत), कृषि-उत्पादन में 8 प्रतिशत, औद्योगिक श्रम की उत्पादकता में 6·6 प्रतिशत तथा रेलों द्वारा माल-यातायात की ढुलाई में 5·5 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि प्रस्तावित की गई। योजनाकाल में रासायनिक उद्योगों के द्रुत विकास, कोयले के स्थान पर खनिज तेल एवं गैस सरीखे सस्ते ईंधनों के प्रयोग, रेलवे के तकनीकी पुनर्निर्माण तथा आवास की समस्या के निराकरण पर विशेष बल दिया गया। योजनाकाल में रूस ने वैज्ञानिक अनुसंधान एवं तकनीकी विकास के नए मानक स्थापित किए। कुल औद्योगिक उत्पादन में 84 प्रतिशत की वृद्धि हुई। सात वर्ष की अवधि में लगभग साढ़े पाँच हजार औद्योगिक उपक्रम स्थापित हुए। धातुओं, खनिज ईंधनों, रासायनिक पदार्थों तथा मशीनों के उत्पादन में 100 से 150 प्रतिशत की वृद्धि हुई। कृषि-क्षेत्र में छोटे-छोटे फार्मों का बड़े

आकार वाले फार्मों में पुनर्गठन किया गया। फलतः सामूहिक फार्मों की संख्या 1958 में 67,700 से घटकर 1965 में 36,600 रह गई। कृषि-उत्पादन में लक्ष्य से बहुत कम अर्थात् केवल 12 प्रतिशत की वृद्धि हो पाई, किन्तु प्रतिव्यक्ति आय में लगभग 90 प्रतिशत की वृद्धि हुई। योजनाकाल में सर्वाधिक प्रगति आवास के क्षेत्र में हुई। सात वर्षों में लगभग 185 लाख मकानों का निर्माण किया गया।

आठवीं योजना की विशेषताएँ—सोवियत रूस की आठवीं योजना (1966-70) के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे—(i) वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों के अधिकतम उपयोग द्वारा उद्योगों का और अधिक विकास। (ii) कृषि-विकास की दरों को उच्च स्तर पर स्थायित्व प्रदान करना। (iii) औद्योगिक एवं कृषि क्षेत्रों में श्रम की उत्पादकता बढ़ाना। (iv) राष्ट्रीय आय में 38 से 41 प्रतिशत तक की वृद्धि तथा प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में 30 प्रतिशत की वृद्धि। (v) नागरिकों की भौतिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति तथा ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक सेवाओं का प्रसार। सातवीं योजनावधि में कृषि-क्षेत्र पर पूँजीगत-निवेश कुल योजनागत व्यय का 11·3 प्रतिशत था, जिसे आठवीं योजना में बढ़ाकर 17·4 प्रतिशत (अर्थात् 4100 करोड़ रूबल) कर दिया गया; ताकि कृषि का आधार सुदृढ़ बन सके। कृषि-उत्पादन में 33 प्रतिशत तथा औद्योगिक उत्पादन में 47 से 50 प्रतिशत तक की वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया। विद्युतशक्ति, खनिज तेल, कोयला और प्राकृतिक गैस के उत्पादन में क्रमशः 70 प्रतिशत, 45 प्रतिशत, 17 प्रतिशत और 85 प्रतिशत वृद्धि के लक्ष्य निर्धारित किए गए। 133 लाख आवास-गृहों के निर्माण हेतु 60 अरब रूबल का परिव्यय प्रस्तावित किया गया।

आठवीं योजन वधि में राष्ट्रीय आय में 41 प्रतिशत, प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में 33 प्रतिशत, औद्योगिक उत्पादन में 50 प्रतिशत तथा कृषि-उत्पादन में 21 प्रतिशत की वृद्धि हुई। विद्युत शक्ति का उत्पादन 1965 में 507 अरब किलोवाट घण्टे से बढ़कर 1970 में 740 अरब किलोवाट घण्टे, खनिज तेल का उत्पादन 243 मिलियन टन से बढ़कर 353 मिलियन टन, कोयले का उत्पादन 578 मिलियन टन से बढ़कर 624 मिलियन टन, इस्पात का उत्पादन 91 मिलियन टन से बढ़कर 116 मिलियन टन, सीमेन्ट का उत्पादन 72 मिलियन टन से बढ़कर 95 मिलियन टन, रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन 31 मिलियन टन से बढ़कर 55 मिलियन टन तथा वस्त्रों का उत्पादन 7·5 अरब वर्गमीटर से बढ़कर 9·9 अरब वर्गमीटर हो गया। अनाज के उत्पादन में 30 प्रतिशत, कपास के उत्पादन में 22 प्रतिशत, चुकन्दर के उत्पादन में 37 प्रतिशत तथा दूध, माँस एवं अण्डों के के उत्पादन में 24 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

नवीं योजना की विशेषताएँ—रूस की नवीं योजना (1971-75) का प्रमुख ध्येय ऊँची दर से समाजवादी उत्पादन बढ़ाकर नागरिकों के भौतिक, सामाजिक

एवं सांस्कृतिक स्तरों में पर्याप्त सुधार लाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रम की उत्पादकता में सुधार तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति द्वारा समाजवादी उत्पादन की क्षमता बढ़ाना आवश्यक समझा गया। योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय में 40 प्रतिशत तथा प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में 30 प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया। इस योजना के आरम्भ में सोवियत रूस संसार के किसी भी देश से अधिक मात्रा में खनिज लोहा, मैंगनीज, क्रोमियम, कोयला, सीमेन्ट, टैक्टर डीजल एवं विद्युत इंजिनों का उत्पादन कर रहा था। सोवियत रूस आर्थिक विकास की उस अवस्था में पहुंच चुका था कि जनसाधारण को उच्च स्तर की भौतिक एवं सांस्कृतिक सुख-सुविधाएँ उपलब्ध कराई जा सकें।

नवीं योजना के दौरान रूस की अर्थव्यवस्था में चतुर्दिक प्रगति हुई। राष्ट्रीय आय में 34 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जिसका 75 प्रतिशत उपभोग तथा 25 प्रतिशत निवेश पर खर्च किया गया। समग्र औद्योगिक उत्पादन में 43 प्रतिशत की वृद्धि हुई। योजना के अन्त तक ईंधन (कोयला, खनिज तेल और प्राकृतिक गैस) तथा विद्युत शक्ति का उत्पादन बढ़कर घरेलू आवश्यकताओं से भी अधिक हो गया। इंजीनियरिंग माल के उत्पादन में 73 प्रतिशत, मोटरवाहनों के उत्पादन में 100 प्रतिशत तथा कृषि-यन्त्रों के उत्पादन में 78 प्रतिशत की वृद्धि हुई। सभी प्रकार की उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में 37 प्रतिशत की वृद्धि हुई। कृषि-यन्त्रीकरण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति के फलस्वरूप खाद्यान्नों के उत्पादन में 14 मिलियन टन की दर से वार्षिक वृद्धि हुई। 99 प्रतिशत सामूहिक फार्मों पर बिजली का प्रयोग किया जाने लगा। 1965 की अपेक्षा 1975 में ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली का प्रयोग ढाई गुना बढ़ गया। योजनावधि में 11 मिलियन आवास-गृहों का निर्माण हुआ।

दसवीं योजना की विशेषताएँ—सोवियत रूस की दसवीं योजना (1976-80) के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे—(i) स्थिर विकास-दर की गारण्टी, जिसके लिए वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति द्वारा महत्वपूर्ण क्षेत्रों का द्रुत विकास तथा उपभोक्ता-वस्तुओं एवं सामाजिक सेवाओं की आपूर्ति का विस्तार आवश्यक समझा गया। (ii) अधिकतम उत्पादन, जिसके लिए श्रम की उत्पादकता में वृद्धि तथा प्रत्येक क्षेत्र में मितव्ययता आवश्यक समझी गई। (iii) देशवासियों का भौतिक एवं सांस्कृतिक स्तर ऊँचा करने के लिए प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में 20 से 22 प्रतिशत तक की वृद्धि। (iv) उत्पादन के क्षेत्र में समन्वित रूप से वैज्ञानिक एवं तकनीकी साधनों का अधिकाधिक प्रयोग। (v) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अधिकाधिक सहयोग की प्राप्ति। योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय में 24 से 28 प्रतिशत तक, औद्योगिक उत्पादन में 35 से 40 प्रतिशत तक तथा कृषि-उत्पादन में 14 से 17 प्रतिशत तक वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया।

रूसी आर्थिक विकास के इतिहास में दसवीं योजना की प्रगति का महत्वपूर्ण स्थान है। योजनावधि में 1200 बड़ी-बड़ी औद्योगिक इकाइयों का निर्माण हुआ तथा औद्योगिक उत्पादन का मूल्य 1975 में 52,300 करोड़ रूबल से बढ़कर 1980 में 69,300 करोड़ रूबल हो गया। कृषि-उत्पादन में औसतन 9 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हुई। अनाज का उत्पादन बढ़कर 205 मिलियन टन तथा कपास का उत्पादन बढ़कर 10 मिलियन टन हो गया। प्रतिव्यक्ति मासिक आय बढ़कर 100 रूबल पर पहुंच गई। कृषि- विकास को उच्च प्राथमिकता प्रदान करना दसवीं योजना की प्रमुख विशेषता थी।

प्रश्न 5—सोवियत साम्यवादी दल के बीस-वर्षीय कार्यक्रम के प्रमुख उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की व्याख्या कीजिए।

Discuss the main objectives and targets of the twenty years programme of the Soviet Communist party.

उत्तर—अक्तूबर 1961 में हुए सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के 22 वें अधिवेशन में साम्यवादी समाज की स्थापना के लिए बीस-वर्षीय कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। कार्यक्रम का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए ख़ुश्चेव (Khrushchev) ने कहा था, "अब हमारा देश नए शिखर अर्थात् साम्यवाद के शिखर की ओर अग्रसर हो रहा है। अपने संघर्ष में श्रमिक वर्ग तथा उनकी कम्युनिस्ट पार्टी को तीन ऐतिहासिक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है—शोषणकर्त्ताओं के शासन की बलपूर्वक समाप्ति द्वारा सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना, समाजवाद का निर्माण तथा साम्यवादी समाज का सृजन। हमारी पार्टी और जनता प्रथम दो अवस्थाओं से गुजर चुकी है। बीसवीं शताब्दी अपूर्व साम्यवादी विजय की शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समाजवाद ने हमारे धरातल पर पैर जमाया तथा उत्तरार्द्ध में साम्यवाद अपना पैर जमाएगा। इसका मार्ग साम्यवादी पार्टी के नए कार्यक्रम में दर्शाया गया है, जिसे वर्तमान युग का साम्यवादी घोषणा-पत्र माना जा सकता है।"

कार्यक्रम के उद्देश्य—इस कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य सोवियत संघ में साम्यवादी समाज की स्थापना करना था। ख़ुश्चेव के शब्दों में, "कार्यक्रम का प्रारूप पहली बार महान साम्यवादी नारे 'प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार' को साकार रूप देने के ठोस उपाय प्रस्तुत करता है।" इस प्रमुख उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्यक्रम के कुछ राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्य भी स्वीकार किए गए। कार्यक्रम का राजनीतिक उद्देश्य समाजवादी जनतन्त्र के विस्तृत विकास द्वारा सार्वजनिक विषयों के प्रशासन में सभी नागरिकों को भागीदार बनाना तथा समाज को पूर्णरूप से साम्यवादी स्वशासन का सिद्धान्त क्रियान्वित करने योग्य बनाना था। कार्यक्रम का सामाजिक उद्देश्य वर्ग-भेद के अवशेषों को समाप्त करते हुए वर्गहीन समाज की स्थापना करना,

गाँवों और शहरों के बीच तथा शारीरिक एवं मानसिक श्रम के बीच भेदभाव समाप्त करते हुए मनुष्यों में भावनात्मक एकता एवं नैतिक विशुद्धता के गुण विकसित करना था। कार्यक्रम का आर्थिक उद्देश्य रूस की अर्थव्यवस्था का इतना अधिक विकास था, ताकि यह पूँजीवादी देशों की विकसित अर्थव्यवस्थाओं से आगे निकल जाए तथा रूस में प्रतिव्यक्ति आय एवं भौतिक समृद्धि का स्तर संसार के अन्य सभी देशों से ऊँचा हो। इस तरह नए कार्यक्रम के विभिन्न उद्देश्य साम्यवादी पार्टी के नारे 'सब कुछ मानव के लिए, मानव की भलाई के लिए' के अनुरूप थे।

कार्य के लक्ष्य—कार्यक्रम के विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बीस-वर्षीय अवधि में 20,00,000 मिलियन रूबल का पूँजीगत निवेश प्रस्तावित किया गया, ताकि रूस 1980 तक संयुक्त राज्य अमेरिका के कुल उत्पादन तथा प्रतिव्यक्ति उत्पादन से आगे निकल जाए। बीस वर्षों (1961-80) के भीतर रूस की राष्ट्रीय आय में 5 गुनी तथा प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में ढाई गुनी वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया, ताकि रूसी जनता का रहन-सहन का स्तर संसारभर में ऊँचा हो जाए। यह माना गया कि सप्तवर्षीय योजना के अन्त (1965) तक संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के बीच उत्पादन का अन्तर घटकर 30 प्रतिशत रह जाएगा तथा 1980 तक सोवियत संघ सभी देशों से आगे निकल जाएगा।

इस कार्यक्रम से पूर्व रूस की योजनाओं में औद्योगिक क्षेत्र के लिए प्रस्तावित अधिकांश धन पूँजीगत-वस्तु उद्योगों में निवेश किया जाता था। फलतः 1928 और 1940 के बीच पूँजीगत-वस्तुओं का वार्षिक उत्पादन उपभोक्ता-वस्तुओं की अपेक्षा 70 प्रतिशत अधिक था। 20-वर्षीय कार्यक्रम के अन्तर्गत भारी उद्योगों के विकास को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गई; किन्तु भारी उद्योगों के सकल उत्पादन में उपभोक्ता-पदार्थों का हिस्सा बढ़ाने का लक्ष्य रक्खा गया, ताकि 1980 तक पूँजीगत-वस्तुओं तथा उपभोक्ता-वस्तुओं के बीच वार्षिक उत्पादन का अन्तर घटकर लगभग 20 प्रतिशत रह जाए। कार्यक्रम की रूपरेखा में कहा गया। उद्योग के वृद्धिशील संसाधनों का अधिकाधिक उपयोग सोवियत जनता की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा इसकी घरेलू एवं सांस्कृतिक आवश्यकताएँ पूरी करने वाले उद्योगों की स्थापना में होना चाहिए। उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन उपभोक्ताओं की बढ़ती हुई और परिवर्तित माँग के अनुरूप होना चाहिए।" इस तरह, बीस-वर्षीय कार्यक्रम के अन्तर्गत उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों तथा पूँजीगत-वस्तु उद्योगों के बीच सामंजस्य की स्थापना का प्रयास सम्मिलित था। 1960 से लेकर 1980 तक पूँजीगत-वस्तुओं के उत्पादन में सात गुनी तथा उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में पाँच गुनी वृद्धि प्रस्तावित की गई। निम्न तालिका 20-वर्षीय कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रमुख उद्योगों के लिए विकास के भौतिक लक्ष्यों का निर्धारण दर्शाती है—

उद्योग	इकाई	1960 (वास्तविक)	1980 (लक्ष्य)
कुल औद्योगिक उत्पादन	मिलियन रूबल	155	970 से 1000
पूंजीगत-वस्तुओं का उत्पादन	" "	105	720 से 740
उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन	" "	50	250 से 260
विद्युत शक्ति	मिलियार्ड किलोवाट	292	2700 से 3000
इस्पात	मिलियन टन	65	250
खनिज तेल	" "	148	690 से 710
प्राकृतिक गैस	मिलियन घन मीटर	47	680 से 720
कोयला	मिलियन टन	513	1180 से 1200
सीमेन्ट	" "	46	223 से 245
वस्त्र	मिलियन वर्गमीटर	7	20 से 22
चमड़े के जूते	मिलियन जोड़े	419	900 से 1000

कार्यक्रम के अन्तर्गत विद्युत शक्ति के उत्पादन पर अधिक बल दिया गया। यह अनुमान लगाया गया कि 1980 में विद्युतशक्ति का उत्पादन बढ़कर 3000 मिलियार्ड किलोवाट प्रति घण्टा हो जाएगा, जो संयुक्त राज्य अमेरिका में विद्युतशक्ति के उत्पादन से अधिक होगा।

कार्यक्रम के अन्तर्गत सकल कृषि-उत्पादन में साढ़े तीन गुनी, खाद्यान्न के उत्पादन में दुगुनी, दूध के उत्पादन में तीन गुनी तथा माँस के उत्पादन में चार गुनी वृद्धि के लक्ष्य निर्धारित किए गए। निम्न तालिका प्रमुख कृषि-उत्पादों के लिए निर्धारित भौतिक लक्ष्य दर्शाती है—

उत्पाद	इकाई	1960 (वास्तविक)	1980 (लक्ष्य)
खाद्यान्न	मिलियार्ड पूड	8·2	18–19
माँस	मिलियन टन	8·7	30–32
दूध	" "	61·7	170–180
अण्डा	संख्या मिलियार्ड में	274	110–116
ऊन	हजार टन	35·7	1045–1155
कपास	मिलियन टन	4.3	10–11
चुकन्दर	" "	57.7	98–108
आलू	" "	84.4	156
तिलहन	" "	4.3	9–10

वस्तुतः 20-वर्षीय कार्यक्रम के अन्तर्गत विकास के लक्ष्य सुनियोजित आधार पर निश्चित किए गए थे तथा इन्हें प्राप्त करने के लिए आवश्यक निर्देश भी दिए गए थे। बीस वर्षों के भीतर में सकल राष्ट्रीय उत्पाद में पाँच गुनी, औद्योगिक उत्पादन में छः गुनी, कृषि-उत्पादन में साढ़े तीन गुनी, औद्योगिक श्रम की उत्पादकता में साढ़े चार गुनी तथा कृषि-श्रम की उत्पादकता में 5 से 6 गुनी वृद्धि प्रस्तावित थी। यह अनुमान लगाया गया कि 1980 तक सोवियत संघ की जनसंख्या बढ़कर 28 करोड़ हो जाएगी, जो अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ सुगमतापूर्वक प्राप्त करने लगेगी।

कार्यक्रम के अन्तर्गत श्रमिकों के काम के घण्टों में कमी, सवैतनिक अवकाश में वृद्धि तथा न्यूनतम मजदूरी में व्यवस्थित ढंग से वृद्धि द्वारा न्यूनतम एवं उच्चतम मजदूरियों का अन्तर घटाने का प्रयास सम्मिलित था। 1970 तक काम के साप्तहिक घण्टे घटाकर 35 तथा 1980 तक 32 कर देना प्रस्तावित था। यह अनुमान लगाया गया कि 1980 तक सोवियत रूस संसार का सबसे कम कार्य के घण्टों तथा अधिक सवैतनिक अवकाश प्रदान करने वाला देश हो जाएगा। कार्यक्रम के अन्तर्गत अनेक जन-कल्याण सेवाओं का प्रावधान भी सम्मिलित था, जैसे—निःशुल्क शिक्षा एवं चिकित्सा की व्यवस्था, असमर्थ व्यक्तियों की समाज द्वारा देखभाल, निःशुल्क आवास तथा म्युनिसिपल यातायात की सुविधा, औद्योगिक श्रमिकों और सामूहिक किसानों के लिए दिन के भोजन की मुफ्त व्यवस्था, आदि।

कार्यक्रम की उपलब्धियाँ—सोवियत साम्यवादी पार्टी के 20-वर्षीय कार्यक्रम की उपलब्धियाँ उत्साहवर्द्धक मानी जा सकती है। सोवियत संघ की सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं योजना का निर्माण इसी कार्यक्रम के सन्दर्भ में हुआ। 1980 में विद्युतशक्ति का उत्पादन 1295 मिलियार्ड किलोवाट, खनिज तेल का उत्पादन 603 मिलियन टन, प्राकृतिक गैस का उत्पादन 435 मिलियन घन मीटर, कोयले का उत्पादन 716 मिलियन टन, सीमेन्ट का उत्पादन 124 मिलियन टन, वस्त्र का उत्पादन 10·7 मिलियार्ड वर्ग मीटर, खाद्यान्न का उत्पादन 205 मिलियन टन, कपास का उत्पादन 10 मिलियन टन, चुकन्दर का उत्पादन 88 4 मिलियन टन, ऊन का उत्पादन 460 हजार टन तथा दूध का उत्पादन 92·6 मिलियन टन हुआ। चूंकि बीस-वर्षीय कार्यक्रम में निर्धारित लक्ष्य अत्यधिक महत्वाकांक्षी थे, इसलिए अधिकांश लक्ष्य पूरे नहीं हो पाए। ख्रुश्चेव का यह दावा भी पूरा नहीं हो पाया कि 1980 तक रूस में प्रतिव्यक्ति आय बढ़कर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा दूसरे विकसित पूँजीवादी देशों से अधिक हो जायेगी। निस्सन्देह 1960 और 1980 के बीच रूस में प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय की वार्षिक वृद्धि-दर (औसतन 4 प्रतिशत) विकसित पूँजीवादी देशों से अधिक रही, किन्तु प्रतिव्यक्ति आय का स्तर बहुत नीचा रहा। 1980 में प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय संयुक्त राज्य अमेरिका में 11,360 डॉलर थी, जबकि सोवियत संघ में केवल 4,550 डॉलर। वस्तुतः रूस में प्रतिव्यक्ति आय का स्तर पूर्वी जर्मनी और चैकोस्लोवाकिया सरीखे साम्यवादी देशों से भी नीचा था।

प्रश्न 6—सोवियत संघ की ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के आधारभूत उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए।

Discuss the basic objectives of the Eleventh Five Year Plan of Soviet Union.

उत्तर—फरवरी 1981 में सोवियत साम्यवादी पार्टी के 26वें अधिवेशन में 1981-85 की अवधि के लिए ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना का प्रारूप प्रस्तुत किया गया। यह योजना दीर्घकालीन (1981-90) आर्थिक विकास को ध्यान में रखकर बनाई गई थी। योजना का केन्द्रीय उद्देश्य स्थिर एवं सतत् आर्थिक विकास, त्वरित वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति, सघन विकास की ओर अर्थव्यवस्था के संक्रमण, राष्ट्र की उत्पादन-क्षमता के अधिक विवेकयुक्त प्रयोग, समस्त स्रोतों से अधिकतम बचतों की प्राप्ति तथा कार्य में गुणात्मक सुधार द्वारा सोवियत जनता के रहन-सहन को अधिक समुन्नत बनाना था। इस आधारभूत उद्देश्य को सामने रखते हुए अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के लिए विकास के लक्ष्य निम्न तालिका के अनुसार निर्धारित किए गए—

क्षेत्र	1976-80 में वास्तविक विकास	1981-85 में आयोजित विकास
1. औद्योगिक उत्पादन	25 प्रतिशत	26 से 28 प्रतिशत
2. कृषि-उत्पादन (वार्षिक)	9 प्रतिशत	12 से 14 प्रतिशत
3. रेलों द्वारा माल की ढुलाई	6 प्रतिशत	14 से 15 प्रतिशत
4. पूँजी-निवेश	29 प्रतिशत	12 से 15 प्रतिशत
5. सरकारी एवं सहकारी फुटकर व्यापार	25 प्रतिशत	22 से 25 प्रतिशत

जनता के रहन-सहन एवं सांस्कृतिक स्तरों में वृद्धि के उपाय—सोवियत संघ की ग्यारहवीं योजना का स्वीकृत उद्देश्य जनसाधारण के रहन-सहन एवं सांस्कृतिक स्तरों को ऊपर उठाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए योजना में अनेक कार्यक्रम (उपाय) सम्मिलित किए गए, जैसे—अधिक आराम एवं अवकाश की सुविधा, शिक्षा, विज्ञान एवं संस्कृति का विकास, स्वास्थ्य की अधिकाधिक सुविधाएँ, उपभोग की वस्तुओं एवं सेवाओं की आपूर्ति में वृद्धि, मजदूरी में पर्याप्त वृद्धि तथा सामूहिक किसानों की आय में 20 से 25 प्रतिशत तक की वृद्धि। योजना में बच्चों तथा माताओं की देखभाल की विशेष व्यवस्था की गई। विगत कुछ वर्षों से रूस में जनसंख्या-वृद्धि की वार्षिक दर घटकर एक प्रतिशत से भी कम रह गई थी। अतः जनसंख्या-वृद्धि को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से बच्चे वाले परिवारों को सरकारी सहायता प्रदान करने के लिए 100 करोड़ रूबल की राशि निश्चित की गई। पहले बच्चे के जन्म पर 50 रूबल तथा दूसरे एवं तीसरे

बच्चे के जन्म पर 100 रूबल की सरकारी सहायता देने की व्यवस्था की गई। सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए योजना में 600 करोड़ रूबल का परिव्यय प्रस्तावित था। योजना में गृह-निर्माण कार्यक्रमों तथा जन-स्वास्थ्य में सुधार पर विशेष बल दिया गया था।

श्रम की उत्पादकता में प्रस्तावित वृद्धि—ग्यारहवीं योजनावधि में श्रमिकों की उत्पादन-क्षमता 17 से 20 प्रतिशत तक बढ़ाने का लक्ष्य रक्खा गया। विभिन्न उत्पादन-क्षेत्रों के लिए श्रम की उत्पादकता में वृद्धि निम्न तालिका के अनुसार आयोजित की गई—

क्षेत्र	श्रम-उत्पादकता में वास्तविक वृद्धि (1976-80)	श्रम-उत्पादकता में आयोजित वृद्धि (1981-85)
1. उद्योग	17 प्रतिशत	23 से 25 प्रतिशत
2. कृषि	15 ,,	22 से 24 ,,
3. निर्माण-कार्य	11 ,,	15 से 17 ,,
4. रेलवे	0·5 ,,	10 से 12 ,,

उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में प्रस्तावित वृद्धि—सोवियत जनता का रहन-सहन का स्तर ऊपर उठाने के लिए योजनावधि में उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों का उत्पादन बढ़ाने पर बल दिया गया। विभिन्न उपभोक्ता-वस्तुओं की उपलब्धि में वृद्धि के लक्ष्य निम्न तालिका के अनुसार निर्धारित किए गए—

उद्योग/वस्तुएँ	इकाई	1980 में वास्तविक उत्पादन	1985 में आयोजित उत्पादन
1. खाद्य-उद्योग	(हजार लाख रूबल)	100	123 से 126
2. दुग्ध एवं दुग्ध-निर्मित पदार्थ	(लाख रूबल)	248·7	283
3. हल्के उद्योगों का उत्पादन	(हजार लाख रूबल)	100	118 से 120
4. वस्त्र	(हजार लाख वर्गमीटर)	107	127
5. मनोरंजन तथा अन्य काम-काज की वस्तुएँ	(हजार लाख रूबल)	43·5	61

आधारभूत उद्योगों के उत्पादन में प्रस्तावित वृद्धि—रूस की ग्यारहवीं योजना के अन्तर्गत आधारभूत उद्योगों के उत्पादन में प्रस्तावित वृद्धि अग्र तालिका के अनुसार थी।

उद्योग	इकाई	1980 (आधार)	1985 (लक्ष्य)
1. विद्युत शक्ति	हजार मिलियन किलोवाट	1295	1550 से 1600
2. खनिज तेल	मिलियन टन	603	620 से 645
3. प्राकृतिक गैस	हजार मिलियन घनमीटर	435	600 से 640
4. कोयला	मिलियन टन	716	777 से 800
5. रासायनिक उर्वरक	,, ,,	104	150 से 155
6. सीमेन्ट	,, ,,	124	140 से 142
7. कृत्रिम वस्त्र एवं धागे	हजार टन	1176	1600

कृषि-उत्पादन में प्रस्तावित वृद्धि— रूस की ग्यारहवीं योजना के अन्तर्गत कृषि-उत्पादन में वृद्धि के लक्ष्य निम्न तालिका के अनुसार निर्धारित थे—

कृषि-पदार्थ	इकाई	1978-80 में वार्षिक औसत उत्पादन (वास्तविक)	1981-85 में वार्षिक औसत उत्पादन (आयोजित)
1. खाद्यान्न	मिलियन टन	205	238 से 243
2. चुकन्दर	,, ,,	88·4	100 से 103
3. कपास	,, ,,	8·9	9·2 से 9·3
4. दूध	,, ,,	92·6	97 से 99
5. अण्डे	संख्या (हजार मिलियन)	61·1	72
6. सब्जियाँ	मिलियन टन	26	29·5
7. ऊन	हजार टन	460	470 से 480

योजनावधि में 84,000 करोड़ रूबल की पूँजी का कुल निवेश हुआ तथा 1600 से अधिक नई औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित हुईं। राष्ट्रीय आय में 17 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जिसका अधिकांश भाग श्रम-उत्पादकता में वृद्धि से प्राप्त हुआ। योजनकाल में रूस के उत्तरी और पूर्वी प्रदेशों (जिनका ईंधन तथा औद्योगिक खनिज-पदार्थों की दृष्टि से विशेष महत्व है) की आर्थिक उन्नति का विशेष प्रयास किया गया। योजना के अन्त तक सोवियत रूस संसार के कुल औद्योगिक उत्पादन का 20 प्रतिशत उत्पन्न करने लगा, जबकि 1922 में यह केवल एक प्रतिशत उत्पन्न करता था।

1986 से सोवियत संघ की बारहवीं पंचवर्षीय योजना (1986-90) चल रही है। योजना का दीर्घकालीन उद्देश्य 20 वीं शताब्दी के अन्त तक राष्ट्रीय आय बढ़ाकर दुगुनी कर देना है। योजना में वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास द्वारा अर्थव्यवस्था की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने पर बल दिया गया है। योजना की पाँच वर्षीय अवधि के भीतर औद्योगिक उत्पादन में 24 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य है। कुल औद्योगिक उत्पादन में उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों का हिस्सा बढ़ाने के लिए इन उद्योगों का द्रुत विकास आयोजित किया गया है।

प्रश्न 7—विगत नियोजनकाल के दौरान सोवियत रूस में हुए आर्थिक विकास की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

Critically examine the economic development that has taken place in Soviet Russia during the last planning era.

उत्तर—अक्तूबर 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात् सोवियत रूस में समाजवादी व्यवस्था की नींव पड़ी, जो समय बीतने के साथ-साथ निरन्तर सुदृढ़ होती चली गई। अर्थव्यवस्था के चहुंमुखी विकास के लिए 1928 से सोवियत रूस ने आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाया। द्वितीय महायुद्ध के दौरान सोवियत संघ में जन-धन की भारी क्षति हुई। परन्तु युद्ध की समाप्ति पर सोवियत अर्थव्यवस्था का तेजी से विकास आरम्भ हुआ तथा 1940 की अपेक्षा 1950 में सकल राष्ट्रीय उत्पादन बढ़कर 70 प्रतिशत से भी अधिक हो गया। सभी क्षेत्रों में कठोरता की प्रधानता स्टालिन युग की प्रमुख विशेषता थी। 1953 में स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् रूसी अर्थव्यवस्था एवं प्रशासन में पर्याप्त उदारता दृष्टिगोचर हुई। 1960 और 1980 के बीच रूस में प्रतिव्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद औसतन 4 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ा, जबकि विकसित पूँजीवादी देशों में औसत वृद्धि-दर इससे बहुत नीची (अमेरिका में 2·2 प्रतिशत और ब्रिटेन में 2 प्रतिशत वार्षिक) रही।

रूस का योजनाकालीन विकास

सोवियत रूस में नियोजित विकास की प्रक्रिया को आरम्भ हुए सात दशक का समय बीत चुका है तथा आठवाँ दशक चल रहा है। विगत नियोजनकाल में सोवियत अर्थव्यवस्था की हुई चहुंमुखी प्रगति का विवेचन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(1) व्यावसायिक ढाँचे में परिवर्तन—बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व सोवियत रूस का व्यावसायिक ढाँचा (कार्यशील जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण) पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था का प्रतीक था। परन्तु क्रान्ति के पश्चात् आरम्भ हुई समाजवादी विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप रूस के व्यावसायिक ढाँचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुआ है, जैसा कि अग्र तालिका से स्पष्ट है—

व्यावसायिक वर्ग	कार्यशील जनसंख्या का प्रतिशत वितरण			
	1913	1928	1939	1980
1. सरकारी औद्योगिक एवं दूसरे संस्थानों में संलग्न श्रमजीवी	17·0	17·6	50·2	61·8
2. सामूहिक कृषक	—	2·9	47·2	15·1
3. व्यक्तिगत कृषक एवं शिल्पकार	66·7	74·9	2·6	—
4. भूस्वामी और व्यापारी	16·3	4·6	—	—
5. प्रबुद्ध वर्ग (Intelligentia)	—	—	—	23·1
योग	100·0	100·0	100·0	100·0

बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व सोवियत रूस की कार्यशील जनसंख्या में प्राइवेट भूस्वामियों, व्यापारियों, दस्तकारों और खेतिहरों का अनुपात 83 प्रतिशत था। समाजवादी नियोजन के फलस्वरूप ये सभी व्यवसायिक वर्ग विलुप्त हो गए हैं तथा 'प्रबुद्ध वर्ग' नामक नए व्यावसायिक वर्ग का आविर्भाव हुआ है। आजकल रूस के व्यावसायिक ढाँचे में केवल तीन वर्ग सम्मिलित हैं—(i) सरकारी कार्यालयों तथा उपक्रमों में संलग्न श्रमिक वर्ग, (ii) सामूहिक कृषक तथा (iii) प्रबुद्ध वर्ग।

(2) **औद्योगिक विकास**—सोवियत रूस में योजनाकरण का प्रमुख उद्देश्य उसकी कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था को उद्योग-प्रधान अर्थव्यवस्था में बदलना रहा है। लेनिन का स्वप्न था कि रूस में आधुनिक यन्त्रों से सुसज्जित ऐसी विशाल-स्तरीय समाजवादी औद्योगिक प्रणाली स्थापित हो, जो जटिलतर वैज्ञानिक एवं तकनीकी समस्याओं के साथ-साथ राष्ट्रीय समस्याओं का सामना करने में भी सक्षम हो। पंचवर्षीय योजनाओं ने लेनिन के इस स्वप्न को साकार रूप प्रदान किया है। क्रान्ति से पूर्व सोवियत रूस संसार के औद्योगिक उत्पादन का मात्र पच्चीसवाँ भाग उत्पन्न करता था, किन्तु आजकल यह पाँचवा भाग उत्पन्न करने लगा है। पूँजीवादी देशों की अपेक्षा सोवियत रूस का औद्योगीकरण अधिक तीव्र गति से हुआ है। आर्थिक नियोजन के प्रथम दशक (1928-38) में मशीनरी के उत्पादन में 150 प्रतिशत, विद्युतशक्ति के उत्पादन से 190 प्रतिशत, कोयले के उत्पादन में 170 प्रतिशत, लोहे के उत्पादन में 100 प्रतिशत, इस्पात के उत्पादन में 200 प्रतिशत तथा रासायनिक पदार्थों के उत्पादन में 300 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1928 में सोवियत रूस का इस्पात-उत्पादन समूचे विश्व के उत्पादन का मात्र 3·9 प्रतिशत था, जो 1966 तक बढ़कर 20 प्रतिशत हो गया। 1913 में रूस का विद्युत-उत्पादन अमेरिकी उत्पादन का मात्र 9 प्रतिशत था, जो 1966 तक बढ़कर उसका 41 प्रतिशत हो गया। 1919 में रूस का सीमेन्ट-उत्पादन का मात्र 13 प्रतिशत था, जो 1966 तक बढ़कर उसका 120 प्रतिशत (अर्थात्

अमेरिकी उत्पादन से भी अधिक) हो गया । 1980 में सोवियत रूस में कोयले, खनिज तेल और इस्पात का उत्पादन संयुक्त राज्य अमेरिका (जिसका औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से संसार भर में प्रथम स्थान है) से भी अधिक हुआ । 1940 को आधार वर्ष मानते हुए रूस में औद्योगिक उत्पादन का निर्देशांक 1970 में 1,183 तथा 1980 में 2,033 हो गया । पूँजीगत-वस्तुओं का निर्देशांक बढ़कर 1970 में 1589 तथा 1980 में 2,811 हो गया, जबकि उपभोक्ता-वस्तुओं का का निर्देशांक बढ़कर 1970 में 654 तथा 1980 में 1,044 के स्तर तक ही पहुंच पाया । आजकल औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से सोवियत संघ का समूचे विश्व में दूसरा तथा समूचे यूरोप में पहला स्थान है ।

(3) **श्रम की उत्पादकता में वृद्धि**—सोवियत रूस की नियोजनकालीन प्रगति में उसके श्रमिकों की उत्पादकता में हुई वृद्धि का प्रमुख योगदान रहा है । लेनिन ने नई सामजिक व्यवस्था की सफलता के लिये श्रम की उत्पादकता को सबसे महत्वपूर्ण घटक स्वीकार किया था । विगत नियोजनकाल में श्रमिकों की-दशाओं में सुधार, सामाजिक सुरक्षा का व्यापक व्यवस्था तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के फलस्वरूप रूसी श्रम की उत्पादकता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है । 1916 में रूसी श्रमिकों की उत्पादकता (कार्यक्षमता) अमेरिकी श्रमिकों की उत्पादकता की मात्र 11 प्रतिशत थी, जो 1966 तक बढ़कर उनकी 45 प्रतिशत हो गई । 1940 को आधार वर्ष मानते हुए श्रम की उत्पादकता का निर्देशांक बढ़कर 1970 में 738 तथा 1980 में 1,033 हो गया ।

(4) **कृषिजन्य विकास** – लेनिन की 'सहकारी योजना' के अनुसार सोवियत संघ की कृषि-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए है । व्यक्तिगत खेती के स्थान पर सामूहिक खेती विकसित हुई है । बड़े-बड़े सामूहिक एवं सरकारी फार्मों पर खेती का कार्य आधुनिक मशीनों की सहायता से होता है । फलत: कृषि-क्षेत्र में संलग्न श्रमशक्ति का अनुपात 66.7 प्रतिशत से घटकर 15.1 प्रतिशत रह गया है । आधुनिक आगतों (रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक औषधियाँ, कृत्रिम सिचाई तया कृषि-यन्त्र) के व्यापक प्रयोग से कृषि-भूमि और कृषि श्रम की उत्पादकता बढ़ी है । सामूहिक कृषि के प्रचलन तथा पशुधन के विकास के ग्रामीणों का रहन-सहन का स्तर ऊँचा हुआ है । 1928 और 1936 के बीच अनाज के उत्पादन में 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी । 1940 को आधार वर्ष मानते हुए कृषि-उत्पादन का निर्देशांक बढ़कर 1970 में 221 तक 1980 में 251 हो गया ।

(5) **पूँजीगत निवेश**—विकास कार्यक्रमों की वित्त-व्यवस्था हेतु सोवियत रूस मुख्यतः घरेलू साधनों पर आश्रित रहा है । इस उद्देश्य से नियोजित विकास के प्रारम्भिक दिनों में सोवियत सरकार ने उपभोग में कटौती की नीति अपनाई थी । विगत 50 वर्षों में रूसी अर्थव्यवस्था में लगभग 65,000 करोड़ रूबल की पूँजी का विनियोग किया गया है तथा 40 हजार बड़े-बड़े औद्योगिक उपक्रमों की

स्थापना हुई है।

(6) **परिवहन-प्रणाली का विस्तार**—नियोजनकाल में रूस की परिवहन-प्रणाली का द्रुतगति से विस्तार तथा आधुनिकीकरण हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के दौरान रूस की परिवहन-प्रणाली को भारी क्षति पहुंची थी। युद्धोत्तरकाल में परिवहन-प्रणाली के पुनर्निर्माण एवं विस्तार पर विशेष बल दिया गया। 1950 से लेकर 1965 तक रेलवे के डीजल इंजनों का वार्षिक उत्पादन 125 से बढ़कर 1485, विद्युत इंजनों का वार्षिक उत्पादन 102 से बढ़कर 641 तथा मोटर-वाहनों का वार्षिक उत्पादन 363 हजार से बढ़कर 616 हजार हो गया। 1965 से लेकर 1980 तक सोवियत रूस में रेलों, सड़कों, जहाजरानी तथा वायु परिवहन की ढुलाई-क्षमता का तेजी से विस्तार हुआ है।

9

रूसी श्रमिक-संघवाद

(Russian Trade Unionism)

प्रश्न 1—सोवियत रूस में श्रम-संघ आन्दोलन के विकास के विशेष सन्दर्भ सहित, समाजवादी राज्य में श्रमिक संघों की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

Describe the role of trade unions in a socialist state with particular reference to the growth of trade union movement in Soviet Russia.

उत्तर—1861 में दास-मुक्ति अधिनियम पारित होने के बाद रूस में 'औद्योगिक पूंजीवाद' का विकास आरम्भ हुआ। फलतः कारखाना-श्रमिकों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था में कारखाना-श्रमिकों की स्थिति दासों से भी खराब थी। कारखानों के गन्दे वातावरण में उनसे 12 घण्टे काम लिया जाता था। स्त्रियों और बच्चों को भी पुरुषों के बराबर काम करना पड़ता था। मजदूरी की दर बहुत नीची थी। इस शोषण के विरुद्ध धीरे-धीरे श्रमिकों में प्रतिक्रिया हुई। अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए वे परस्पर संगठित होने लगे। सर्वप्रथम 1875 में ओडेसा में 'रूसी श्रमिकों का

दक्षिणी संघ' स्थापित हुआ। तदुपरान्त 1878 में सेण्ट पीट्र्सबर्ग में 'रूसी श्रमिकों का उत्तरी संघ' स्थापित हुआ। इन दोनों संघों की स्थापना के साथ श्रम-आन्दोलन का प्रसार होने लगा। 1881 से लेकर 1886 तक कुल 48 हड़तालें हुई, जिनमें लगभग 48 हजार श्रमिकों ने भाग लिया।

मार्क्सवादी दर्शन का उदय—सोवियत रूस में मार्क्सवादी पार्टी का जन्म 1883 में हुआ। इस पार्टी ने कार्ल मार्क्स की प्रमुख पुस्तकों का रूसी भाषा में अनुवाद करके मार्क्सवादी विचारधारा का प्रचार-प्रसार किया। यद्यपि 1894 तक सामाजिक जनवादी आन्दोलन (मार्क्सवादी आन्दोलन) छोटे-छोटे गुटों में विभाजित था तथा इसका श्रम-आन्दोलन से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी नहीं था, तथापि लेनिन की राय में यह आन्दोलन अज्ञात शिशु की तरह गर्भ में विकसित हो रहा था। इस आन्दोलन से प्रेरित होकर 1896 में सेण्ट पीट्र्सबर्ग के लगभग 30 हजार श्रमिकों ने हड़ताल की। बाध्य होकर सरकार को जून 1897 में एक अधिनियम पारित करना पड़ा, जिसके अन्तर्गत श्रमिकों के काम के अधिकतम घण्टे साढ़े ग्यारह निर्धारित किए गए। 1895 में लेनिन ने सेण्ट पीट्र्सबर्ग में श्रमिको-द्धारक संघ' की स्थापना की थी, जिसने श्रम-आन्दोलन और मार्क्सवादी आन्दोलन के एकीकरण का प्रयास किया तथा श्रमिकों की हड़तालों का नेतृत्व किया। इसके प्रयत्नों से रूस के सीमा-प्रदेशों तथा प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में मार्क्सवादी संगठन स्थापित हुए। 1898 में रूस की 'सामाजिक जनवादी श्रमिक पार्टी' का प्रथम अधिवेशन बुलाया गया, जिसमें मार्क्सवादी एवं सामाजिक-जनवादी दलों को एक पार्टी में संगठित किया गया। मार्क्सवादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार हेतु लेनिन ने 'इस्क्रा' (अर्थात् चिंगारी) नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। इस तरह, रूस में श्रम-आन्दोलन ने क्रान्तिकारी रूप धारण कर लिया।

19वीं शताब्दी के अन्त में यूरोप के अन्य देशों की तरह, रूस में भी आर्थिक संकट उपस्थित हुआ। इस संकट के कारण 1900 से लेकर 1903 तक रूस के लगभग एक लाख श्रमिक बेरोजगार हो गए। परन्तु इससे श्रम-आन्दोलन की प्रगति अवरुद्ध नहीं हुई, अपितु उसका स्वरूप अधिक क्रान्तिकारी होता चला गया। जुलाई 1903 में सामाजिक-जनवादी पार्टी का दूसरा अधिवेशन बुलाया गया। इस अधिवेशन में नियमावली के प्रश्न पर पार्टी दो धड़ों में बंट गई—बोल्शेविक तथा मेन्शेविक। लेनिन के अनुयायी (जिनका सामाजिक-जनवादी पार्टी में बहुमत था) 'बोल्शेविक' कहलाए तथा लेनिन के विरोधी (जो अल्पमत में थे) 'मेन्शेविक' कहलाए। 1905 में बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में श्रमिकों ने देशव्यापी आन्दोलन चलाया, जो सरकार द्वारा बलपूर्वक दबा दिया गया। तदुपरान्त बोल्शेविकों को अपनी नीति बदलनी पड़ी। उन्होंने जारशाही के विरुद्ध छिपकर लड़ाई जारी रक्खी। 1912 के बाद क्रान्तिकारी आन्दोलन को पुनः बल मिला। 'प्रावदा'

नामक नए क्रान्तिकारी समाचार पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। 1914 में प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने पर रूस की पूँजीवादी व्यवस्था कमजोर पड़ने लगी। रूस के श्रमिकों और बोल्शेविक पार्टी ने इस कमजोरी का लाभ उठाया तथा नवम्बर 1917 में जारशाही के अवशेषों को ध्वस्त कर दिया। उन्होंने अपने क्रान्तिकारी नेता लेनिन के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग के अधिनायक-तन्त्र की स्थापना की।

बोल्शेविक क्रान्ति के बाद श्रम-संघवाद—बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता के बाद रूस के श्रम-संघों में अराजकता की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई। वे औद्योगिक व्यवस्था पर बलपूर्वक अपना नियन्त्रण स्थापित करने लगे। इस प्रवृत्ति का औद्योगिक उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा; क्योंकि श्रमिकों को प्रबन्ध-कार्य का ज्ञान नहीं था। इस प्रवृत्ति की रोकथाम के लिए बोल्शेविक सरकार ने एक आज्ञप्ति जारी की, जिसके अन्तर्गत श्रमिकों की समितियों को खातों की जाँच-पड़ताल, व्यवस्थापन की देखभाल तथा उत्पादन की न्यूनतम मात्रा निश्चित करने का अधिकार तो दिया गया; किन्तु उपक्रमों के दैनिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप निषिद्ध ठहराया गया। इसके अतिरिक्त, दूसरे आदेशों द्वारा श्रमिकों की कार्य-दशाएँ सुधारने का प्रयास किया गया। उदाहरण के लिए, 8 घण्टे प्रतिदिन काम की व्यवस्था लागू की गई। खानों के भीतर तथा रात्रि के समय स्त्री-श्रमिकों से काम लेना निषिद्ध ठहराया गया, श्रमिकों को बीमे की सुविधा प्रदान की गई तथा उनके लिए रोजगार कार्यालय स्थापित किए गए। जब इन सुविधाओं से भी श्रमिक सन्तुष्ट नहीं हुए तथा औद्योगिक क्षेत्र में अराजकता की स्थिति समाप्त नहीं हुई, तब सरकार को श्रमिकों के साथ कड़ाई बरतनी पड़ी। 1918 में जारी आज्ञप्ति के अनुसार 16 से 50 वर्ष तक की आयु के समस्त व्यक्तियों के लिए काम करना अनिवार्य ठहराया गया। श्रमिकों से बलपूर्वक कार्य लिया जाने लगा तथा "सामरिक साम्यवाद' के अन्त तक कार्य-चयन की स्वतन्त्रता भी समाप्त कर दी गई। इस तरह, स्वतन्त्र आन्दोलन के रूप में श्रम-संघवाद का अन्त हो गया।

वर्तमान स्थिति—सोवियत रूस में श्रम संघों का अस्तित्व आज भी विद्यमान है। श्रम-संघवाद का साम्यवादी मॉडल 'ऐच्छिक संस्था' तथा 'राजकीय संस्था' के बीच की स्थिति है। इसकी सदस्यता सैद्धान्तिक रूप में अनिवार्य है तथा इसका कार्य (जो व्यवहार में इसे राज्य द्वारा सौंपा गया है) श्रमिकों के हितों की रक्षा करना तथा उन्हें सर्वहारा वर्ग की तानाशाही जारी रखने के लिए तैयार करना है। सोवियत संघ में श्रमिकों के संगठन औद्योगिक आधार पर स्थापित हैं। प्रत्येक उद्योग के लिए एक श्रम-संघ है, जिसकी सदस्यता समस्त श्रेणी के कर्मचारियों एवं व्यवस्थापकों तक विस्तृत हैं। संघ के सदस्यों को अपनी मासिक मजदूरी का आधा प्रतिशत से लेकर एक प्रतिशत तक चन्दा देना होता है। श्रम संघों के वार्षिक सम्मेलन में उनकी केन्द्रीय परिषद का चुनाव होता है, जिसे सामाजिक बीमा तथा उत्पादन की योजनाएँ लागू करने का अधिकार होता है। सिडनी (Sidney) और बीट्रिस वेब (Beatrice Webb) के शब्दों में, "सोवियत ट्रेड

यूनियन अपने अधिकारियों की नियुक्ति तथा उनके वेतन का भुगतान करती है; निर्वाचित कमेटियों द्वारा अपना कार्य-संचालन करती है; अपनी सर्वोच्च कमेटियों तथा राष्ट्रीय अधिकारियों के माध्यम से सामूहिक सौदेबाजी करती है, जिसके द्वारा मजदूरी की सामान्य योजना एवं प्रमाप निश्चित होते हैं; यह सरकार के लगभग सभी अंगों में भाग लेती है।"

कारखाना-स्तर पर सोवियत ट्रेड यूनियनों का उद्देश्य सदस्यों के आर्थिक हितों की रक्षा करना है। उत्पादकता-वृद्धि के लिये ट्रेड यूनियनों द्वारा समय-समय पर समाजवादी प्रतियोगिता आयोजित की जाती है। 1918 में श्रम संघों की सदस्य संख्या मात्र 25 लाख थी, जो 1928 में बढ़कर 110 लाख, 1947 में 270 लाख तथा 1954 में 404 लाख हो गई। 1957 में रूस के 500 लाख श्रमिकों और वेतन भोगी कर्मचारियों में से 470 लाख ट्रेड यूनियनों के सदस्य थे। सोवियत रूस का श्रम-आन्दोलन 'ट्रेड यूनियनों के विश्व फैडरेशन' से सम्बद्ध है।

रूस में श्रम संघों की भूमिका—बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात् सोवियत रूस की समाजवादी व्यवस्था के सन्दर्भ में श्रम-संघों की भूमिका वाद-विवाद का विषय बन गई। टॉमस्की (Tomsky) तथा उनके अनुयायी समाजवादी प्रणाली का व्यवस्थापन-कार्य श्रम संघों को सौंप देना चाहते थे; क्योंकि वे इसे औद्योगिक व्यवस्था के जनतन्त्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण के लिए आवश्यक मानते थे। दूसरी ओर ट्रॉटस्की (Trotsky) तथा उनके अनुयायी श्रम संघों के पृथक् अस्तित्व के विरोधी थे। वे श्रम-संघों को राज्य के अधीनस्थ करके उन्हें मजदूरी के निर्धारण तथा अन्य श्रम-समस्याओं के समाधान का कार्य सौंप देना चाहते थे। परन्तु लेनिन श्रमसंघों को श्रमिकों के आर्थिक हितों की रक्षा का कार्य सौंपने के साथ-साथ उन्हें शिक्षात्मक महत्व प्रदान करना चाहता था। लेनिन की विचारधारा के आधार पर 1922 में 'श्रम-संहिता' स्वीकार की गई। इसके अन्तर्गत श्रम संघों का प्रमुख कार्य ऊपरी स्तर पर महत्वपूर्ण निर्णय लेना तथा निचले स्तर पर श्रमिकों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना माना गया। इन्हें श्रमिकों को व्यवस्थापकों के अन्याय से सुरक्षा प्रदान करने का कार्य भी सौंपा गया। 1928 तक यह व्यवस्था भली-भाँति कार्य करती रही। 1929 में श्रम संघों की भूमिका को लेकर पुनः मतभेद की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। अन्ततः 1949 में श्रम-संघ अधिनियम पारित हुआ, जिसके अन्तर्गत श्रमिकों के बीच अनुशासन बनाए रखना तथा आर्थिक योजनाओं की क्रियान्विति एवं लक्ष्य-निर्धारण में राज्य को सहयोग प्रदान करना श्रम संघों का प्रधान कार्य माना गया। मजदूरी के नियमन हेतु श्रम-संघों को व्यवस्थापकों के साथ सामूहिक समझौता करने का अधिकार दिया गया। उन्हें सामाजिक बीमा योजना एवं श्रम-कल्याण कार्यों की व्यवस्था, कारखानों में सुरक्षा-व्यवस्था की देखरेख तथा श्रमिकों की तकनीकी योग्यता में वृद्धि का दायित्व सौंपा गया।

वर्तमान में सोवियत श्रम-संघों के तीन मुख्य कार्य हैं—(i) सामाजिक बीमा तथा श्रम-कल्याण कार्यों की व्यवस्था। (ii) मजदूरी-ढाँचे की सामान्य रूपरेखा को परिभाषित करने वाली मजदूरी-नीति का निर्धारण। (iii) श्रमशक्ति का उचित संगठन तथा उसकी निपुणता में सुधार, ताकि सरकार की उत्पादन-योजना पूरी हो सके।

निष्कर्ष—स्वार्ज (Schwartz) के अनुसार, सोवियत श्रम-संघों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वे केवल सरकारी एजेन्सी के रूप में कार्य करते हैं। सिद्धान्त रूप में उन्हें हड़ताल का अधिकार प्राप्त है, किन्तु व्यवहार में उनके द्वारा हड़तालों का आयोजन करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। अनिवार्य विवाचन की व्यवस्था, हड़ताल के अधिकार की उपयोगिता को पूर्णतः समाप्त कर देती है। राष्ट्रीय आय में मजदूरी का अंश निर्धारित करने में श्रम संघों की भूमिका अस्पष्ट (Obscure) है। उन्हें सरकार की मजदूरी-नीति सम्पादित कार्य के रूप में अंगीकार करनी पड़ती है। परन्तु उनके सांस्कृतिक एवं कल्याणकारी कार्य निश्चय ही पूँजीवादी देशों में श्रम-संघों के कार्यों से अधिक व्यापक हैं।

10

रूसी सामाजिक सुरक्षा-प्रणाली

(Russian Social Security System)

प्रश्न 1—सोवियत रूस की सामाजिक सुरक्षा-व्यवस्था की व्याख्या कीजिए।

Discuss the system of social security found in Soviet Russia.

उत्तर—सिडनी वेब (Sidney Webb) के शब्दों में, रूस की सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था समस्त मजदूरी-अर्जक जनसंख्या को असीमित एवं सर्वव्यापी सुरक्षा प्रदान करती है। आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था ने प्रत्येक श्रमिक को न केवल सोवियत नागरिकता के प्रति जागरुक बनाया है, अपितु उसे उत्पत्ति के समस्त साधनों पर संयुक्त स्वामित्व के प्रति भी-चेतनशील बनाया है।" वस्तुतः सामाजिक-सुरक्षा सोवियत रूस की मूलभूत सामाजिक नीति का अभिन्न अंग है। सोवियत संविधान की धारा 12 और 118 के अन्तर्गत समस्त नागरिकों के लिए रोजगार तथा कार्य

की मात्रा एवं गुण के अनुसार भुगतान की गारन्टी सम्मिलित है। संविधान की धारा 119 नागरिकों के लिए आराम के अधिकार की गारन्टी करती है। धारा 120 वृद्धावस्था, बीमारी तथा असमर्थता की स्थिति में अनुरक्षण की गारन्टी करती है। धारा 121 शिक्षा का अधिकार प्रदान करती है। धारा 122 स्त्रियों को आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार दिलाती है।

सोवियत रूस में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत न्यूनतम मजदूरी, गारण्टीयुक्त रोजगार, चिकित्सा-सुविधा, मातृत्व हितलाभ, श्रमिक क्षति-पूर्ति, वृद्धावस्था पेन्शन, असमर्थता पेन्शन, उत्तरजीवी पेन्शन, व्यावसायिक रोगों के विरुद्ध बीमा, आदि, सम्मिलित हैं। सामाजिक सुरक्षा की सुविधाएँ सामूहिक फार्मों के सदस्यों को भी उपलब्ध करायी जाती हैं, जबकि पूँजीवादी देशों में किसानों को सामाजिक सुरक्षा की कोई सुविधा प्राप्त नहीं है। डॉ० वी० बी० सिंह (V. B. Singh) के अनुसार सोवियत संघ में सामाजिक सुरक्षा उपायों की संवैधानिक गारन्टी ने तीन कारणों से संस्थागत रूप प्राप्त कर लिया है—(i) अर्थ-व्यवस्था की ऊँची विकास दर, जिसने सामाजिक सुरक्षा उपायों पर अधिक धनराशि का व्यय सम्भव बनाया है। (ii) राज्य का समाजवादी स्वरूप, जिसने जन-कल्याण को सुविधाजनक बनाया है। (iii) सामाजिक सुरक्षा स्कीमों की क्रियान्विति के साथ श्रम-संघों की सम्बद्धता, जिसने प्रभावी क्रियान्विति की गारण्टी की है।

सामाजिक बीमा—सोवियत रूस में सामाजिक बीमा कार्यक्रमों के कुछ विशिष्ट लक्षण हैं, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(1) केवल नियोजित व्यक्तियों का ही सामाजिक बीमा सम्भव होता है। सोवियत संघ में बेरोजगारी बीमे का कोई प्रावधान नहीं है; क्योंकि यहाँ नागरिकों को काम का मौलिक अधिकार प्राप्त है। यदि छँटनी या कारखाना बन्द हो जाने के कारण कुछ समय के लिए रोजगार में व्यवधान पड़ता है, तब इतने समय के लिए श्रमिकों को पेन्शन दी जाती है।

(2) सोवियत रूस में सामाजिक बीमा योजनाओं का संगठन, प्रशासन एवं देखभाल श्रम-संघों का दायित्व है। श्रम-संघों की केन्द्रीय परिषद को सामाजिक बीमा प्रणाली में केन्द्रीय निकाय का स्थान प्राप्त है। इसमें पृथक् सामाजिक बीमा विभाग खोला गया है। परिषद का मुख्य कार्य सामाजिक बीमे के प्रशासन में संलग्न समस्त श्रम-संघों को नियन्त्रित करना, सामाजिक बीमा बजट तैयार करना तथा सामाजिक बीमा नियमों का निर्धारण करना है। उद्योग एवं प्लाण्ट स्तर पर श्रम-संघ केन्द्रीय परिषद के एजेन्ट के रूप में काम करते हैं। बहुत-से प्लान्टों में श्रम-संघों को कार्य में सहायता पहुंचाने के लिए बीमा परिषदें स्थापित की गई हैं।

(3) श्रम-संघ की सदस्यता पूर्ण बीमा लाभ प्राप्त करने की आवश्यक-शर्त है। श्रम-संघ के गैर-सदस्यों को केवल आधा लाभ प्राप्त होता है।

(4) सामाजिक बीमा स्कीम की लागत प्रत्येक प्रतिष्ठान के अंशदान से

पूरी की जाती है। बीमा प्रीमियम सेवायोजक द्वारा उपक्रम के मजदूरी-बिल के अनुपात में चुकाया जाता है। इस उद्देश्य से श्रमिकों की मजदूरी में से कोई कटौती नहीं की जाती।

(5) सोवियत रूस में सामाजिक बीमा कार्यक्रम श्रमजीवियों के लिए कल्याण की सुरक्षा करने वाली संस्था के अतिरिक्त, विकास हेतु (मुख्यतः उत्पादन के क्षेत्र में) सरकारी उपकरण भी है। रोजगार से निष्कासित व्यक्तियों को बहुत कम सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाती है।

(6) सोवियत रूस की सामाजिक सुरक्षा प्रणाली की अनोखी विशेषता यह है कि यदि कोई श्रमिक हितलाभों के प्रशासन से सन्तुष्ट नहीं है तथा श्रम-संघ उसकी शिकायतों का निवारण नहीं कर पाता है, तब वह गारन्टीकृत सामाजिक सुरक्षा लाभों की क्रियान्विति हेतु स्थानीय अदालत में अपील कर सकता है।

सोवियत रूस की सामाजिक बीमा प्रणाली के अन्तर्गत अस्थायी असमर्थता की दशा में 'राहत' (Relief) तथा वृद्धावस्था या स्थायी असमर्थता की दशा में 'पेन्शन' का प्रावधान है। अस्थायी असमर्थता की स्थिति में श्रमिकों को बिना शर्त उनकी औसत आमदनी के बराबर सहायता दी जाती है, यदि असमर्थता व्यावसायिक दुर्घटना या व्यवसायिक रोग का परिणाम हो। अन्य मामलों में सहायता (राहत) सेवा-काल के आधार पर दी जाती है· अर्थात् छः वर्ष या अधिक सेवा-काल के लिए 100 प्रतिशत, उसे **6** वर्ष तक के सेवा-काल के लिए 80 प्रतिशत, 2 से 3 वर्ष तक के सेवा-काल के लिए 60 प्रतिशत तथा 2 वर्ष से कम सेवा-काल के लिए 50 प्रतिशत। जो व्यक्ति श्रम-संघ के सदस्य नहीं होते, उन्हें आधी रकम मिलती है। स्थायी असमर्थता की दशा में पेन्शन मिलती है, यदि असमर्थता व्यावसायिक रोग या दुर्घटना से उत्पन्न हुई हो। इस पेन्शन की राशि उससे अधिक होती है, जो सामान्य रोग से उत्पन्न स्थायी अयोग्यता की स्थिति में दी जाती है। सामान्य रोग-जनित स्थायी अयोग्यता की स्थिति में पेन्शन की राशि आयु तथा सेवा-काल के अनुसार अलग-अलग होती है। समस्त श्रमिक और वेतनभोगी कर्मचारी निश्चित आयु पर पहुंचने तथा निश्चित अवधि की सेवा के बाद 'वृद्धावस्था पेन्शन' पाने के अधिकारी होते हैं। पुरुषों को 60 वर्ष की आयु पर पहुंचने तथा 25 वर्ष सेवा करने के बाद पेन्शन मिलती है। स्त्रियों को 55 वर्ष की आयु पर पहुंचने तथा 20 वर्ष सेवा करने के बाद पेन्शन मिलती है। वृद्धावस्था पेन्शन के जो अधिकारी काम करना जारी रखते हैं, उन्हें मजदूरी के साथ-साथ पेन्शन की पूरी रकम मिलती है। वृद्धावस्था पेन्शन की दर सामान्य मजदूरी की 50 से 100 प्रतिशत तक होती है। न्यून- आय-अर्जकों के लिए 100 प्रतिशत पेन्शन देने की व्यवस्था है।

सामाजिक सेवाएँ— सोवियत रूस में सामाजिक बीमा प्रणाली की अनुपूर्ति सामाजिक सेवाओं द्वारा की गई है, **जैसे**—प्रत्येक के लिए अस्पतालों में निःशुल्क चिकित्सा की सुविधा, श्रम-संघों तथा औद्योगिक उपक्रमों द्वारा संचालित विश्राम-गृह (Rest Houes) तथा आरोग्य-धाम (Sanatoria), सभी के लिए निःशुल्क शिक्षा की सुविधा, आदि। चिकित्सा-सुविधाओं की व्यवस्था के लिए केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय के आधीन प्रत्येक राज्य, जिले और शहर में स्वास्थ्य विभाग स्थापित हैं। इनके लिए आवश्यक वित्त केन्द्रीय एवं स्थानीय शासन के बजटों से उपलब्ध कराया जाता है। सुरक्षा, रेलवे तथा अन्तर्देशीय मन्त्रालयों के अन्तर्गत पृथक् स्वास्थ्य

सेवाओं की व्यवस्था है। शहरी क्षेत्रों की तरह, ग्रामीण क्षेत्रों में भी चिकित्सा-सुविधाओं का विस्तार किया गया है। सामूहिक एवं राजकीय फार्मों में भी चिकित्सा-केन्द्रों की व्यवस्था है।

माताओं का कल्याण एवं उनकी सुरक्षा सोवियत संघ में राज्य का प्राथमिक कार्य माना जाता है। कुछ सन्नियमों के अन्तर्गत उनके लिए रोजगार की गारण्टी की गई है। किसी गर्भवती स्त्री को रोजगार देने से इन्कार करना दण्डनीय अपराध माना गया है। गर्भवती स्त्री के लिए उतनी ही मजदूरी मिलने की व्यवस्था है, जितनी मजदूरी उसे गर्भवती होने से पहले मिलती थी। गर्भवती होने पर उससे हल्का कार्य लिया जाता है, किन्तु उसकी मजदूरी में से कोई कटौती नहीं की जाती। गर्भ की अवधि चार माह से अधिक हो जाने पर स्त्रियों के लिए ओवरटाइम काम की मनाही है। बच्चा पैदा होने से 35 दिन पहले तथा 42 दिन बाद तक उनके लिए सवैतनिक अवकाश तथा सरकार की ओर से मौद्रिक सहायता की व्यवस्था है। असामान्य जन्म की स्थिति में उनके लिए 91 दिन तक के सवैतनिक अवकाश की व्यवस्था है। उनके लिए कुछ विशिष्ट सुविधाओं की भी व्यवस्था है, जैसे-बसों, ट्रामों और रेलों में स्पेशल सीट की व्यवस्था।

स्त्रियों और बच्चों को चिकित्सा-सुविधाएँ प्रदान करने के लिए कल्याण-केन्द्र स्थापित किए गए हैं। कारखानों में स्त्रियों के लिए पृथक् कमरों की व्यवस्था है, जहाँ वे अपने बच्चों को दूध पिला सकती हैं और उन्हें सुला सकती हैं। बच्चे की पैदाइश के बाद स्त्री-श्रमिकों के लिए विशिष्ट कार्य-दशाएँ उपलब्ध करायी जाती हैं। काम के घण्टों के दौरान बच्चों को दूध पिलाने के लिए उन्हें अतिरिक्त अल्प-विराम दिया जाता है। यदि किसी स्त्री-श्रमिक का दो वर्ष से कम आयु का बच्चा बीमार पड़ जाता है, तब उसे विशिष्ट अवकाश स्वीकृत किया जाता है। सोवियत रूस में सामाजिक सुरक्षा प्रणाली की अनोखी विशेषता यह है कि यहाँ अविवाहित माताओं तथा उनके बच्चों के लिए भी सुरक्षा की व्यवस्था है। उन्हें बच्चों के पालन-पोषण हेतु सरकार की ओर से विशिष्ट भत्ता मिलता है।

सोवियत रूस में प्रसंविदा के अन्तर्गत काम करने वाले व्यक्तियों के लिए अनिवार्य सामाजिक बीमा की व्यवस्था है, जिसका संचालन श्रम-संघों की केन्द्रीय परिषद के हाथ में है। इसके अन्तर्गत श्रमिकों और वेतनभोगी कर्मचारियों को वृद्धावस्था, अपंगता, बीमारी, मृत्यु तथा स्त्रियों के मातृत्वकाल में बीमे की सुविधा प्रदान की जाती है। बगैर प्रसंविदा के काम करने वाले व्यक्तियों के लिए आपसी सहायता समितियों द्वारा संचालित ऐच्छिक सामाजिक बीमा की व्यवस्था है। ऐसे व्यक्तियों में सामूहिक किसानों तथा अनियमित रूप से काम करने वाले व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है। जो व्यक्ति इन दोनों में से किसी भी श्रेणी में नहीं आते, उनके लिए सामाजिक बीमा की सुविधाएँ 'राष्ट्रीय सहायता समाज-कल्याण मन्त्रालय' के अधीन संगठित विशिष्ट संस्थाओं द्वारा उपलब्ध करायी जाती है। इस तरह, रूस में सामाजिक सुरक्षा की विस्तृत व्यवस्था से सभी व्यक्ति लाभान्वित होते हैं।

भाग—5

जापान का आर्थिक विकास

(Economic Development of Japan)

1. मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व जापान
2. मेजी पुनर्संस्थापन
3. जनसंख्या-वृद्धि और जापान का आर्थिक विकास
4. जापानी कृषि का विकास
5. जापान का औद्योगिक विकास
6. जायबत्सू एवं आर्थिक-नियन्त्रण का सन्केन्द्रण
7. जापानी कुटीर और लघु उद्योग
8. जापान में परिवहन का विकास
9. जापानी विदेशी व्यापार का विकास
10. जापान में श्रमिक-संघवाद
11. जापान में श्रम-विधान
12. युद्धोत्तरकालीन जापानी अर्थव्यवस्था

स्मरणीय वाक्य

1. "विदेशी तथा उनके विचार जापानी शासन की द्वैध प्रणाली के विनाश हेतु अवसर थे, विनाश के कारण नहीं। उनकी उपस्थिति ने केवल उस प्रक्रिया को शीघ्रतर बना दिया जो अपरिहार्य थी। जापान में अभिनव चमत्कारपूर्ण परिवर्तन के कारण भीतर से संचालित हुए, न कि बाहर से; आवेग से संचालित हुए, न कि प्रभाव से।"—**ग्रिफ्स**

2. "जापान का सम्पूर्ण इतिहास यह प्रदर्शित करता है कि नवीन विचार एवं रीतियों को यथाशीघ्र समझकर अपना लेने, निर्भयतापूर्वक कार्य करने तथा सुसंगठित होने का जापानियों को वरदान-सा प्राप्त है।"—**जे० मरडोव**

3. "राज्य जापानी औद्योगिक विकास का यदि प्रजनक नहीं, तब पितामह अवश्य था।"—**हब्बार्ड**

4. "जायबत्सू आर्थिक विस्तार के ज्वार पर उभरा था, जिसमें स्वयं उसने भी महत्त्वपूर्ण अंशदान किया।"—**एलन**

5. "विश्वास कीजिए अथवा नहीं, जापान के विशाल औद्योगिक साम्राज्य की शक्ति तथा कथित लघु उद्योगों के कारण है; जिनमें 54 प्रतिशत एक-व्यक्ति कार्यशालाएँ तथा 40 प्रतिशत लघु सन्यन्त्र (5 से कम श्रमिकों रोजगार देने वाले) सम्मिलित हैं।"—**चमनलाल**

6. "जायबत्सू केवल राजनीतिक मदारी या वित्तीय अभिसाधक या समृद्ध निवेशकर्त्ता नहीं थे। विशालस्तरीय उपक्रम के क्षेत्र में उन्होंने ऐसा आवश्यक कार्य किया, जो अन्यथा सरकार द्वारा ही किया जा सकता था और वह भी सम्भवतः महत्तर सार्वजनिक लाभ के साथ नहीं।"—**लॉकवुड**

7. "आधुनिक जापान का कोई भी हिस्सा उतना अधिक नाटकीय नहीं है, जितना कि 1868 के पश्चात् उसके विदेशी व्यापार का क्रान्तिकारी विकास।"—**लॉकवुड**

8. "जापानी श्रम-संघ आन्दोलन का आर्थिक आधार अब भी कमजोर है। युद्ध-पूर्व काल में श्रम-संघों के विकास को बाधा पहुंचाने वाली दशाओं (अर्थात् लघु प्रतिष्ठानों का बाहुल्य तथा रोजगार तलाशने वाले श्रमिकों की वृद्धिशील आपूर्ति) का पूर्णतः उन्मूलन नहीं हो पाया है।"—**एलन**

1

मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व जापान

(Japan Before Meiji Restoration)

प्रश्न 1—मेजी पुनर्संस्थापना से पूर्व जापान की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की व्याख्या कीजिए। तोकुगावा घराने के क्या कारण थे ?

Discuss the social and economic condition of Japan before Meiji Restoration. What were the causes of the collapse of Tokugawa regime ?

उत्तर—मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व जापान आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ देश था। 1868 में मेजी पुनर्संस्थापन के पश्चात् जापान का आर्थिक विकास आरम्भ हुआ। बहुत कम समय में जापान ने इतनी अधिक उन्नति कर ली जितनी उन्नति करने में पश्चिमी देशों को शताब्दियों का समय लगा था। आधुनिक जापान को उत्तराधिकार-स्वरूप ऐसी परम्पराएँ एवं संस्थाएँ प्राप्त हुईं, जो नवीन आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित एवं प्रयुक्त की जा सकती थीं। जापान की सामाजिक व्यवस्था एवं सामन्तवादी अनुशासन ने जापानियों में आत्म-त्याग की भावना जगाई तथा उन्हें संगठित होकर कार्य करने की शिक्षा दी। इसीलिए जापान में द्रुत गति से सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन सम्भव हो सके। जे० मरडोच (J. Murdoch) के शब्दों में, "जापान का सम्पूर्ण इतिहास यह दर्शाता है कि नवीन विचारों एवं पद्धतियों को यथाशीघ्र समझकर ग्रहण करने, निर्भयतापूर्वक कार्य करने, तथा सुसंगठित होने का जापानियों का वरदान-सा प्राप्त है।"

पुरातत्वविदों की राय में जापान के आदिम निवासी पूर्वी एशिया तथा दक्षिणी प्रशान्त द्वीपों से आकर बसे थे। वे 'यामेटो' (Yameto) जाति के थे। ईसा से तीन-चार शताब्दी बाद तक जापान में इसी जाति का प्रभुत्व रहा। पाँचवी शताब्दी में जापान निवासियों ने चीन और कोरिया से विभिन्न प्रकार की दस्तकारियों और रीति-रिवाजों की जानकारी हासिल की। 538 ई० में यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। जापान की पहली राजधानी 710 ई० में नारा में स्थापित हुई। 794 में क्योटा में नई राजधानी बनी। 1185 में सत्ता-प्राप्ति के लिये दो सैनिक परिवारों (मिनामोटोस और तैरास) के बीच संघर्ष हुआ, जिसमें मिनामोटोस परिवार की विजय हुई। तदुपरान्त जापान में सामन्तशाही युग का आरम्भ हुआ।

16 वीं शताब्दी के अन्त में यहाँ भयानक गृह-युद्ध छिड़ा, जिसके फलस्वरूप तोकुगावा घराने की सत्ता स्थापित हुई। इस घराने ग टोकियो में जापान की राजधानी स्थापित की।। 1868 में मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व तक जापान में इसी घराने का शासन चलता रहा।

मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व जापान की सामाजिक-आर्थिक स्थिति—तोकुगावा घराने ने जापान में सैनिक तानाशाही (Bakafu) की स्थापना की। यह घराना जापान का सबसे बड़ा भूस्वामी था; क्योंकि देश की एक-चौथाई कृषि-योग्य भूमि इसके अधिकार में थी। शेष कृषि-भूमि पर सामन्तों (Diamyo) का अधिकार था। प्रत्येक गाँव (Han) पर एक सामन्त (डायमियो) का अधिकार होता था। वह गाँव का प्रधान शासक, प्रधान दण्डाधिकारी तथा प्रधान समाहर्त्ता होता था। तोकुगावा घराना (सामन्तशाही का प्रतिनिधि) 'येडो' नामक नगर में निवास करता था, जो बाद में चलकर 'टोकियो' कहलाया। जापान का नामधारी शासक (सम्राट) क्योटो में निष्क्रिय जीवन व्यतीत करता था। सामन्तों पर केन्द्रीय नियन्त्रण 'सैनिक कोटाई' की व्यवस्था द्वारा रक्खा जाता था। इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक सामन्त को वर्ष में कई महीनों तक टोकियो में रहना पड़ता था। सामन्तों के नीचे सेमुराई (Samuri) वर्ग था, जो एक प्रकार से योद्धाओं का वर्ग था। प्रारम्भ में यह वर्ग उन किसानों से बना था, जिन्हें अस्त्र-शस्त्र धारण करने का शौक होता था और युद्ध के समय सामन्तों की सहायता करनी पड़ती थी।

सेमुराई वर्ग के नीचे सामान्य जनता थी, जिसमें कृषकों की प्रधानता थी। कुल जनसख्या में सेमुराई वर्ग का अनुपात 6 प्रतिशत तथा कृषक वर्ग का अनुपात 75 प्रतिशत था। जापानी कृषकों की सामाजिक स्थिति यूरोपीय दासों के सदृश्य थी। उन्हें खेती-बारी छोड़कर शहरों में बसने की स्वतन्त्रता नहीं थी। उन्हें भूमि पर वे फसलें उगानी होती थीं, जिनकी आवश्यकता सामन्तों को होती थी। उनका अस्तित्व मात्र टैक्सों की अदायगी करने के लिए जान पड़ता है। उन्हें 40 से 50 प्रतिशत तक उपज लगान के रूप में सामन्तों को देनी पड़ती थी। उन्हें वस्तुओं और सेवाओं के रूप में अन्य प्रकार के भुगतान भी करने पड़ते थे। शौगुन (तोकुगावा घराना) तथा डायमियो (सामन्तों) को अधिकांश आय किसानों से प्राप्त होती थी। किसानों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी।

मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व जापानी अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि-प्रधान थी। 'धान' सिंचित क्षेत्रों की प्रमुख फसल थी। धान के साथ-साथ गेहूं, जौ, बाजरा, सोयाबीन और सब्जियों (खाद्य फसलें) की खेती भी होती थी। व्यापारिक फसलों में सन, नील, कपास और शहतूत की पत्तियाँ सम्मिलित थीं। रेशम उद्योग जापान का प्रमुख उद्योग था, जो सभी ग्रामीण परिवारों में विद्यमान था। रेशम के कीड़े पालने के अतिरिक्त, जापानी कृषक सहायक धन्धे के रूप में मछली पकड़ने का काम भी करते थे। शहरी क्षेत्र के उद्योग मुख्यतः सूती वस्त्र और सैनिक-सामग्री के

उत्पादन में संलग्न थे। शहरी उद्योग मुख्यतः सेमुराई वर्ग की छत्रछाया में पनप रहे थे। 'क्योटो' शहर दस्तकारियों तथा उद्योग-धन्धों का प्रमुख केन्द्र था। 'टोकियो' शहर विदेशी वस्तुओं का प्रमुख उपभोक्ता-केन्द्र था। 'ओसाका' शहर जापान का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। इसे 'व्यापारियों का नगर' कहा जाता था। औद्योगिक उत्पादन का संगठन गिल्डों पर आधारित था, जो बहुत-कुछ यूरोपीय दस्तकारी गिल्डों के सदृश्य थे। गिल्डों की सदस्यता सीमित एवं वंशानुगत होती थे। ये उत्पादन की दशाएँ एवं मूल्य नियन्त्रित करते थे। जिन गिल्डों को 1721 की 'व्यापार संघ आज्ञप्ति' के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त थी, उन्हें सामन्तों को टैक्स चुकाना पड़ता था। जापानी गिल्ड मुख्यतः सामन्तवादी समाज की परिधि में रहकर कार्य करते थे।

तोकुगावा शासनकाल में जापान के विभिन्न भागों में परिवहन के साधनों का भी पर्याप्त विकास हुआ। जापान के पूर्वी और पश्चिमी भागों को एक मुख्य सड़क द्वारा मिलाया गया, यद्यपि इस सड़क पर जनसाधारण का आवागमन निषिद्ध था। यद्यपि जापान में बड़े-बड़े जलयानों का निर्माण प्रतिबन्धित था (ताकि जापान विदेशी प्रभावों से बचा रहे), तथापि टोकियो तथा ओसाका के बन्दरगाहों के बीच बड़े पैमाने पर तटवर्ती व्यापार प्रचलित था। तोकुगावा शासक की पृथक्त्व की नीति के कारण जापान का विदेशी व्यापार अत्यन्त सीमित था। केवल नागासाकी में एक चीनी व्यापारिक केन्द्र तथा एक डच व्यापारिक केन्द्र स्थित था। ये केन्द्र मुख्यतः रेशम और रेशमी वस्त्रों का व्यापार करते थे। पृथक्त्व की नीति जापान को विदेशी प्रभावों से बचाने में तो सफल रही, किन्तु इस नीति के कारण जापान की सुरक्षा-व्यवस्था कमजोर पड़ गई। पश्चिमी देशों की आक्रामक शक्ति के विरुद्ध जापान की सुरक्षा-व्यवस्था खोखली सिद्ध हुई। जापान में अल्प-जीवी गृह-युद्ध छिड़ गया, जिसके परिणामस्वरूप तोकुगावा घराने का अन्त हुआ तथा शासन की वास्तविक शक्ति सम्राट के हाथों में आ गई। इस समय जापान के समक्ष दो ही विकल्प थे—(i) जापानी सभ्यता का पश्चिमीकरण अथवा (ii) अन्य एशियाई देशों की तरह पश्चिमी देशों का उपनिवेश बनकर रह जाना। 1868 में मेजी पुनर्संस्थापना के पश्चात् जापान ने इनमें से प्रथम विकल्प अपनाया।

तोकुगावा घराने के पतन के कारण—जापान में तोकुगावा शासन के पतन तथा मेजी पुनर्संस्थापना के कारण आन्तरिक (धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक) और बाह्य दोनों प्रकार के थे, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार है—

(1) **धार्मिक कारण**—तोकुगावा शासक के संस्थापक इयासु (Iyeyasu) ने बौद्ध धर्म को जापान का राष्ट्रीय धर्म घोषित करते हुए जापान के प्राचीन इतिहास में अनुसंधान को हतोत्साहित किया था। मिंग वंश के पतन के बाद अनेक

चीनी विद्वान जापान आए, जिन्होंने जापानियों को उनके प्राचीन वैभव से अवगत कराया तथा उनमें नई बौद्धिक चेतना जाग्रत की। प्राचीन इतिहास के अध्ययन ने जापानियों में सम्राट के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की। जापान का शिन्टो धर्म राजा को ईश्वर-तुल्य मानता था। 19 वीं शताब्दी के मध्य में शिन्टो धर्म का पुनरुत्थान होने लगा। जापानी विद्वानों ने जनसाधारण के समक्ष शिन्टो धर्म की महानता तथा तोकुगावा का ढोंगी स्वरूप स्पष्ट किया। फलतः जनसाधारण में तोकुगावा घराने के प्रति भारी असन्तोष उपस्थित हुआ।

(2) **राजनीतिक कारण**—तोकुगावा शासन के पतन के लिए उत्तरदायी राजनीतिक कारणों में कुछ सामन्तों का राजनीतिक विरोध प्रमुख था। यद्यपि ऐसे सामन्तों की संख्या कम थी, किन्तु वे अत्यधिक शक्तिशाली थे। वे सदैव ऐसे कार्यों को प्रोत्साहित करते थे, जो तोकुगावा घराने की नीतियों के विरुद्ध होते थे। इन्होंने चीनी तथा यूरोपीय व्यापारियों के साथ गुप्त सम्पर्क स्थापित किया। इन्होंने जापान में विदेशी प्रभावों का मुक्त हृदय से स्वागत किया तथा पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति के अध्ययन हेतु अपने सम्बन्धियों को विदेश भेजा। आधुनिक जापान के निर्माण में इन्होंने महत्वपूर्ण योगदान किया।

(3) **सामाजिक कारण**—तोकुगावा शासन के अन्तर्गत सामन्त और सेमुराई मुख्यतः किसानों के शोषण पर जीवित थे। किसानों की सामाजिक स्थिति यूरोपीय दासों से भी खराब थी। 19वीं शताब्दी के आरम्भ से जापान की सामाजिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे। उदारवादी भावनाओं के विकास के कारण सामन्तवाद का ह्रास आरम्भ हो गया। वे समस्त व्यक्तिगत सम्बन्ध, जिनपर प्राचीन सामाजिक व्यवस्था आधारित थी, छिन्न-भिन्न होने लगे। समाज में सामन्तों का महत्व घटने लगा तथा व्यापारियों का महत्व बढ़ने लगा। इन सामाजिक परिवर्तनों ने तोकुगावा शासन के पतन में उल्लेखनीय योगदान किया।

(4) **आर्थिक कारण**—तोकुगावा घराने के पतन के लिए सम्भवतः आर्थिक कारण अधिक उत्तरदायी थे। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही तोकुगावा शासन को गम्भीर वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इन कठिनाइयों ने शासन की नींव खोखली कर दी तथा जनता में व्यापक असन्तोष को जन्म दिया। वित्तीय कठिनाइयाँ मुख्यतः निम्न कारणों से उत्पन्न हुई थीं—

(अ) **निरंकुश शासन**—निरंकुश शासन के कारण प्रशासनिक तन्त्र में भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया था। परिणामतः करों से प्राप्त आय का छोटा हिस्सा ही सरकारी खजाने में पहुंच पाता था। निरंकुशता के कारण प्रशासनिक तन्त्र में अकुशलता को भी जन्म मिला; क्योंकि महत्वपूर्ण पदों पर सामन्तों की नियुक्ति ही सम्भव थी।

(ब) **सरकारी आय के अपर्याप्त साधन**—तोकुगावा शासकों की आय का प्रमुख स्रोत चावल-कर था। उन्होंने बन्दरगाहों, व्यापारियों और खानों पर भी

टैक्स लगाए; किन्तु सरकारी आय के ये समस्त साधन अपर्याप्त थे। विदेशी व्यापार के अभाव में सीमा-शुल्कों से आय-प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं थी। वित्तीय संकट के निवारण हेतु सरकार ने नए टैक्स भी लगाए; किन्तु इन करों का भार मुख्यत: उन किसानों पर पड़ा, जिनकी करदान-योग्यता पहले से ही कम थी।

(स) **मुद्रा का अपकर्षण**—वित्तीय संकट के निवारण हेतु सरकार ने कई बार मुद्रा का अपकर्षण (Debasemet) किया। परिणामत: जापानी मुद्रा की क्रयशक्ति में भारी गिरावट आई, जिससे जनसाधारण में घोर असंतोष फैल गया। जापान में खोटे सिक्कों का प्रचलन बढ़ गया, जिसने आर्थिक जीवन में व्यतिक्रम को जन्म दिया।

(द) **प्राकृतिक प्रकोप**—18वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों से जापान में प्राकृतिक प्रकोपों की बारम्बारता बढ़ गई। प्राकृतिक प्रकोपों का जापानी अर्थ-व्यवस्था पर अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव उपस्थित हुआ। इसी समय सुरक्षा-व्यवस्था को सबल बनाने के लिए भी सरकार को अधिक धन खर्च करना पड़ा।

(य) **सामन्तों की ऋणग्रस्तता**—18वीं शताब्दी के मध्य तक सेमुराई वर्ग के पोषण हेतु सामन्त (डाइमियो) मुख्यत: व्यापारियों से प्राप्त ऋणों पर निर्भर रहने लगे; क्योंकि उनकी वित्तीय स्थिति बिगड़ने लगी थी। इससे व्यापारियों के प्रभाव और शक्ति में वृद्धि हुई।

(5) **बाह्य कारण**—19वीं शताब्दी के आरम्भ से तोकुगावा शासक के लिए पृथक्त्व की नीति को कायम रखना कठिन हो गया। ब्रिटेन, रूस और अमेरिका सभी जापान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। 1854 के पश्चात् तोकुगावा शासक को पृथक्त्व की नीति छोड़नी पड़ी; क्योंकि वह जापानी भूमि पर विदेशियों के शक्ति-प्रदर्शन से भयभीत हो चुका था। 1858 में उसे फ्रांस, ब्रिटेन तथा दूसरे देशों के साथ संधि करनी पड़ी; जिसके अनुसार विदेशियों को जापान में व्यापार करने का अधिकार प्राप्त हुआ। जापानी बन्दरगाह विदेशी जहाजों के लिए खोल दिए गए। 1863 और 1864 में विदेशियों ने क्रमश: कागोशिमा और शिमोनेस्की पर बमबारी की। जापान की सुरक्षा-व्यवस्था अत्यन्त खोखली सिद्ध हुई। जापान की सामाजिक-आर्थिक एवं राज-नीतिक व्यवस्था में परिवर्तन हेतु गृह-युद्ध आरम्भ हुआ, जिसकी परिणति तोकुगावा शासन के अन्त में हुई।

परन्तु बाह्य कारणों को तोकुगावा शासन के पतन के लिए एकमात्र उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। वस्तुत: बाह्य कारणों ने तो परिवर्तन की गति को तीव्र बनाया था, परिवर्तन का सृजन नहीं किया। परिवर्तन के वास्तविक कारण जापान की आन्तरिक व्यवस्था (सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक) में पहले से ही विद्यमान थे। ग्रिफ्स (Griffs) के शब्दों में, "विदेशी तथा उनके विचार जापान की द्वैध शासन-प्रणाली के विनाश हेतु अवसर थे,

कारण नहीं थे। उनकी उपस्थिति ने मात्र उस प्रक्रिया को तीव्र बना दिया, जो अपरिहार्य थी। जापान में परिवर्तन के वास्तविक कारण भीतर से संचालित हुए, बाहर से नहीं। वे आवेग से संचालित हुए, प्रभाव (विदेशी) से नहीं।"

2

मेजी पुनर्संस्थापन

(The Meiji Restoration)

प्रश्न 2—मेजी पुनर्संस्थापन द्वारा लाए गए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों का परीक्षण कीजिए। इन परिवर्तनों के तात्कालिक प्रभाव क्या थे ?

Examine the social, economic and political changes brought about by the Meiji Restoration. What were the immediate ? effects of these changes ?

उत्तर—1868 में तोकुगावा घराने के पतन के पश्चात् जापानी सम्राट की स्थिति पुनः वास्तविक शासक की बन गई। जापान के राज्य सिंहासन पर मेजी (जो स्वर्गवासी सम्राट काई-ओ का उत्तराधिकारी था) को पदारूढ़ किया गया। मेजी पुनर्संस्थापन सदियों से एकत्रित शक्ति के प्रवाह को खोल देने के सदृश्य था। इस ऐतिहासिक घटना का जापान के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। 'समृद्धराष्ट्र एवं सुदृढ़ सेना' जापानियों का एकमात्र नारा बन गया। **मेजी पुनर्संस्थापन द्वारा जापान में उपस्थित प्रमुख परिवर्तन निम्न प्रकार थे—**

(1) **प्रशासनिक एवं वैधानिक परिवर्तन**—मेजी पुनर्संस्थापन के पश्चात् जापान की वैधानिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था में आधारभूत परिवर्तन उपस्थित हुए। 1869 में सामन्तवादी प्रथा को समाप्त कर दिया गया। सामन्तों को पेन्शन देने की व्यवस्था की गई। उन्होंने भूस्वामित्व-सम्बन्धी अधिकार यह कहते हुए सरकार को सौंप दिए कि 'जब शाही शक्ति पुनर्संस्थापित हो चुकी है; तब हम भूमि पर, जो सम्राट की है, अपना अधिकार कैसे बनाए रख सकते हैं।

अतः हम अपने समस्त सामन्ती अधिकार लौटा रहे हैं, ताकि समूचे साम्राज्य में एक-समान व्यवस्था लागू की जा सके।" 1871 में हान (Hen) की जगह परफैक्चर (Perfectures) स्थापित किए गए। 1878 में परफैक्चर के लिए असेम्बली की व्यवस्था की गई। इस तरह, प्राचीन सामन्तशाही से सम्बद्ध प्रशासनिक व्यवस्था समाप्त हो गई तथा उसका स्थान नई व्यवस्था ने ले लिया। प्रत्येक जिले में पुलिस स्टेशन, डाक एवं तारघर खोले गए। भूमि की नई व्यवस्था के अन्तर्गत उन व्यक्तियों को, जिन्होंने भूमि प्राप्त करने के लिए सामन्तों को अनुदान दिया था, भूमि का स्वामी बनाया गया। किसानों को भूमि पर मनचाही फसल उगाने की स्वतन्त्रता दी गई। 1890 में समूचे देश के लिए प्रतिनिधि एसेम्बली की स्थापना की गई। फलतः ब्रिटेन की तरह, जापान में भी संसदीय शासन-व्यवस्था का सूत्रपात हुआ।

(2) **आवागमन और व्यवसाय की स्वतन्त्रता**—मेजी पुनर्संस्थापन के पश्चात् जापान में आवागमन एवं व्यवसाय की स्वतन्त्रता तथा शिक्षा के प्रसार ने सामाजिक परिवर्तनों को जन्म दिया। 1869 में कानून के समक्ष विभिन्न सामाजिक वर्गों की समानता का ऐलान किया गया। आवागमन की स्थानीय बाधाएँ तथा आन्तरिक व्यापार की रुकावटें समाप्त कर दी गईं। किसानों को मनचाही फसल बोने की स्वतन्त्रता दी गई। व्यक्तियों के लिए मनचाहे व्यापार और व्यवसाय में प्रवेश का द्वारा खोल दिया गया। व्यक्तियों को सम्पत्ति और भूस्वामित्व का अधिकार प्रदान किया गया। शिक्षा अनिवार्य बना दी गई। शिक्षा की व्यवस्था के लिए 1871 में 'शिक्षा विभाग' खोला गया। जापानियों को तकनीकी प्रशिक्षण दिलाने के लिए विदेशी विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त की गईं। तकनीकी और सामान्य शिक्षा के प्रसार हेतु सरकार द्वारा बड़े पैमाने पर स्कूल और कॉलिज खोले गए।

(3) **आर्थिक परिवर्तन**—मेजी पुनर्संस्थापन के पश्चात् कृषि-तकनीक में सुधार हेतु स्थान-स्थान पर कृषि प्रयोगशालाएँ स्थापित की गईं। विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए 1876 में 'व्यापारिक ब्यूरो' की स्थापना की गई। 1877 में टोकियो में औद्योगिक प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्पर्क हेतु आवश्यक रूपरेखा प्रस्तुत करने का दायित्व राज्य ने अपने ऊपर ले लिया। विदेशी व्यापार के क्षेत्र में सरकार विशेष रूप से रुचि लेने लगी। जापान के पश्चिमीकरण हेतु विदेशों से बड़े पैमाने पर मशीनों, सन्यन्त्रों, जलयानों तथा सामरिक सामग्री का आयात किया गया। इन आयातों के भुगतान हेतु विदेशी मुद्रा की आवश्यकता हुई। इसके लिए सरकार ने निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित किया। सरकार स्वयं भी चावल, चाय और रेशम का निर्यात करने लगी। कुछ वस्तुओं का आयात घटाने के लिए सरकार ने आयात-प्रतिस्थापन उद्योग स्थापित किए। औद्योगिक विकास की गति तेज करने

के लिए सरकार ने परिवहन एवं संचार साधनों के विस्तार पर बल दिया। 1871 में डाक एवं तार की व्यवस्था आरम्भ की गई। 1877 में जापान 'विश्व पोस्टल संघ' का सदस्य बन गया। 1869 में ओसाका में एक जहाजी कम्पनी स्थापित हुई। टोकियो तथा याकोहामा को मिलाने के लिए पहली रेलवे लाईन का निर्माण हुआ। रेलों और जलयानों के निर्माण हेतु सरकार ने निजी पूंजीपतियों को सहायता प्रदान की अथवा उनके साथ संयुक्त रूप से कार्य किया।

(4) **औद्योगीकरण में सरकार की सक्रिय भूमिका**—पश्चिमी देशों की तरह, बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण हेतु सरकार ने सक्रिय भूमिका निभाई। शोगुन और डायमियो द्वारा स्थापित कारखानों की व्यवस्था अपने हाथ में लेकर सरकार ने उनका आधुनिक ढंग से पुनर्गठन किया। अभी तक जिन वस्तुओं का उत्पादन परम्परागत ढंग से होता था, सरकार ने उनका आधुनिक ढ़ंग से उत्पादन आरम्भ किया। इस उद्देश्य से 1870 में मेवासी और टोमीको में फ्रेंच मॉडल के आधार पर रेशम के कारखाने स्थापित किए गए। सरकार द्वारा स्थापित अन्य कारखानों में शिवाकावा व्हाइट टाईल वर्क्स, फूकूगावा सीमेन्ट वर्क्स, सेनजी ऊलन वेब फैक्टरी तथा आयुध कारखाने प्रमुख थे। 1880 में सरकारी स्वामित्व के अन्तर्गत 3 जलयान-निर्माण कारखाने, 15 व्यापारिक जहाज, 5 आयुध कारखाने, 52 अन्य कारखाने 10 खानें, 52 मीच लम्बी रेलवे लाईन तथा प्रमुख शहरों को जोड़ने वाली टेलीग्राफ व्यवस्था सम्मिलित थी। 1882 के पश्चात् सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र में प्रत्यक्ष स्वामित्व की नीति का परित्याग करते हुए औद्योगिक विकास में परोक्ष योगदान करने की नीति अपनाई। फलतः सरकारी स्वामित्व वाली अधिकांश औद्योगिक परिसम्पत्ति निजी पूँजीपतियों को बेच दी गई। जापान के औद्योगिक विकास में अमेरिकी तथा यूरोपीय व्यापारियों एवं बैंकरों का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा। 19वीं शताब्दी के अन्त तक जापान का विदेशी व्यापार मुख्यतः विदेशियों के हाथ में रहा।

सरकारी प्रोत्साहन का जापान में कृषि एवं उद्योगों के विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। 1881 तक रेलों की लम्बाई 122 मील हो गई। जहाजरानी की टन भार-क्षमता 1873 में 26 हजार टन में बढ़कर 1882 तक 50 हजार टन हो गई। समुद्री जहाजों के निर्माण में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। अनेक लघु उद्योगों का विकास हुआ। प्राचीन उद्योगों ने स्वयं को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार समायोजित कर लिया। कच्चे रेशम की विदेशी माँग बढ़ जाने से जापानी किसानों को रेशम के कीड़े पालने के लिए प्रोत्साहन मिला।

(5) **विदेशी व्यापार की मात्रा एवं मूल्य में वृद्धि**—मेजी पुनर्सस्थापन के पश्चात् जापान के विदेशी व्यापार की मात्रा एवं मूल्य दोनों में वृद्धि हुई। विदेशी व्यापार का मूल्य 1868 में 26 मिलियन येन से बढ़कर 1873 में 50 मिलियन येन तथा 1881 में 62 मिलियन येन हो गया। इस बीच जापान

के आयात-व्यापार का मूल्य उसके निर्यात-व्यापार के मूल्य से अधिक बना रहा क्योंकि जापान ने विनिर्मित वस्तुओं और पूँजीगत सामान (सू ीवस्त्र, अस्त्र-शस्त्र, मशीनरी, उपकरण, जहाज, रेलवे सामग्री, आदि) का बड़े पैमाने पर आयात किया। जापान लगभग 50 प्रतिशत आयात ब्रिटेन से प्राप्त करता था। जापानी निर्यातों में कच्चे रेशम और चाय (कृषि-उत्पादों) की प्रधानता थी।

(6) **वित्ती परिवर्तन**--प्रारम्भ में मेजी सरकार को वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। 1868 में सरकार का कुल व्यय 250 लाख येन था, जबकि सरकार की समस्त साधनों से प्राप्त आय केवल 37 लाख येन थी। आय-व्यय का अन्तर अधिक पत्र-मुद्रा जारी करके पाटा गया। चूँकि उस समय पत्र-मुद्रा की निकासी का कोई प्रमाणिक तरीका प्रचलित नहीं था, इसलिये जापान में कई तरह की पत्राँ-मुद्रा का प्रचलन हो गया। पत्र-मुद्रा के साथ-साथ स्वर्ण-रजत के सिक्कों का प्रचलन होने से मौद्रिक क्षेत्र में अराजकता व्याप्त हो गई। इसके निवारण हेतु सरकार ने अमेरिकी बैंकिंग प्रणाली के आधार पर जापान की बैंकिंग व्यवस्था का गठन किया। जापान में नेशनल बैंकों की स्थापना की गई, जिन्हें सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत पत्र-मुद्रा जारी करने का अधिकार दिया गया। वित्तीय कठिनाई के निवारण हेतु कर-प्रणाली का पुनर्गठन किया गया। भूमि-कर में वृद्धि की गई। परिणामतः सरकार का कर-राजस्व 1870 में 9323 हजार येन से बढ़कर 1876 में 59,194 हजार येन हो गया, यद्यपि सकल कर-राजस्व में भूमि-कर का अंशदान 1870 में 88·1 प्रतिशत से घटकर 1876 में 85 प्रतिशत रह गया। सरकार की समस्त साधनों से प्राप्त आय 1870 में 20,959 हजार येन (yen) से बढ़कर 1876 में 69,482 हजार येन हो गई। इस बीच अकेले भूमि-कर से प्राप्त आय 8,218 हजार येन से बढ़कर 50,345 हजार येन हो गई।

परिवर्तनों के तात्कालिक प्रभाव—मेजी पुनर्संस्थापना के पश्चात् 'सुरक्षा' नई सरकार का कर्त्तव्य हो गया तथा 'समृद्ध राष्ट्र एवं सुदृढ़ सेना' जापानियों का प्रमुख नारा बन गया। जापान-निवासियों ने अनुभव किया कि पश्चिमी उत्पादन-पद्धति एवं साधनों को अपनाकर ही जापान 'समृद्ध राष्ट्र' बन सकता है। मेजी पुनर्संस्थापन द्वारा लाए गए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं वित्तीय परिवर्तनों का जापान क आर्थिक जीवन पर अनुकूल 'प्रभाव पड़ा। कृषि, उद्योग, परिवहन एवं वाणिज्य क्षेत्रों का तीव्र गति से विस्तार हुआ। औद्योगिक क्षेत्र में बड़े और छोटे दोनों प्रकार के उद्योग स्थापित हुए। जापान के विदेशी व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। 19वीं शताब्दी के अन्त तक जापान की गणना संसार की महान शक्ति के रूप में की जाने लगी। जापानी उद्योग पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राज्य द्वारा प्रोत्साहित सुरक्षात्मक उपाय बन गया। अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने के लिए जापानियों ने पश्चिम की औद्योगिक प्रणाली के आधार

षर जापान का औद्योगीकरण किया। कुल मिलाकर मेजी पुनर्संस्थापन ने पूँजीवादी विस्तार हेतु आवश्यक आधार का सृजन करते हुए जापान को आधुनिक राष्ट्र में बदल डाला। आधुनिक जापान का निर्माण मेजी पुनर्संस्थापन द्वारा लाए गए परिवर्तनों का ही परिणाम है।

3
जनसंख्या-वृद्धि और जापान का आर्थिक विकास
(Population Growth and Japan's Economic Development)

प्रश्न 1—जापान के आर्थिक विकास पर जनसंख्या-वृद्धि के प्रभावों की व्याख्या कीजिए।

Discuss the effects of population growth on Japan's economic development.

उत्तर—आर्थिक विकास की प्रक्रिया पर जनसंख्या-वृद्धि का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। विकास के प्रयत्नों में श्रमशक्ति (कार्यशील जनसंख्या) धनात्मक योगदान करती है। जनसंख्या की वृद्धि वस्तुओं और सेवाओं की बिक्री हेतु विस्तृत घरेलू बाजार उपलब्ध कराकर उत्पादन-वृद्धि एवं निवेश-वृद्धि को प्रोत्साहित करती है। जापान के आर्थिक विकास पर जनसंख्या वृद्धि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस समय जनसंख्या की दृष्टि से जापान का विश्व में सातवाँ स्थान है। 1984 में जापान की जनसंख्या 12 करोड़ थी। जन्म-दर 13 प्रति हजार तथा मृत्यु-दर 7 प्रति हजार थी।

तोकुगावा शासनकाल में जनसंख्या—17वीं और 18वीं शताब्दियों के दौरान जापानी जनसंख्या में नियमित वृद्धि की प्रवृत्ति विद्यमान थी; किन्तु 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह लगभग स्थिर हो गई। मेजी पुनर्संस्थापन के समय (1868) जापान की कुल जनसंख्या 3 करोड़ थी। जापान के लघु आकार तथा आर्थिक पिछड़ेपन को देखते हुए 3 करोड़ की जनसंख्या भी आवश्यकता से अधिक थी। तोकुगावा घराने की पृथकृत्व की नीति के कारण जापान का विदेशी व्यापार बिल्कुल नहीं के बराबर था। यद्यपि जापान की तीन-चौथाई से भी अधिक जनसंख्या

अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर थी; किन्तु सामन्तवादी शोषण के कारण कृषि तथा किसानों की स्थिति अत्यन्त दयनीय बनी हुई थी। अधिकाँश कृषि-क्षेत्र पर वर्षभर में केवल एक फसल उगाई जाती थी। आधुनिक उद्योगों तथा परिवहन के आधुनिक साधनों का पूर्णतया अभाव था।

तोकुगावा शासन के अन्तिम चरण में जनसंख्या की स्थिरता (गतिशून्यता) के लिए सामाजिक एवं आर्थिक कारण प्रमुख रूप से उत्तरदायी थे। ज्येष्ठाधिकार का नियम प्रचलित होने के कारण पैतृक सम्पत्ति केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही मिल पाती थी। अन्य बच्चों का भविष्य बिल्कुल अनिश्चित था। अतः ज्येष्ठाधिकार का नियम अधिक बच्चों की पैदाइश में बाधक सिद्ध हुआ। दूसरी ओर, कुछ आर्थिक कारण मृत्यु-दर को बढ़ाने में सहायक थे। इनमें कृषि का पिछड़ापन प्रमुख कारण था। कृषि-कार्य मुख्यतः जीवन-निर्वाह के लिये किया जाता था। सामन्तवादी शोषण के कारण किसानों की अपने धन्धे में विशेष रुचि नहीं थी। वे अन्न का संचय भी नहीं करते थे। अतः प्राकृतिक विपदाओं के समय अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। चूँकि विदेशी व्यापार के अभाव में अनाज का आयात भी सम्भव नहीं था, इसलिए अनाज के अभाव में समय-समय पर असंख्य व्यक्ति परलोक सिधार जाते थे। औद्योगिक विकास के अभाव में जापान की अतिरिक्त जनसंख्या बेकार रहती थी। वह भुखमरी एवं बीमारी का शिकार बन जाती थी।

मेजी शासनकाल में जनसंख्या—1868 में मेजी पुनर्संस्थापन के पश्चात् जापान की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक दशाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुए, जिनका जनसंख्या की वृद्धि पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। सामन्तवादी प्रथा के उन्मूलन, किसानों को भूमि पर स्वामित्वाधिकार की प्राप्ति तथा मनचाही फसल उगाने की छूट का कृषि-उत्पादकता एवं उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। सरकारी सहयोग एवं प्रोत्साहन के कारण उद्योगों एवं परिवहन के साधनों का तेजी से विकास हुआ। आवागमन एवं व्यवसाय की स्वतन्त्रता का श्रम की गतिशीलता पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। अन्तर्देशीय एवं विदेशी व्यापार के विस्तार से उत्पादकों को प्रोत्साहन मिला। आर्थिक क्रियाओं के विस्तार से श्रमशक्ति की माँग बढ़ी। अतः जापानियों ने सीमित परिवार का विचार त्याग दिया। यह धारणा फैल गई कि देश की सुरक्षा तथा औद्योगिक विस्तार हेतु अधिक जनसंख्या आवश्यक है। फलतः जन्म-दर में वृद्धि हुई। दूसरी ओर, रोजगार के अवसरों में वृद्धि तथा अनाज का उत्पादन बढ़ जाने से मृत्यु-दर में गिरावट आई। ऊँची जन्म-दर तथा घटती हुई मृत्यु-दर के कारण जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई। मेजी शासनकाल (1868-1912) में जापान की कुल जनसंख्या 3 करोड़ से बढ़कर 5 करोड़ हो गई।

जनसंख्या-वृद्धि के आर्थिक परिणाम—मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व जापान जनांकिकीय संक्रमण की प्रथम अवस्था में थी, किन्तु मेजी शासनकाल में वह जनां-

किकीय संक्रमण की द्वितीय-अवस्था में पहुंच गया। 50-60 वर्षों में जापान की जनसंख्या बढ़कर लगभग दुगुनी हो गई। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या में अनेकों नई समस्याओं को जन्म दिया, जिनका जापान के आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। निस्सन्देह मेजी शासनकाल में जापान का सकल राष्ट्रीय उत्पादन तेजी से बढ़ा, किन्तु जनसंख्या की अप्रत्याशित वृद्धि ने प्रतिव्यक्ति आय एवं रहन-सहन का स्तर ऊँचा नहीं होने दिया। कुल जनसंख्या में आश्रितों का अनुपात अधिक हो जाने तथा सीमित संसाधनों पर जनसंख्या का दबाव बढ़ जाने में प्रति व्यक्ति उत्पादन (आय) में वृद्धि निरुत्साहित हुई। श्रमशक्ति की अधिकता के कारण मजदूरी का स्तर नीचा बना रहा। यद्यपि नीची मजदूरी-लागत के कारण विदेशी व्यापार के क्षेत्र में जापान की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति बढ़ गई, किन्तु जापान में श्रम की उत्पादकता का स्तर नीचा बना रहा। बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण हेतु जापान को विदेशी व्यापार में अधिक शक्ति लगानी पड़ी तथा बड़े पैमाने पर औद्योगिक वस्तुओं का निर्यात करने की भावना आ गई। फलत: जापान के प्राकृतिक संसाधन तेजी से समाप्त होने लगे। सीमित भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ जाने से भूमि के मूल्य में भारी वृद्धि हुई। नीची मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों की संख्या अधिक होने से जापान में श्रम-संघों का समुचित विकास नहीं हो पाया।

लॉकऊड (Lockwood) के शब्दों में, "चाहे बाजार के दृष्टिकोण से विचार किया जाये अथवा प्रौद्योगिकी या पूँजी-संचय के दृष्टिकोण से; जनसंख्या की वृद्धि आर्थिक प्रगति के लिए प्रतिव्यक्ति के अर्थ में (In per capita-term) निश्चय ही रोड़ा सिद्ध हुई।" जनसंख्या की अधिकता ने जापान में साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को प्रबल बना दिया। 1936 के बाद वह खुले रूप से क्षेत्रीय विस्तार की नीति का अनुसरण करने लगा।

प्रथम महायुद्ध के बाद जापानी जनसंख्या- जापान की जनसंख्या में वृद्धि का क्रम प्रथम महायुद्ध के बाद भी जारी रहा। 1914 और 1930 के बीच जापानी जनसंख्या में लगभग 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई अर्थात् 5·1 करोड़ से बढ़कर 6·4 करोड़ हो गई 'द्वितीय महायुद्ध से पूर्व जापान में जनसंख्या की औसत वार्षिक वृद्धि-दर 1·4 प्रतिशत थी, जो 1950-51 में बढ़कर 1·6 प्रतिशत हो गई किन्तु 1968-69 में घटकर 1·2 प्रतिशत रह गई। 1970 में जापान की कुल जनसंख्या 10·37 करोड़ थी जो एक शताब्दी पूर्व जनसंख्या की लगभग तिगुनी थी। जापान में जन्म-दर 1930 में 32·4 प्रति हजार थी, जो 1945 में बढ़कर 34·3 प्रति हजार हो गई। तदुपरान्त जनसाधारण में व्याप्त सीमित परिवार की भावना के कारण जन्म-दर में तेजी से गिरावट आई। यह घटकर 1965 में 19 प्रति हजार तथा 1984 में 13 प्रति हजार रह गई। जी० सी० एलेन (G. C. Allen) के शब्दों में, यद्यपि जापान निम्न जन्म-दर वाले देशों की श्रेणी में आ गया है; तथापि मृत्यु-दर में भारी गिरावट के कारण वहाँ जनसंख्या-वृद्धि की दर ऊँची बनी हुई है।" 1965 में यहाँ मृत्यु-दर 8 प्रति हजार थी, जो 1984 तक घटकर 6 प्रति हजार (संसार भर में

4

जापानी कृषि का विकास

(Deve.opment of Japanse Agriculture)

प्रश्न 1—मेजी शासनकाल में जापानी कृषि की स्थिति का विवेचन कीजिए। इस अवधि में कृषि-क्षेत्र के अन्तर्गत क्या महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए ?

Discuss the condition of Japanse agriculture in the Meiji period. What important changes were made in the field of agriculture during this period ?

उत्तर—मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व कृषि जापान-निवासियों की आजीविका का प्रमुख साधन थी। जापान की लगभग 80 प्रतिशत श्रमशक्ति कृषि एवं सम्बद्ध सेवाओं में संलग्न थी। कृषि-उत्पादकता का स्तर अत्यन्त नीचा था; क्योंकि कृषि-कार्य पुरातन ढंग से किया जाता था। भूमि के वास्तविक स्वामी डायमियो (सामन्त) होते थे। किसानों को उन्हीं की इच्छा के अनुसार फसल उगानी पड़ती थी। चावल, जौ, गेहूं और सोयाबीन मुख्य कृषि-फसलें थीं। अधिकांश कृषि-क्षेत्र असिंचित था, जिस पर वर्षभर में केवल एक फसल उगाई जाती थी। कृषि-भूमि पर जनभार की अधिकता के कारण प्रतिव्यक्ति औसत कृषि-क्षेत्र बहुत कम था। कृषि सरकारी आय का प्रमुख स्रोत भी थी। सरकार को अधिकांश आय भूमि-कर से प्राप्त होती थी। किसानों की स्थिति यूरोपीय दासों से भी बदतर थी। उनका शोगुन (तोकुगावा शासक), डायमियों और साहूकारों द्वारा शोषण किया जाता था। उनका जीवन मात्र करों की अदायगी के लिये जान पड़ता था। किसानों द्वारा डायमियो को चुकाया जाने वाला लगान कुल उपज का 40 से 50 प्रतिशत तक होता था। अतः प्राकृतिक विपदाओं के कारण समय-समय पर पड़ने वाले अकालों का सामना करने की शक्ति किसानों में बहुत कम रह जाती थी।

मेजी शासनकाल में जापानी कृषि—1868 में मेजी पुनर्संस्थापन के पश्चात् जापान में कृषि-क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुए। सरकार ने किसानों को सामन्तवादी शोषण एवं प्रतिबन्धों से मुक्त कर दिया। उन्हें भूमि पर इच्छानुसार फसल उगाने की स्वतन्त्रता दी गई तथा खेतीबारी का सुधरा हुआ तरीका अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। देश में कृषि विद्यालयों की स्थापना की गई तथा विशेषज्ञों को नई कृषि-तकनीक के अध्ययन हेतु विदेश भेजा गया। किसानों को नई

कृषि-तकनीक में प्रशिक्षित करने के लिए विशेष प्रकार के शिक्षकों की नियुक्ति की गई। सघन कृषि-पद्धति अपनाने पर बल दिया गया। सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार किया गया। भूमि की व्यवस्था में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व आसामियों (Tenants) द्वारा केवल 20 प्रतिशत कृषि-योग्य भूमि पर खेतीबारी की जाती थी। 1869 में जब सामन्तवादी प्रथा समाप्त कर दी गई तथा भूमि की बिक्री पर से प्रतिबन्ध हटा लिया गया, तब आसामियों द्वारा कृषित क्षेत्र में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। समस्त कृषि-योग्य भूमि में आसामियों द्वारा कृषित क्षेत्र का अनुपात 1887 में 40 प्रतिशत तथा 1910 में 45 प्रतिशत हो गया। मेजी शासन के अन्त (1912) में जापान के समस्त किसानों में से 33 प्रतिशत आसामी, 40 प्रतिशत भूस्वामी-कृषक तथा शेष 23 प्रतिशत ऐसे किसान थे, जो अपनी कार्यशील जोत के एक भाग के स्वामी थे और दूसरा भाग लगान पर लिया होता था। यद्यपि मेजी शासन के अन्तर्गत जनसंख्या में द्रुतवृद्धि के कारण कृषि पर निर्भर व्यक्तियों की संख्या में निरपेक्ष वृद्धि हुई, तथापि कुल जनसंख्या में कृषक-जनसंख्या का सापेक्षिक अनुपात घट गया। 1873 और 1940 के बीच जापान की कुल कृषक-जनसंख्या 13 मिलियन से बढ़कर 14 मिलियन हो गई, यद्यपि देश की कुल जनसंख्या में उसका अनुपात 78 प्रतिशत से घटकर 43 प्रतिशत रह गया। 1889 और 1912 के बीच जापान की कृषक-जनसंख्या के सापेक्षिक अनुपात में 21 प्रतिशत की गिरावट आई।

भूमि-व्यवस्था में परिवर्तन तथा कृषि-पद्धतियों में सुधार के फलस्वरूप मेजी शासनकाल में कृषि-उत्पादकता एवं उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। चावल की बुवाई का क्षेत्र 1878 में 2579 हजार चो (एक चो=2·45 एकड़) से बढ़कर 1908 में 2,922 हजार चो (cho) हो गया। अन्य फसलों की बुवाई के क्षेत्र में भी वृद्धि हुई। चावल का औसत वार्षिक उत्पादन 1879 और 1883 के बीच 30,874 हजार कोकू (एक कोकू=4·96 बुशल) से बढ़कर 1909 और 1913 के बीच 50,242 हजार कोकू हो गया। जौ का औसत उत्पादन 1879-83 में 5,506 हजार कोकू से बढ़कर 1909-13 में 9,677 हजार कोकू हो गया। गेहूं का औसत वार्षिक उत्पादन 1879-83 में 2,219 हजार कोकू से बढ़कर 1909-13 में 9,907 हजार कोकू हो गया। कृषि-उत्पादन में हुई यह वृद्धि मुख्यतः खेतीबारी की सुधरी हुई पद्धतियों, सिंचाई की अधिकाधिक सुविधाओं, फसल-कीटों एवं रोगों के नियन्त्रण तथा उर्वरकों के प्रयोग का परिणाम थी। जापान से चावल, चाय और रेशम का निर्यात बढ़ जाने के कारण मेजी शासनकाल में जापानी किसानों को व्यापारिक फसलों की खेती करने का प्रोत्साहन मिला। कृषकों को पूरक आय उपलब्ध कराने के उद्देश्य से सरकार ने लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास प्रोत्साहित किया।

कृषि-उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि के बावजूद, मेजी शासनकाल में कृषकों की आर्थिक स्थिति में सुधार की गति अत्यन्त धीमी रही। मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व आधी चो (1·225 एकड़) की जोत को औसत आकार की जोत माना जाता था। दक्षिणी जापान में 2·5 एकड़ से अधिक आकार वाली जोतें उपलब्ध नहीं थीं। बड़े आकार वाली कृषि-जोत मुख्यत: उत्तरी जापान में पाई जाती थीं। कृषि-भूमि पर जनसंख्या का निरपेक्ष भार बढ़ने से मेजी शासनकाल में भी छोटे आकार वाली जोतों की प्रधानता बनी रही। मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व जापान की व्यापारिक फसलों में कपास की प्रधानता थी, किन्तु 1887 के बाद जापान में बड़े पैमाने पर भारतीय कपास का आयात किया जाने लगा। 1896 में कपास का आयात पूर्णतया शुल्क-रहित कर दिया गया, जिससे 1900 तक जापान में कपास की खेती बिल्कुल बन्द हो गई। चूँकि मेजी सरकार अपने औद्योगिक एवं सैनिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कृषि-क्षेत्र से अधिकाधिक अतिरेक प्राप्त करना चाहती थी इसलिए 1872 में भूमि-कर में भारी वृद्धि की गई। परिणामत: सरकार को भूमि-कर से प्राप्त आय 1870 में 8,218 हजार येन से बढ़कर 1873 में 60,604 हजार येन हो गई। अत्यधिक कर-भार के कारण किसानों की ऋणग्रस्तता में वृद्धि हुई तथा उनकी भूमि साहूकारों के हाथों में जाने लगी। इस प्रवृत्ति की रोकथाम के लिए मेजी सरकार ने कृषि-साख की संगठित व्यवस्था की। 1897 में 'हाईपोथिक बैंक ऑफ जापान' की स्थापना हुई, जो अचल सम्पत्ति की जमानत के आधार पर किसानों को दीर्घकालीन ऋण, प्रदान करता था। 1933 तक इस बैंक ने किसानों को 75 करोड़ येन के दीर्घकाल ऋण प्रदान किए गए। किसानों की अल्पकालीन साख-आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहकारी समितियों की स्थापना की गई। 1900 के बाद तीन प्रकार की सहकारी समितियाँ स्थापित की जाने लगीं--साख समितियाँ, क्रय-विक्रय समितियाँ तथा पंचमेल समितियाँ। 1937 तक सहकारी समितियों की सख्या बढ़कर 16 हजार हो गई।

निष्कर्ष--मेजी सरकार का प्रमुख उद्देश्य उद्योग तथा विदेशी व्यापार के विकास को प्रोत्साहित करना था। मेजी शासनकाल में जापानी कृषकों की निर्धनता का यही मुख्य कारण था। सरकार कृषक के हितों की बलि देकर (कृषि-क्षेत्र पर भारी कराधान द्वारा) उद्योग एवं व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए तत्पर रही। अत: जिस तरह स्टालिन-युग में सोवियत सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति के कारण सोवियत किसानों को भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, उसी तरह मेजी शासनकाल में जापानी कृषकों को आर्थिक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। निस्सन्देह मेजी सरकार कृषि-संगठन में आमूल परिवर्तन लाए बिना कृषि उत्पादकता एवं

उत्पादन बढ़ाने में सफल रही, किन्तु कृषि-क्षेत्र के अतिरेक का प्रयोग देश के औद्योगिक विकास में किए जाने से किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हो पाया। कृषि-क्षेत्र ने जापान की बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्यान्न की व्यवस्था की। कृषि-पदार्थों के निर्यात ने औद्योगिक विकास हेतु विदेशों से पूँजीगत माल का आयात सम्भव बनाया। इस तरह, औद्योगीकरण का प्रारम्भिक भार जापानी कृषि को ही वहन करना पड़ा।

प्रश्न 2—युद्धोत्तरकाल में जापानी कृषि की स्थिति का विवेचन कीजिए। इसकी वर्तमान स्थिति क्या है ?

Discuss the position of Japanese agriculture in post war-period. What is its present postion ?

उत्तर—मेजी शासन के पश्चात् 'तीशा' की महामन्दी के समय तक जापानी कृषि के संगठन में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित नहीं हुआ। कृषक-परिवारों की संख्या 55 लाख के लगभग स्थिर बनी रही। बहुत छोटी और बहुत बड़ी आकार वाली कृषि-जोतों की संख्या में साधारण-सा परिवर्तन अवश्य उपस्थित हुआ। कुल कृषि-जोतों की संख्या 1913 में 5,644 हजार से घटकर 1930 में 5,600 हजार रह गई। इस बीच आधी चो (Cho) तक की कृषि-जोतों की संख्या 2,203 हजार से घटकर 1,939 हजार रह गई, किन्तु आधी से एक चो तक की कृषि-जोतों की संख्या 1816 हजार से बढ़कर 1916 हजार हो गई। एक से तीन चो तक की कृषि-जोतों की संख्या 1079 हजार से बढ़कर 1,226 हजार हो गई, किन्तु तीन चो से अधिक आकार वाली कृषि-जोतों की संख्या 546 हजार से घटकर 518 हजार रह गई। 'चावल' जापानी कृषि की मुख्य फसल बना रहा। चावल की फसल लगभग 55 प्रतिशत कृषि-क्षेत्र पर उगाई जाती रही। इस काल में जौ की बुवाई के क्षेत्र और उपज में तो गिरावट आई, किन्तु गेहूं की बुवाई के क्षेत्र और उपज में वृद्धि हुई। मुर्गीपालन का प्रचार बढ़ गया तथा विभिन्न प्रकार की सब्जियों एवं फलों की खेती की जाने लगी। रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग इस काल की जापानी कृषि में उपस्थित सबसे महत्वपूर्ण तकनीकी परिवर्तन था। 1924 से लेकर 1929 तक कच्ची रेशम के उत्पादन में लगभग तीन गुनी वृद्धि हुई।

'तीसा' की महामन्दी का जापानी कृषि पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। रेशम का निर्यात बहुत घट गया तथा चावल एवं रेशम के मूल्यों में अत्यधिक गिरावट आई। मूल्य-स्थिरीकरण हेतु सरकार नें वैधानिक व्यवस्था की तथा उत्पादकों को क्षतिपूर्ति प्रदान की। किसानों के अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दायित्वों के निपटारे हेतु सरकार द्वारा 1932 में केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा बन्धक बैंक को ऋण प्रदान करने की अनुमति दी गई। इसके अतिरिक्त, कृषि-करों में कमी की गई तथा किसानों को

राहत प्रदान करने के लिए सहायता कार्यों का आयोजन किया गया। किसानों की आर्थिक स्थिति में स्थायी सुधार हेतु 1932 में 'कृषि आर्थिक पुनरुद्धार ब्यूरो' की स्थापना की गई। परन्तु ये समस्त उपाय किसानों की आर्थिक स्थिति में विशेष सुधार नहीं कर सके, क्योंकि सरकार प्रमुख रूप से औद्योगिक विकास एवं सामरिक तैयारी में जुटी रही। जापानी किसान सरकार की कृषि-नीति मे आमूल परिवर्तन चाहते थे, ताकि विकास के लाभों में से उन्हें भी उचित हिस्सा मिल सके।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जापानी कृषि— 1945 में आत्म-समर्पण के पश्चात् जापान में सैनिक शासन की स्थापना हुई। मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च कमान्डर मैक आर्थर ने शासन की बागडोर संभाली। सैनिक शासन समझता था कि जापान में सैनिक शक्ति का आधार ग्रामीण जमींदार हैं। अतः इस आधार को समाप्त करने के उद्देश्य से भूमि-व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। दिसम्बर 1945 में सैनिक प्रशासन मैक आर्थर (Mac Arthur) ने घोषणा की, "जापान की शाही सरकार को ऐसे कदम उठाने का निर्देश दिया जाता है, ताकि जापान की भूमि जोतने वाले व्यक्तियों को अपने परिश्रम के फलों का आनन्द उठाने के लिए अधिक समान अवसर मिलने की गारण्टी हो सके।" यही घोषणा जापान में भूमि-सुधारों का प्रमुख आधार बनी। 1946 के स्वामी-कृषक संस्थापना कानून के अन्तर्गत जमींदारों के पास खुदकाश्त के लिए निश्चित मात्रा में भूमि छोड़कर उनकी शेष समस्त भूमि सरकार द्वारा सस्ते मूल्यों पर खरीद ली गई। इसका भुगतान 24 वर्षीय ऋणपत्रों में किया गया, जिनपर 3·65 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर देय थी। सरकार ने क्षतिपूर्ति के भुगतान हेतु अतिरिक्त पत्र-मुद्रा की निकासी का आश्रय लिया था, जिससे मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गई तथा जमींदारों को दिए गए ऋणपत्रों का मूल्य घटकर नगण्य रह गया। सरकारी अधिकार में ली गई भूमि युद्ध-पूर्व कीमतों पर खेतिहरों को बेच दी गई। उन्हें भूमि का मूल्य 30 वर्षीय आसान किस्तों में चुकाने की छूट दी गई। जमींदारों से अतिरिक्त भूमि खरीदकर उसे खेतिहरों के हाथों बेचने का कार्य 1949 तक पूरा हो गया। परिणामतः आसामी कृषकों का अनुपात 46 प्रतिशत से घटकर केवल 8 प्रतिशत रह गया। शेष 82 प्रतिशत स्वामी कृषक (Owner Cultiuators) बन गए। इस तरह, युद्धोत्तरकाल में जापान मुख्यतः कृषक स्वामियों (Peasant proprictors) का देश बन गया।

वस्तुतः युद्धोत्तरकाल जापानी कृषि एवं कृषकों के लिए समृद्धि का काल था। जमींदारी-उन्मूलन के साथ-साथ जब भूमि जोतने वालों को भूमि का वास्तविक स्वामी बना दिया गया तथा लगान की उचित सीमा निर्धारित की गई, तब जापानी किसानों को अधिक मेहनत द्वारा उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा मिली। इसके अतिरिक्त, महायुद्ध की समाप्ति के बाद कुछ वर्षों तक जापान में खाद्यान्नों के अभाव तथा उनके ऊँचे मूल्य की स्थिति विद्यमान रही, जिससे किसानों की आय में अच्छी-

खासी वृद्धि हुई। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व जापानी कृषि में आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग नहीं के बराबर था। परन्तु युद्धोत्तरकाल में कृषि-यन्त्रों का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जाने लगा, जिससे कृषि की उत्पादकता तथा किसानों की आर्थिक स्थिति में महत्वपूर्ण सुधार हुआ।

1952 में सैनिक शासन की समाप्ति के बाद जापान का द्रुत गति से आर्थिक विकास आरम्भ हुआ। औद्योगिक एवं सेवा क्षेत्रों के द्रुत विस्तार के कारण कृषि-क्षेत्र में संलग्न श्रमशक्ति के अनुपात तथा राष्ट्रीय आय में कृषि-क्षेत्र के सापेक्षिक अंशदान में उत्तरोत्तर गिरावट आई यद्यपि खेती-बारी की आधुनिक पद्धतियों एवं आधुनिक आगतों (कृषि-यन्त्र, सुधरे हुए बीज, रासायनिक उर्वरक एवं कीटनाशक दवाइयाँ) के प्रयोग के कारण कृषि-उत्पादकता एवं-उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। जापान की कृषक-जनसंख्या 1955 में 6·7 करोड़ से घटकर 1968 में केवल 2·3 करोड़ रह गई। इस बीच जापान की राष्ट्रीय आय में कृषि-क्षेत्र का अंशदान 17·8 प्रतिशत से घटकर 8·9 प्रतिशत रह गया। 1960 से लेकर 1964 तक जापानी कृषि-श्रमिकों की उत्पादकता में 37·5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1968 में यहाँ चावल का उत्पादन 145 लाख टन हुआ, जो संसार के कुल चावल उत्पादन का पाँच प्रतिशत था।

जापानी कृषि की वर्तमान स्थिति—जापान का लगभग 72 प्रतिशत भू-क्षेत्र पहाड़ी है। अतः यहाँ केवल 54·61 लाख हैक्टेयर भूमि में खेती-बारी की जाती है, जो जापान के कुल भौगोलिक क्षेत्र की मात्र 16·2 प्रतिशत है। कृषि-जोतों का औसत आकार मात्र 0·8 हैक्टेयर अर्थात् दो एकड़ है। जापानी किसान अपनी जोत के आकार के अनुसार छोटे-छोटे कृषि-यन्त्रों का प्रयोग करते हैं। यन्त्रों का प्रयोग 80 प्रतिशत से अधिक कृषि-जोतों पर किया जाता है। कृषि-क्षेत्र में जापान की केवल 12 प्रतिशत श्रमशक्ति (कार्यशील जनसंख्या) संलग्न है। राष्ट्रीय आय में कृषि-क्षेत्र का अंशदान मात्र 4 प्रतिशत है। सघन कृषि-पद्धति के प्रचलन तथा आधुनिक कृषि-आगतों के व्यापक प्रयोग के कारण जापान में कृषि-उत्पादकता का स्तर ऊँचा है। चावल जापान की मुख्य फसल है, जिसकी प्रति हैक्टेयर उपज (3977 किलोग्राम) संसार भर में सर्वाधिक है। जापान में खाद्यान्न का उत्पादन जनसंख्या की 83 प्रतिशत आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाता है। शेष 17 प्रतिशत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जापान को आयात पर निर्भर रहना पड़ता है। जापानी आयातों में गेहूं, चीनी, तिलहन, कपास, रबड़ और ऊन, आदि कृषि-पदार्थ सम्मिलित हैं। जापानी कृषि की आधुनिक विशेष कच्चे रेशम के उत्पादन में कमी तथा इसके स्थान पर फलों और रबड़ के उत्पादन में वृद्धि है। कृषि से सम्बद्ध क्रियाओं के रूप में यहाँ पशुपालन और मछली पकड़नेका धन्धा प्रचलित है। समूचे एशिया में वर्षभर में जितनी मछलियाँ पकड़ी जाती हैं, उसमें अकेले जापान का हिस्सा 43 प्रतिशत रहता है। जापान में दुग्धशालाओं का भी द्रुत गति से विकास हुआ है। इन सब कारणों से जापानी कृषक-परिवारों का रहन-सहन का स्तर पर्याप्त ऊँचा है।

———

5
जापान का औद्योगिक विकास

(Industrial Development of Japan)

प्रश्न 1—मेजी पुनर्संस्थापन काल में जापान की औद्योगिक प्रगति का विवेचन कीजिए।

Describe the industrial progress of Japan during the period of Maiji Restoration.

अथवा

अन्तर्महायुद्ध काल में जापानी औद्योगीकरण की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

Discuss the features of Japanese industrialisation during the inter-war period.

उत्तर—1868 में मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व जापानी अर्थव्यवस्था गतिहीनता और निर्धनता के कुचक्र में फंसी हुई थी। जापानी अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान थी, किन्तु सामन्तवादी शोषण के कारण कृषि-उत्पादन एवं उत्पादकता का स्तर अत्यन्त नीचा था। जापान में आधुनिक उद्योगों का सर्वथा अभाव था। क्योटो, ओसाका और टोकियो सरीखे कुछ बड़े-बड़े शहरों में छोटे पैमाने पर सूत एव सूतीवस्त्र, रेशम, सैनिक-सामग्री, आदि गिने-चुने उद्योगों का विकास हो पाया था।

पुनर्संस्थापनकाल में जापान का औद्योगीकरण—मेजी पुनर्संस्थापन के पश्चात् 'समृद्ध राष्ट्र एवं सुदृढ़ सेना' जापानियों का प्रमुख नारा बन गया। वे समझ गए कि सुरक्षा-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाए बिना (जिसके लिए औद्योगिक विकास आवश्यक है) दूसरे एशियाई देशों की तरह, जापान को भी पश्चिमी देशों की औपनिवेशिक प्रवृत्ति का शिकार बनना पड़ेगा। अतः जापानियों ने स्वयं को स्वतन्त्र बनाए रखने के लिए देश का औद्योगीकरण किया। मेजी शासनकाल में जापान का द्रुत गति से औद्योगिक विकास मुख्यतः सरकार के सक्रिय योगदान का परिणाम था अर्थात् जापान का औद्योगीकरण पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राज्य-समर्थित सुरक्षा था। मेजी पुनर्संस्थापन ने जापान में पूंजीवादी विकास हेतु आवश्यक वातावरण का सृजन किया तथा औद्योगीकरण हेतु आवश्यक सहायता एवं प्रोत्साहन प्रदान किया। मेजी शासन के प्रारम्भिक वर्षों में, जबकि जापान में गतिशील

उद्यमियों का सर्वथा अभाव था, सरकार औद्योगिक विकास हेतु स्वयं आगे बढ़ी तथा उसने कई महत्वपूर्ण उद्योगों की स्थापना की। सरकार ने शोगुन और डायमियों द्वारा संचालित उद्योगों को अपने नियन्त्रण में लेकर उनका पुनर्गठन किया। प्रशिक्षित जनशक्ति का अभाव दूर करने के लिए सरकार ने पश्चिमी देशों से विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त कीं; जापानी नवयुवकों को विदेशों में प्रशिक्षण हेतु भेजा तथा देश के भीतर प्रशिक्षण-सुविधाओं का विस्तार किया। औद्योगीकरण हेतु सरकार ने पूँजी-संचय एवं संचार-साधनों के विकास की आवश्यकता समझते हुए, इस दिशा में निरन्तर प्रयास जारी रक्खा। विदेशी व्यापार से प्राप्त लाभ का प्रयोग मुख्यतः औद्योगिक विकास में किया गया।

मेजी शासन के प्रारम्भिक 14 वर्षों (1868 से 1881 तक) को 'जापान के औद्योगीकरण का रचनात्मक काल' कहा जाता है। इस अवधि में मेजी सरकार ने सामन्तशाही व्यवस्था को समाप्त करते हुए पूँजीवादी विकास हेतु आवश्यक वातावरण का सृजन किया। सरकार ने 'नागासाकी आयरन फाउन्ड्रीज' की स्थापना द्वारा अस्त्र-शस्त्रों तथा 'कोगोसिमा शिप बिल्डिंग यार्ड' की स्थापना द्वारा सामरिक जहाजों के निर्माण की नींव रक्खी। सरकार ने टोकियो तथा याकोहामा के बीच रेलवे-प्रणाली विकसित की। डाक एवं तार की व्यवस्था आरम्भ की गई। सरकार ने पश्चिमी यन्त्रों से सुसज्जित विनिर्माणी उद्योगों की स्थापना का प्रबल प्रयास किया। शोगुन और डायमियों द्वारा संचालित कारखानों की व्यवस्था अपने हाथ में लेकर सरकार ने उनका पुनर्गठन किया। सरकार ने पश्चिमी आधार पर सूत की कताई के कारखानों की स्थापना की तथा निजी उद्योगपतियों के ऐसे कारखानों की स्थापना हेतु प्रोत्साहित किया। सरकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप जापान में आधुनिक सुरक्षा-साधनों पर आधारित ऐसी औद्योगिक व्यवस्था का निर्माण सम्भव हुआ, जो विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सके।

1882 के बाद मेजी सरकार ने उद्योग एवं व्यापार के क्षेत्र में स्वयं कार्य करने की नीति का परित्याग करते हुए, सरकारी उपक्रमों को निजी पूँजीपतियों के हाथों बेचना आरम्भ कर दिया। अतः 1882 से लेकर 1890 तक का समय जापान के औद्योगीकरण में 'पुनः प्राइवेटीकरण की नीति (Policy Re-privatisation) का काल' कहलाता है। सरकार की नीति में इस परिवर्तन के लिए मुख्यतः तीन कारण उत्तरदायी थे। सर्वप्रथम, इस समय तक सरकारी उपक्रम पूर्णतः स्थापित हो चुके थे, जिनका निजी उद्यमियों द्वारा सुगमतापूर्वक संचालन किया जा सकता था। दूसरे, सरकारी उपक्रमों में लाभ की मात्रा बहुत कम थी। तीसरे इस समय तक जापान में निजी उद्यमशीलता का भी पर्याप्त विकास हो चुका था।

1891 से लेकर 1913 तक का समय जापान में 'औद्योगिक समृद्धि का काल' था। इस काल में जापान की औद्योगिक समृद्धि अनेक घटकों से प्रभावित हुई, जैसे–नवीन तकनीक एवं यन्त्रों का प्रयोग, परिवहन एवं बैंकिंग प्रणाली का

विकास, मूल्य-वृद्धि तथा चीन एवं रूस के साथ युद्धों में जापान की विजय। इस अवधि में विद्युत, जहाज-निर्माण, धातु तथा रासायनिक उद्योगों के उत्पादन में द्रुत गति से वृद्धि हुई। औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप जापान की निर्यात-संरचना में परिवर्तन हुआ। निर्यात-व्यापार में विनिर्मित माल का महत्व बढ़ गया। निर्यात-व्यापार के द्रुत विकास के फलस्वरूप जापान के विदेशी विनिमय अर्जन बढ़ गए, जो मुख्यतः औद्योगिक विस्तार में विनियोग किए गए। पश्चिमी देशों की तरह, जापान में बड़े पैमाने के औद्योगिक उपक्रमों की स्थापना मेजी शासनकाल की प्रमुख विशेषता थी।

प्रथम महायुद्ध तथा उसके बाद औद्योगिक प्रगति—प्रथम महायुद्ध का जापानी उद्योगों पर अत्यधिक अनुकूल प्रभाव पड़ा। चूँकि युद्ध में फँसे होने के कारण पश्चिमी राष्ट्र पूर्वी बाजारों में अपना माल नहीं भेज सकते थे, इसलिए जापान (जिसका युद्ध से बहुत कम सम्बन्ध था) ने सुगमतापूर्वक पूर्वी बाजारों पर अपना कब्जा कर लिया। युद्धकाल में जापान के दृश्य एवं अदृश्य निर्यातों में भारी वृद्धि हुई तथा युद्ध की समाप्ति तक उसके पक्ष म बहुत बड़ा व्यापाराधिक्य जमा हो गया। निर्यात बढ़ जाने से जापानी उद्योगों को विस्तार हेतु प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। हब्बार्ड (Hubbard) के शब्दों में, "प्रथम महायुद्ध जापान के लिए स्वर्णिम अवसर था।" एलन (Allen) के अनुसार, प्रथम महायुद्ध के दौरान जापान में कारखाना-श्रमिकों की संख्या में 63 प्रतिशत, विद्युत शक्ति के उत्पादन में 34 प्रतिशत, खनिज लोहे के उत्पादन में 143 प्रतिशत इस्पात की वस्तुओं के उत्पान में 116 प्रतिशत तथा विद्युत-मोटरों के उत्पादन में 206 प्रतिशत की वृद्धि हुई। युद्धकाल में जापान के सूतीवस्त्र, रेशम, लोहा एवं इस्पात तथा रसायन उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

जापान की युद्धकालीन औद्योगिक अभिवृद्धि 1920 तक जारी रही। तदुपरान्त जापानी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का सामना पड़ा। युद्धकाल में स्थापित बहुत-सी औद्योगिक कम्पनियाँ इस प्रतियोगिता का सामना नहीं कर सकीं। फलतः औद्योगिक क्षेत्र में मन्दी की प्रवृत्ति (उत्पादन में ह्रास, लाभांश में में कमी तथा बेरोजगारी में वृद्धि) उत्पन्न हो गई। इसकी रोकथाम के लिए अतिरिक्त निवेश द्वारा सम्पूर्ण औद्योगिक ढाँचे को पुनर्गठित किया गया। इससे औद्योगिक उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। लॉकऊड (Lockwood) के अनुसार, 1913 और 1929 के बीच जापान का औद्योगिक उत्पादन बढ़कर तिगुने से से भी अधिक हो गया था। प्रमुख औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि अग्र तालिका के अनुसार रही—

औद्योगिक वस्तु	इकाई	1913	1910	1929
1. सूत	लाख पौण्ड	6,072	7,268	11,170
2· कच्ची रेशम	हजार कोया	3,741	5,834	11,292
3· कोयला	लाख टन	213	292	343
4· तैयार इस्पात	हजार टन	255	533	2,034
5· सीमेन्ट	,, ,,	645	1,353	4,349
6· विद्युत शक्ति	हजार किलोवाट	504	1,214	4,194

'तीसा' की महामन्दी क समय जापान के औद्योगिक उत्पादन एवं निर्यात-व्यापार में भारी गिरावट आई तथा बेरोजगारी की मात्रा बहुत बढ़ गई। औद्योगिक कुशलता में वृद्धि के उद्देश्य से सरकार ने 'औद्योगिक विवेकीकरण ब्युरो' की स्थापना की, जिसने औद्योगिक इकाइयों में विवेकीकरण की नीति लागू करने में सहायता की। 1931 में पारित 'स्थिर उद्योग-नियन्त्रण अधिनियम' द्वारा सरकार ने आन्तरिक प्रतियोगिता के निवारण हेतु औद्योगिक संयोजन को प्रोत्साहित किया। सरकार ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया तथा निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से येन का अवमूल्यन कर दिया। इन समस्त उपायों से यद्यपि श्रमिकों एवं उपभोक्ताओं के हितों की तो उपेक्षा हुई, तथापि औद्योगिक प्रगति को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक (आधार वर्ष 1929) 1933 में 92 से बढ़कर 1936 में 151 तथा 1937 में 171 हो गया।

द्वितीय महायुद्ध तथा उसके बाद जापानी उद्योग—जहाँ प्रथम महायुद्ध जापानी उद्योगों के लिए स्वर्णिम युग था, वहीं द्वितीय महायुद्ध उनके विनाश का युग था। युद्ध ने उत्पादन एवं वितरण की सामान्य प्रणाली अस्तव्यस्त कर दी। युद्धकाल में केवल सैनिक सामग्री का उत्पादन करने वाले उद्योग विकसित हुए। फलतः जापान की औद्योगिक संरचना असन्तुलित बन गई। 1945 में महायुद्ध की समाप्ति के साथ साथ जापान की अर्थव्यवस्था बिल्कुल तहस नहस हो गई। उसके बहुत से औद्योगिक एवं वाणिज्यिक प्रतिष्ठान नष्ट हो गए, बड़े बड़े शहर वीरान हो गए, जहाजरानी नष्ट हो गई तथा निर्यात व्यापार लगभग समाप्त हो गया। इस समस्त बर्बादियों के बावजूद, जापान में भयंकर मुद्रा स्फीति की दशा विद्यमान थी।

1945 में जापान पर मित्र राष्ट्रों का आधिपत्य हो गया। तदुपरान्त दो वर्ष तक जापानी उद्योगों की स्थिति अनिश्चित बनी रही। इस समय जापान

की प्रमुख समस्या औद्योगिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण की थी। पुनर्निर्माण का कार्य 1952 तक पूरा कर लिया गया। 1953 से लेकर 1959 तक का समय जापानी 'उद्योगों के एकीकरण' (Consolidation) का युग था। 1960 से लेकर 1973 तक का समय जापानी 'उद्योगों के पुनर्संगठन एवं विस्तार' का काल था। इस दौरान जापान में औद्योगिक क्षेत्र का तीव्र गति से विस्तार हुआ। तदुपरान्त जापान औद्योगिक विकास के चतुर्थ चरण (परिपक्वता काल) में प्रवेश कर गया। आजकल जापान में उद्योगों के परिमाणात्मक विस्तार की बजाय गुणात्मक विकास पर अधिक बल दिया जा रहा है। टिकाऊ उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन में तेजी से वृद्धि हो रही है।

जापान में युद्धोत्तरकालीन औद्योगिक विकास की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—(i) औद्योगिक संरचना में परिवर्तन तथा (ii) औद्योगिक उत्पादन में द्रुत गति से वृद्धि। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व जापान की औद्योगिक संरचना में लघुस्तरीय एवं उपभोक्ता वस्तु उद्योगों की प्रधानता थी; किन्तु युद्धोत्तरकाल में यहाँ धात्विक, रासायनिक एवं इंजीनियरिंग उद्योगों का विशेष रूप से विकास हुआ। आजकल अमेरिका और रूस के बाद जापान बड़ा इस्पात उत्पादक देश है। मोटरगाड़ियों के उत्पादन में जापान का दूसरा स्थान है। आधारभूत रासायनिक पदार्थों (सल्फ्यूरिक एसिड, कास्टिक सोडा तथा कार्बाइड) के उत्पादन में इसका चौथा स्थान है। यह समुद्री जहाजों का सबसे बड़ा निर्माता देश है। नए नए उद्योगों की स्थापना तथा पुराने उद्योगों के विस्तार के कारण युद्धोत्तरकाल में जापान का औद्योगिक उत्पादन तेजी से बढ़ा है। जापान में औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक (आधार-वर्ष 1934), जो 1940 में 149 से गिरकर 1946 में 31 रह गया था, 1960 में बढ़कर 410 हो गया। संयुक्त राष्ट्र संघ की विज्ञप्ति के अनुसार, 1958 से लेकर 1967 तक (10 वर्षीय अवधि) जहाँ सोवियत रूस, इटली और ग्रेट ब्रिटेन के औद्योगिक उत्पादन में क्रमशः 121 प्रतिशत, 113 प्रतिशत और 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी; वहीं जापान के औद्योगिक उत्पादन में 245 प्रतिशत की रिकार्ड वृद्धि हुई। सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि जापान की औद्योगिक प्रगति कच्चे-माल के अभाव में सम्भव हुई है। जापान को अपने उद्योगों के लिए शत-प्रतिशत, कपास, ऊन बाक्साइट एवं कच्ची रबड़; 98 प्रतिशत से अधिक खनिज लोहा एवं खनिज तेल तथा 75 प्रतिशत से अधिक कोकिंग कोयला आयात करना पड़ता है।

विगत वर्षों में जापानी अर्थव्यवस्था में औद्योगिक क्षेत्र का महत्व तेजी से बढ़ा है। 1960 में जापान की 30 प्रतिशत श्रमशक्ति औद्योगिक क्षेत्र में संलग्न थी। 1982 तक औद्योगिक क्षेत्र में श्रमशक्ति का अनुपात बढ़कर 39 प्रतिशत हो गया। जापान के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में औद्योगिक क्षेत्र का हिस्सा 1982 में 42 प्रतिशत था। द्रुत एवं सफल औद्योगीकरण के फलस्वरूप जापान में

प्रतिव्यक्ति आय का स्तर संसार के कई विकसित देशों (ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत संघ, न्यूजीलैण्ड, इटली आयरलैण्ड, स्पेन तथा पूर्वी जर्मनी) से भी ऊँचा हो गया है; यद्यपि जापान में जनसंख्या का घनत्व बहुत अधिक है। जापान ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि प्राकृतिक संसाधनों की न्यूनता आर्थिक विकास में बाधक नहीं बन सकती।

प्रश्न 2—आधुनिक जापान के द्रुत औद्योगिक विकास में राज्य की भूमिका का विवेचन कीजिए।

Discuss the rol: of State in the rapid industrial development of modern Japan.

अथवा

"जापानी उद्योग पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राज्य-समर्थित सुरक्षा था। उन्होंने मुक्ति के लिए औद्योगीकरण किया।" इस कथन की व्याख्या, सरकार द्वारा अमुक दिशा में किए गए उपायों के विशिष्ट सन्दर्भ सहित, कीजिए।

"Japanese indnstry was a State-sponsored defence against western imperialism. They industrialized in order to be independent." Discuss this statement with particular reference to the measures taken by the Government in this regarsd.

उत्तर—1868 में मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व जापानी अर्थव्यवस्था में गतिहीनता एवं निर्धनता का साम्राज्य विद्यमान था। 'कृषि' जापानियों का प्रमुख व्यवसाय था, किन्तु सामन्तवादी शोषण के कारण कृषि एवं कृषकों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। शोगुन और डायमियों द्वारा संचालित कतिपय उद्योगों को छोड़कर, जापान में उद्योगों का सर्वथा अभाव था। तोकुगावा घराने की एकान्तवासी नीति के कारण जापान का विदेशी व्यापार नगण्य था। अत औद्योगिक विकास हेतु विदेशों से कच्चे पदार्थों (जिनका जापान में आज भी अभाव था) का आयात एकदम असम्भव था। मेजी पुनर्संस्थापन के पश्चात् जापान में औद्योगीकरण की वास्तविक शुरुआत हुई। साम्राज्यवादी शक्तियों से जापान को बचाए रखने के लिए मेजी सरकार ने 'सुदृढ़ सेना' की आवश्यकता समझी तथा सुरक्षा-व्यवस्था को सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए सरकार ने औद्योगिक विकास की नींव डाली। इस तरह, जापान में औद्योगीकरण की शुरुआत पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध जापानियों का राज्य-समर्थित सुरक्षात्मक उपाय था। जापानियों ने स्वयं को स्वतन्त्र बनाए रखने के लिए देश का औद्योगीकरण किया।

जापान के औद्योगिक विकास में सरकार की भूमिका—जापान पहला एशियाई देश है, जिसने अपनी आर्थिक मुक्ति के लिए औद्योगीकरण का मार्ग अपनाया तथा इसमें सफलता प्राप्त की। बहुत थोड़े समय में जापान ने इतनी अधिक उन्नति कर ली, जितनी उन्नति करने में पश्चिमी देश को शताब्दियों का

समय लग गया था। आज जापान की गणना संसार के विकसित औद्योगिक राष्ट्रों में की जाती है। जापान का द्रुत गति से औद्योगिक विकास सरकार के प्रत्यक्ष योगदान एवं परोक्ष सहायता का ही परिणाम है। जापान के औद्योगीकरण में सरकार की भूमिका का विवेचन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(1) **उद्यमकर्ता के रूप में सरकार**—1868 में मेजी पुनर्संस्थापन के समय जापान में औद्योगिक विकास हेतु निजी उद्यमियों एवं पूँजी का नितान्त अभाव था। अतः प्रारम्भ में मेजी सरकार ने उद्योगों की स्थापना एवं संचालन का कार्य स्वयं अपने हाथों में संभाला। सरकार ने शोगुन एवं डायमियों द्वारा सचालित उद्योगों को अपने अधिकार में लेकर उनका पुनर्गठन किया। सरकार ने अस्त्र-शस्त्र, सूतीवस्त्र, ऊनी वस्त्र, रेशमी वस्त्र, शीशा एवं रासायनिक पदार्थ तथा जलयान-निर्माण के अनेक कारखाने पश्चिमी मॉडल के आधार पर स्थापित किए। 1880 में राज्य द्वारा निर्मित कारखानों एवं परिसम्पत्ति के अन्तर्गत जलयान-निर्माण के 3 कारखाने, 51 व्यापारिक जहाज, अस्त्र-शस्त्र निर्माण के 5 कारखाने. 52 दूसरे कारखाने, 10 खानें, 52 मील लम्बी रेलवे लाइन तथा प्रमुख नगरों को जोड़ने वाली टेलीग्राफ व्यवस्था सम्मिलित थी। 1882 के बाद सरकार ने अपने बहुत-से औद्योगिक उपक्रम निजी उद्योगपतियों के हाथों सस्ते दामों में बेच दिए। विनिर्माणी क्षेत्र में सरकार की प्रत्यक्ष भागीदारी अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्योगों तक सीमित हो गई। 1894-95 में चीन-जापान युद्ध के समय तक जापान की औद्योगिक व्यवस्था इतनी सुदृढ़ हो चुकी थी कि निजी पूँजी पर्याप्त मात्रा में औद्योगिक क्षेत्र की ओर गतिशील होने लगी।

(2) **वित्त-प्रदायक के रूप में सरकार**—चीन जापान युद्ध के बाद सरकार ने उद्योगों के लिए वित्त-प्रदायक का कार्य आरम्भ किया। निजी क्षेत्र के उद्योगों को या तो सरकार ने स्वयं पूँजी (ऋणों के रूप में) प्रदान की या इस उद्देश्य से विशिष्ट बैंकिंग एवं वित्तीय संस्थाएँ स्थापित कीं। 'इन्डस्ट्रियल बैंक ऑफ जापान' द्वारा नए और पुराने उद्योगों को उदार शर्तों पर विस्तृत साख प्रदान की गई। औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सरकार ने उपयुक्त कराधान-नीति का अनुसरण किया। लोहा एवं इस्पात के उत्पादकों को आय-कर एवं अतिरिक्त लाभ-कर से मुक्त कर दिया। विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए 1906 में सरकार ने विशिष्ट उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया। आयात-प्रतिस्थापन एवं निर्यात-उन्मुख उद्योगों को सरकार ने आर्थिक सहायता (अनुदान के रूप में) देनी आरम्भ की। 1896 में पारित 'जहाज-निर्माण प्रोत्साहन अधिनियम' के अन्तर्गत जहाजरानी उद्योग को अनुदान दिया जाने लगा। 1902 से लेकर 1926 तक जहाजरानी उद्योग कुल 69·3 करोड़ येन के लाभ में सरकारी अनुदान का हिस्सा लगभग 30 प्रतिशत (20·7 करोड़ येन) था। 1911 के पश्चात् सरकार ने कई नए उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया। सरकारी संरक्षण एवं वित्तीय

सहायता के फलस्वरूप जापान में वास्तविक औद्योगिक प्रगति आरम्भ हुई। प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक जापान में विद्युत रबड़, धातु तथा जहाज-निर्माण उद्योगों की विशेष प्रगति हुई।

(3) **नियन्त्रणकर्त्ता के रूप में सरकार**—प्रथम महायुद्ध जापानी उद्योगों के विकास हेतु स्वर्णिम अवसर था। युद्धकाल में जापान का निर्यात-व्यपार तथा औद्योगिक उत्पादन बहुत तेजी से बढ़ा। युद्धोत्तरकाल में विदेशी प्रतियोगिता बढ़ जाने से जापान में अत्युत्पादन की स्थिति उत्पन्न हो गई। इस स्थिति पर काबू पाने के लिए सरकार ने औद्योगिक संरचना पर नियन्त्रण रखने का प्रयास किया। सर्वप्रथम 1916 में 6 निर्यात-उद्योग एसोशिएसन कानून' पारित हुआ, जिसका उद्देश्य निर्यात-सम्बन्धी छोटे-छोटे उद्योगों में सहयोग को बढ़ावा देना था। 'तीसा' की महामन्दी का जापानी उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव उपस्थित हुआ था। उद्योगों को मन्दी के प्रभाव से मुक्ति दिलाने के लिए सरकार ने 1930 में 'औद्योगिक विवेकीकरण ब्यूरो' की स्थापना की जिस पर विवेकीकरण की योजना द्वारा औद्योगिक कुशलता बढ़ाने का दायित्व था। इसके अतिरिक्त, 1931 में पारित 'स्थिर उद्योग-नियन्त्रण अधिनियम' द्वारा अनेक उद्योगों में कार्टेल समझौते लागू किए गए अर्थात् औद्योगिक संयोजन को बढ़ावा दिया गया। जैसे-जैसे जापान में सैनिक नियन्त्रण बढ़ने लगा, उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण भी बढ़ने लगा। सामरिक तैयारी के लिए सरकार द्वारा विशालस्तरीय उद्योगों को अपने नियन्त्रण में लिया जाने लगा। 1934 में पारित एक अधिनियम के अन्तर्गत सरकार ने लोहा एवं इस्पात के निर्माण में सलग्न समस्त प्राइवेट कम्पनियों को अपने नियन्त्रण में ले लिया। 1935 के 'पैट्रोलियम उद्योग-कानून' द्वारा पेट्रोलियम उद्योग पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित हुआ। 1936 के 'जहाजरानी मार्ग-नियन्त्रण कानून' द्वारा समूची जहाजरानी को सरकारी अधिकार में ले लिया गया। महत्वपूर्ण उद्योगों को अपने प्रत्यक्ष नियन्त्रण में लेने के साथ-साथ सरकार ने अन्य उद्योगों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण का प्रयास किया उदाहरण के लिये, 1925 के 'निर्यात गिल्ड कानून' के अन्तर्गत निर्यात-वस्तुओं में गुणात्मक सुधार हेतु स्वैच्छिक संस्थाओं की स्थापना की गई।

(4) **औद्योगिक पुनर्निर्माण में सहयोग**—द्वितीय महायुद्ध जापानी उद्योगों के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। युद्धकाल में जापान के बहुत-से औद्योगिक एवं वाणिज्यिक प्रतिष्ठान बिल्कुल नष्ट हो गए। अतः युद्धोत्तरकाल में जापान की सर्वप्रमुख समस्या औद्योगिक पुनर्निर्माण की थी। औद्योगिक पुनर्निर्माण के कार्य में भी सरकार का योगदान महत्वपूर्ण रहा। सरकार का स्थायी निवेश, जो 1951-54 के बीच कुल राष्ट्रीय आय का 7·7 प्रतिशत था, 1955-58 के बीच बढ़कर 8 प्रतिशत हो गया। तदुपरान्त जापान की 10-वर्षीय योजना (1961-70) के अन्तर्गत (जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय आय को बढ़ाकर दुगुना कर देना था)

प्रस्तावित कुल निवेश में सरकारी निवेश का अनुपात बढ़ाया गया। सरकारी सहायता एवं प्रोत्साहन के फलस्वरूप युद्धोत्तरकाल में जापानी उद्योगों का इतनी तीव्रगति से विस्तार हुआ कि आजकल जापान की गणना संसार के प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रों में की जाती है। रेडियो और समुद्री जहाजों के उत्पादन में उसे प्रथम, टेलिविजन, मोटरगाड़ी तथा रबड़ की वस्तुओं के उत्पादन में द्वितीय; सीमेन्ट, लोहा एवं इस्पात के उत्पादन में तृतीय स्थान प्राप्त है।

6

जायबत्सू एवं आर्थिक-नियन्त्रण का सन्केन्द्रण

(Zaibatsu and Concentration of Economic Control)

प्रश्न 1 युद्ध-पूर्व जापान की औद्योगिक अर्थव्यवस्था में जायबत्सू की भूमिका का परीक्षण कीजिए। क्या यह कुछेक हाथों में आर्थिक शक्ति के सन्केन्द्रण के लिए उत्तरदायी था ?

Examine the role of Zaibatsu in the industrial economy of pre-war Japan. Was it responsible for concentration of economic power in fewer hands ?

उत्तर—जर्मनी के बाद जापान संसार में 'एकाधिकारी पूँजीवाद' (Monopolicy Capitalism) का उदाहरण है। पश्चिमी देशों में औद्योगिक विकास के कारण पूँजीवाद का विकास हुआ था, किन्तु जापान में औद्योगिक क्रान्ति सरकार द्वारा प्रोत्साहित की गई थी। इसीलिए जापान में जिस पूँजीवाद का आविर्भाव हुआ वह ग्रेट ब्रिटेन या जर्मनी के पूँजीवाद से भिन्न था। जहाँ ग्रेट ब्रिटेन में निर्बाधवादी पूँजीवाद ने तथा जर्मनी में नियन्त्रित पूँजीवाद ने आर्थिक प्रगति को जन्म दिया; वहीं जापान की आर्थिक प्रगति में चुनींदा व्यवसायिक घरानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा, जिन्हें 'जायबत्सू' कहा जाता है। जायबत्सू का शाब्दिक अर्थ 'वित्तीय संगठन या गुट' से है जिसका प्रयोग व्यापक आर्थिक हितों वाले जापान के बड़े-बड़े व्यावसायिक घरानों के लिए किया जाता है। जापान के प्रमुख जायबत्सू परिवार चार थे—मित्सुई (Mitsui), मित्सुबिशी (Mitsubishi),

सुमीतोमो (Sumitomo) तथा यासुदा (Yasuda)। इनमें से पहला घराना व्यापार से, दूसरा घराना जहाज-निर्माण एवं इंजीनियरिंग उद्योग से, तीसरा घराना जहाज-निर्माण एवं इंजीनियरिंग उद्योग से, तीसरा घराना खनिज व्यवसाय से तथा चौथा घराना बैंकिंग व्यवसाय से सम्बन्धित था।

जापान के आर्थिक विकास में जायबत्सू की भूमिका—जायबत्सू परिवार औद्योगिक संयोजनों की तरह संगठित थे। इन संगठनों की स्थापना ऐसे व्यवसायिक घरानों ने की थी, जो सदियों से व्यापार एवं बैंकिंग व्यवसाय में संलग्न थे। मेजी सरकार ने इन व्यवसायिक संगठनों का प्रयोग अपनी आर्थिक नीति के क्रियान्वयन हेतु किया था। इन संगठनों ने जापान, उसके उपनिवेशों तथा मंचूरिया में सामरिक महत्व के उद्योगों की स्थापना हेतु सरकार को पूँजी प्रदान की। मेजी शासनकाल में अधिकांश बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना या तो इन संगठनों द्वारा की गई या सरकार द्वारा ये इनके नियन्त्रण में लाए गए। प्रथम महायुद्धकाल में तथा उसके बाद जायबत्सू संगठन तीव्र गति से विकसित हुए। 1917 में उपस्थित बैंकिंग सकट के समय अधिकांश लघु उद्योग जायबत्सू घरानों ने खरीद लिए। 1926 तक इन संगठनों की शक्ति एवं प्रभाव अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। 'तीसा' की महामन्दी के समय अनेक मध्यम एवं लघु आकार वाली फर्में इनके नियन्त्रण में आ गईं। बैंकिंग एवं वित्तीय संस्थाओं पर नियन्त्रण होने के कारण इन संगठनों ने अन्य औद्योगिक संस्थाओं की नीति को भी प्रभावित किया। ये संगठन उपनिवेशों में उद्योगों की स्थापना तथा विद्युत-उत्पादन का कार्य मिलजुलकर करते थे, यद्यपि विभिन्न संगठनों की क्रियाशीलता का क्षेत्र सामान्य रूप से अलग-अलग था।

एलन (Allen) के शब्दों में, "जायबत्सू आर्थिक विस्तार के ज्वार पर उभरे तथा उन्होंने स्वयं भी आर्थिक विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान किया।" राष्ट्र को शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए जिन उद्योगों की आवश्यकता थी, उन उद्योगों के विकास हेतु जायबत्सू संगठनों ने प्रारम्भ से ही राज्य का सहयोगी बनकर कार्य किया। औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में (जब निजी निवेश सामान्यतः संकोचशील होता है) भी इन्होंने किसी प्रकार का संकोच नहीं दिखलाया तथा जापान को बड़े पैमाने के उत्पादन की सुविधाओं से लाभान्वित किया। बैंक-साख पर नियन्त्रण होने के नाते इन्होंने पूँजी-संचय को प्रोत्साहित किया तथा पूँजी को लाभदायक निवेशों की ओर गतिशील बनाया। आपसी प्रतियोगिता के निवारण द्वारा इन्होंने बड़ी मात्रा में लाभ कमाया, जिसे पुनः औद्योगिक विस्तार में निवेश किया गया। 1927-28 के बाद जायबत्सू व्यापारिक क्षेत्र में प्रवेश करने लगे (इससे पूर्व व्यापार का कार्य मुख्यतः छोटे-छोटे व्यापारिक संगठनों द्वारा किया जाता था) जब कभी मेजी सरकार को वित्त की आवश्यकता पड़ी,

उसने जायबत्सू परिवारों से सहायता की माँग की। सरकार की भागीदारी में इन्होंने उद्योग-धन्धों के अतिरिक्त, याकोहामा स्पेशी बैंक तथा दक्षिणी मंचूरिया रेलवे की भी स्थापना की। लॉकऊड (Lockwood) के शब्दों में, "जायबत्सू केवल राजनीतिक मदारी या वित्तीय अभिसाधक या समृद्ध निवेशकर्त्ता ही नहीं थे। विशालस्तरीय उपक्रमों के क्षेत्र में उन्होंने ऐसे आवश्यक कार्य का सम्पादन किया, जो अन्यथा केवल राज्य द्वारा ही सम्पादित किया जा सकता था और वह भी सम्भवतः इतनी अधिक सफलता के साथ नहीं।" यह आवश्यक कार्य था—तकनीकी प्रगति का कार्य।

जापान के औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास हेतु आवश्यक वातावरण के सृजन में जायबत्सू परिवारों ने अत्यधिक सहयोग प्रदान किया। 'नई-नई तकनीकों को प्रोत्साहन' आधुनिक जापान को इन परिवारों की सर्वप्रथम देन मानी जा सकती है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक जापान की तकनीकी, औद्योगिक एवं व्यापारिक प्रगति में जायबत्सू संगठनों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं रचनात्मक रहा। जापान के आर्थिक विकास में इन संगठनों के योगदान को देखते हुए, शुम्पीटर (Schumpeter) का यह कथन उचित जान पड़ता है कि "एकाधिकार, न कि प्रतिस्पर्धा, औद्योगिक प्रगति में सहायक है।"

आर्थिक शक्ति के सन्केन्द्रण की सीमा—मेजी पुनर्संस्थापन के पश्चात् जापान में न केवल सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत औद्योगिक उपक्रमों की स्थापना हुई, अपितु निजी क्षेत्र के औद्योगिक सगठनों के लिए भी सरकारी कोष या औद्योगिक बैंक से वित्तीय सहायता उपलब्ध कराई गई। मेजी सरकार की जापान के कतिपय धनी परिवारों पर विशेष अनुकम्पा थी, जो समय के प्रवाह के साथ बड़े-बड़े व्यावसायिक घरानों में परिणित हो गए तथा 'जायबत्सू' कहलाए। ये घराने एक ही साथ विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों पर नियन्त्रण करने लगे, जैसे—व्यापार, समुद्री-परिवहन, बीमा, बैंकिंग, भू-सम्पदा, खनन एवं उद्योग। आर्थिक शक्तियाँ इन गिने-चुने व्यावसायिक घरानों के हाथ में केन्द्रित होने लगीं। 1926 तक इनकी आर्थिक शक्ति एवं प्रभाव बढ़कर अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। तदुपरान्त ये सरकारी नीति को भी प्रभावित एवं नियन्त्रित करने लगे। लॉकऊड (Lockwood) के शब्दों में, "निजी सम्पत्ति के आधार पर संगठित किसी अन्य आधुनिक औद्योगिक समाज ने सम्भवतः जापान के समान एकाधिकारी नियन्त्रण की समस्त विधियों का प्रयोग करते हुए निर्बन्ध व्यावसायिक शक्ति का प्रदर्शन नहीं किया। एक समूह के रूप में जायबत्सू तथा उनके अनुयायियों ने जापानी अर्थव्यवस्था के अत्यधिक आधुनिक क्षेत्रों पर आधिपत्य जमा लिया था।"

एडवर्ड जाँच कमेटी (Edward Enquiry Committee) के अनुसार, द्वितीय महायुद्ध से पूर्व चार जायबत्सू परिवारों का जापान की 360 बिलियन येन की पूँजी पर नियन्त्रण था। जापान का 51 प्रतिशत कोयला-उत्पादन, 69 प्रतिशत एल्यु-

मिनियम-उत्पादन, 50 प्रतिशत कागज उद्योग, 88 प्रतिशत सोडा-उत्पादन, बीमा कम्पनियों की 74 प्रतिशत पूँजी, बैंकों की 51 प्रतिशत पूँजी तथा 71 प्रतिशत बैंक-साख उनके नियन्त्रण में थी। युद्धकाल में उनका नियन्त्रण और अधिक बढ़ गया; क्योंकि सरकारी नीति आर्थिक शक्ति के सन्केन्द्रण के पक्ष में थी। पॉले कमेटी (Pauley Commitee) ने अपने प्रतिवेदन युद्ध-पूर्व जापान को 'जायबत्सू का जापान' बताया था। मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च कमाण्डर मैक आर्थर (Mac Arthur) के शब्दों में, "ऐसी असाधारण आर्थिक प्रणाली का नमूना सम्भवतः विश्व में अन्यत्र नहीं देखा गया। इस प्रणाली ने कतिपय व्यक्तियों के लाभार्थ असंख्य व्यक्तियों का शोषण करने की अनुमति प्रदान की। इन चुनींदा व्यक्तियों (जायबत्सू) का सरकार के साथ पूर्ण संयोग था। उनका सरकारी नीति पर प्रभाव अत्यधिक अनियन्त्रित था।"

युद्धोत्तरकालीन अर्थव्यवस्था में जायबत्सू—द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर जापान में सैनिक शासन की स्थापना हुई। सैनिक शासन ने जायबत्सू को जनतन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्था एवं उदार आर्थिक प्रणाली की स्थापना में बाधक मानते हुए विघटित कर दिया। नवम्बर 1945 में 'सूत्रधारी कम्पनियाँ तरलीकरण आयोग' की नियुक्ति की गई तथा बड़ी-बड़ी सूत्रधारी कम्पनियों को अपनी परिसम्पत्ति एवं प्रतिभूतियाँ आयोग के पक्ष में हस्तान्तरित करने का आदेश दिया गया। इन कम्पनियों को क्षतिपूर्ति के रूप में 10 वर्ष से अधिक अवधि वाले सरकारी ऋणपत्र दिए गए। सूत्रधारी कम्पनियों को सरकार से आर्थिक सहायता या युद्ध-सम्बन्धी क्षतिपूर्ति मिलने पर रोक लगा दी गई। 1947 में 'एकाधिकार-विरोधी कानून' पारित हुआ, जिसका उद्देश्य बड़ी-बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं की पुनर्स्थापना पर रोक लगाना तथा प्रतियोगिता का क्षेत्र विस्तृत करना था।

इस तरह, सैनिक शासनकाल में जायबत्सू संस्थाएँ छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो गयीं तथा जापानी अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण जायबत्सू के हाथों से निकलकर सरकारी तन्त्र के हाथों में केन्द्रित हो गया। 1952 में सैनिक शासन की समाप्ति के बाद जापान में पुनः जायबत्सू की प्राचीन संस्थाएँ अस्तित्व में आ गई। 1960 तक एक तीन बड़े व्यावसायिक घरानों (मित्शुई, मित्शुबिशी और सुमिटोमो) के हाथों में विभिन्न प्रकार की औद्योगिक एवं वित्तीय संस्थाओं का नियन्त्रण आ गया। आज-कल जापान की अर्थव्यवस्था में जायबत्सू का महत्व द्वितीय महायुद्ध से पूर्व की तुलना में बहुत कम रह गया है; क्योंकि अब यहाँ पूँजी एवं प्रबन्धकीय योग्यता कुछेक व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित न रहकर अत्यधिक बिकेन्द्रित हो गई है। यह अवश्य है कि सैनिक शासन से पहले की तरह आज भी आर्थिक नीति के निर्धारण में सरकार एवं उद्योगपति मिलजुलकर कार्य करते हैं तथा इसी आधार पर विकास की योजनाएँ तैयार एवं क्रियान्वित करते हैं।

प्रश्न 2-- जायबत्सू के आविर्भाव हेतु उत्तरदायी परिस्थितियाँ क्या थीं ? उनके क्या परिणाम हुए ?

What were the circumstances responsible for the rise of Zaibatsu ? what Were their conseguences ?

उत्तर--'जायबत्सू' शब्द का प्रयोग जापान के बड़े-बड़े व्यावसायिक घरानों के लिए किया जाता है, जिनका आविर्भाव मेजी शासनकाल में हुआ तथा जो प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अत्यधिक प्रभावशाली हो गए। जायबत्सू परिवार औद्योगिक संयोजन की तरह संगठित थे। जापानी अर्थव्यवस्था के आधुनिक क्षेत्रों पर इनका आधिपत्य था। अर्थव्यवस्था के दूसरे क्षेत्र भी इनके प्रभाव से मुक्त नहीं थे: क्योंकि इनका बैंकिंग एवं वित्तीय संस्थाओं पर नियन्त्रण था।

जायबत्सू के आविर्भाव के कारण--मेजी पुनर्संस्थापन के पश्चात् जापान में चार बड़े-बड़े व्यावसायिक घराने अस्तित्व में आए मित्सुई (जो व्यापार से सम्बन्धित था), मित्सुबिशि (जो जहाज-निर्माण और इन्जीनियरिंग उद्योग से सम्बन्धित था), सुमिटोमो (जो खनिज व्यवसाय से सम्बद्ध था) और यासुदा (जो बैंकिंग व्यवसाय से सम्बद्ध था)। सामूहिक रूप से इन व्यावसायिक घरानों को 'जायबत्सु' की संज्ञा दी गई। इन व्यावसायिक घरानों का आविर्भाव एवं विकास आर्थिक शक्ति के सन्केन्द्रण का प्रतीक था। द्वितीय महायुद्ध के दौरान जापानी सरकार ने जायबत्सु परिवारों के सहयोग से युद्ध का सञ्चालन किया था। अतः युद्धकाल में आर्थिक शक्ति (नियन्त्रण) का सन्केन्द्रण और भी बढ़ गया। 'जायबत्सु' नामक एकाधिकारी संगठनों के उदय एवं विकास हेतु निम्न परिस्थितियाँ (घटक) उत्तरदायी थीं--

(1) **सामाजिक परिस्थितियाँ**--प्राचीनकाल से ही जापानियों में नेतृत्व के आधीन और सामूहिक रूप से तथा अनुशासनपूर्वक कार्य करने की भावना विद्यमान थी। जायबत्सु संगठनों ने भी प्राचीन गिल्ड पद्धति का अनुसरण किया था। अत: इन संगठनों के रूप में जापानियों की प्राचीन भावनाओं एवं परम्पराओं को नवीन अभिव्यक्ति मिली। जापानी समाज में प्रचलित ज्येष्ठाधिकार के नियम (जिसके अनुसार परिवार की सम्पत्ति पर ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार रहता था) ने पारिवारिक सम्पत्तियों को एकीकृत व्यवस्था के अन्तर्गत बनाए रखने में सहायता की। ऐसी व्यवस्था जायबत्सू के आविर्भाव में सहायक सिद्ध हुई।

(2) **वैधानिक परिस्थितियाँ**--जापान में संयोजन या एकाधिकार-विरोधी कानूनों का सर्वथा अभाव था। वैधानिक रूप से व्यावसायिक संयोजनों (एकाधिकारी संगठनों) को पूर्ण विमुक्तियाँ प्राप्त थीं; क्योंकि मेजी सरकार किसी भी लागत पर जापान का शीघ्र से शीघ्र आर्थिक विकास करना चाहती थी। औद्योगिक कुशलता में वृद्धि हेतु जापानी सरकार ने 1931 के 'स्थिर उद्योग-नियन्त्रण अधिनियम' के अन्तर्गत कई उद्योगों में कार्टेल समझौते लागू किए थे।

(3) **आर्थिक परिस्थितियाँ**—जायबत्सू के आविर्भाव में आर्थिक घटकों का सबसे प्रमुख हाथ था। आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था के अन्तर्गत जापान में पूँजी, प्रबन्धकीय योग्यता एवं उद्यमशीलता का सामान्य अभाव था। जायबत्सु परिवारों के पास प्रारम्भ से पूँजी एवं व्यावसायिक ज्ञान विद्यमान था। उनका बैंक-साख पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण था, जिससे उन्हें विशालस्तरीय उद्योगों की स्थापना में अपूर्व सहायता मिली। लॉकऊड ने जायबत्सु संगठनों के विकास में बैंक-साख का प्रमुख स्थान बताया है।

(४) **राजनीतिक परिस्थितियाँ**—जायबत्सु परिवारों तथा मेजी सरकार के बीच प्रारम्भ से ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। इनमें से कुछ परिवारों ने आवश्यकता के समय सरकार की वित्तीय सहायता की थी तथा बदले में विभिन्न सुविधाएँ प्राप्त की थीं। इन्होंने जापान तथा उसके उपनिवेशों में सरकार के साथ मिलकर अनेक उद्योगों की स्थापना की। सरकार की भागीदारी में इन्होंने 'याकोहामा स्पेशी बैंक' तथा 'दक्षिणी मचूरिया रेलवे' की भी स्थापना की। जब जापान में दलीय पद्धति का विकास हुआ, तब जायबत्सु परिवारों ने राजनीतिक दलों को चन्दा देना आरम्भ कर दिया। फलतः उन्हें राजनीतिक दलों का समर्थन भी मिलने लगा।

लॉकऊड (Lockwood) के अनुसार, जायबत्सु के आविर्भाव के रूप में आर्थिक शक्ति (नियन्त्रण) का सन्केन्द्रण उसे प्रारम्भ से ही मिली विभिन्न सुविधाओं का परिणाम था, जैसे—सैनिक अल्पतन्त्र (Military Oligarchy) तथा असैनिक नौकरशाही के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध, प्रन्यास-विरोधी कानूनों तथा एकाधिकारी शक्ति के प्रयोग एवं निरन्तरता पर सार्वजनिक प्रतिबन्धों (जो कॉरपोरेट विधियों के आविर्भाव के साथ ग्रेट ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका में विकसित हो चुके थे) की पूर्णतया अनुपस्थिति। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त उपस्थित वित्तीय कठिनाइयों (जैसे-1927 का बैंकिंग संकट) ने इस सन्केन्द्रण को त्वरित बना दिया था। वित्तीय कठिनाइयों ने उन हजारों छोटे-छोटे व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का अवसान कर दिया; जो घाटा सहने, लागत-खर्च कम करने तथा स्वयं को नई परिस्थितियों के साथ समायोजित करने में जायबत्सु कम्पनियों की अपेक्षा कम साधन-सम्पन्न थे।

जायबत्सु के परिणाम—जायबत्सु का आविर्भाव आर्थिक विस्तार के ज्वार (Tide of Economic Expansion) पर हुआ था जिसमें स्वयं उन्होंने भी महत्वपूर्ण योगदान किया था। परन्तु जायबत्सु के आविर्भाव के सामाजिक एवं राजनीतिक परिणाम अच्छे नहीं रहे। प्रमुख परिणामों का विवेचन निम्न प्रकार है—

(1) **आर्थिक परिणाम**—जायबत्सु ने जापान की तकनीकी, व्यापारिक एवं औद्योगिक प्रगति में रचनात्मक कार्य किया। इन्होंने पश्चिमी मॉडल के आधार पर विशालस्तरीय उपक्रमों की स्थापना की तथा जापानी अर्थव्यवस्था को विशाल-

स्तरीय उत्पादन की मितव्ययताओं से लाभान्वित कराया। देश और विदेशों (जापानी उपनिवेशों) में इन्होंने सरकार के साथ मिलकर (सरकार की भागीदारी में) सामरिक महत्व के उद्योगों की स्थापना की। औद्योगिक विस्तार हेतु इन्होंने पूँजी को गतिशील बनाया तथा सरकार को आवश्यकता से समय वित्तीय सहायता प्रदान की। यद्यपि जायबत्सू परिवारों की क्रियाशीलता का क्षेत्र सामान्य रूप से अलग-अलग था, तथापि उपनिवेशों में उद्योगों की स्थापना तथा विद्युत-उत्पादन का कार्य वे मिलजुलकर करते थे। आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में वित्त-प्रदायक एवं नवप्रवर्त्तक के रूप में जायबत्सू का योगदान अत्यन्त सराहनीय था। सरकार की भागीदारी में बैंकिंग एवं रेलवे प्रणाली की स्थापना द्वारा इन्होंने औद्योगिक विकास हेतु आवश्यक दशाओं का सृजन किया। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक जापान में जो औद्योगिक एवं व्यापारिक विस्तार हुआ, वह मुख्यत: जायबत्सू परिवारों की योग्यता एवं संगठन शक्ति का ही परिणाम था।

(2) **सामाजिक परिणाम**—जायबत्सू का आविर्भाव गिने-चुने हाथों में आर्थिक शक्ति के सन्केंद्रण के लिए उत्तरदायी था। मध्यकालीन सामन्तशाही व्यवस्था की तरह, जायबत्सू ने आधुनिक जापान में आय, सम्पत्ति एवं अवसर की विषमता को प्रश्रय दिया। अपनी एकाधिकारी स्थिति के बल पर उन्होंने उपभोक्ताओं और श्रमिकों का शोषण किया तथा श्रमिक संघवाद के विकास को हतोत्साहित किया। जापानी समाज में जायबत्सू का आविर्भाव गिने-चुने व्यक्तियों के लाभार्थ असख्य व्यक्तियों के शोषण का प्रतीक बन गया था।

(3) **राजनीतिक परिणाम** -राजनीतिक क्षेत्र में जायबत्सू के आविर्भाव ने भ्रष्टाचार को जन्म दिया। राजनीतिक दलों तथा शासन के प्रमुख व्यक्तियों को आर्थिक सहायता देकर जायबत्सू बदले में विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त करने लगे। धीरे-धीरे उनका प्रभाव राजनीतिक निर्णयों पर भी पड़ने लगा। अपनी शक्ति एवं प्रभाव के बल पर उन्होंने राजनीतिक जनतन्त्र की स्थापना में बाधा पहुंचायी। अपने आर्थिक हितों की पूर्ति इन्होंने साम्राज्यवादी तरीके भी अपनाए। जापान की साम्राज्यवादी नीति, जो अन्तत: उसे विनाश के कगार पर ले गई, जायबत्सू परिवारों की पूँजीवादी आकांक्षाओं का ही परिणाम थी।

———

लघु और कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुएँ गुणात्मक दृष्टि से अच्छी, टिकाऊ तथा सस्ती होती हैं; क्योंकि ये उद्योग बड़े पैमाने की विक्रय-व्यवस्था, आयात एवं वित्त से लाभ उठाते हैं।

जापान के आर्थिक विकास में इन उद्योगों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, लॉकऊड के शब्दों में, "लघु और कुटीर उद्योगों ने पूँजी-निवेश की वृहद इकाइयों तथा उद्यमी निपुणता, जिन्हें प्रारम्भिक अवस्था में प्राप्त करना अत्यधिक कठिन था, की आवश्यकताओं में जापान को मितव्ययता बरतने में समर्थ बनाया।" उन सभी क्षेत्रों में, जहाँ वस्तुओं का उत्पादन कम पूँजी-परक रीतियाँ अपनाकर सम्भव है, उत्पादन-कार्य आज भी लघु उपक्रमों के हाथ में है। जापानी सरकार परम्परागत नीति लघु एवं वृहद् दोनों प्रकार के उद्योगों को साथ-साथ विकसित करने की रही है।

लघु उद्योगों पर वृहद् उद्योगों का प्रभाव—जापान में 5 से कम व्यक्तियों को रोजगार देने वाले संस्थान 'लघु,' 100 तक व्यक्तियों को रोजगार देने वाले संस्थान 'मध्यम' तथा 100 से अधिक व्यक्तियों को रोजगार देने वाले प्रतिष्ठान 'वृहद्' कहलाते हैं। जहाँ पर लघु उद्योगों का अस्तित्व प्राचीनकाल से है। पहले ये उद्योग प्राचीन उत्पादन- पद्धति का प्रयोग करते थे। परन्तु जब मेजी पुनसस्थापन के पश्चात् जापान में आधुनिक किस्म के भारी उद्योगों का विकास होने लगा, तब लघु उद्योगों ने भी अपनी उत्पादन-प्रणाली में सुधार किया। बड़े उद्योगों के प्रभाव में आकर जापान के छोटे उद्योगों ने भी अपने यन्त्रों एवं उत्पादन-विधियों का आधुनिकीकरण किया। कच्चा-माल, कार्यशील पूँजी तथा बाजार-संगठन से उपलब्ध बड़े पैमाने की किफायतों का लाभ उठाते हुए इन्होंने नए-नए उत्पादन-क्षेत्रों में प्रवेश किया। इस तरह, वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक तक लघु उपक्रम परम्परागत एवं आधुनिक दोनों प्रकार के उत्पादन-क्षेत्रों में पाए जाने लगे। वस्तुत: आधुनिक जापान में कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास विशालस्तरीय उद्योगों के प्रतिस्पर्धी के रूप में न होकर पूरक के रूप में हुआ है। यही कारण है कि जापान में कुटीर एवं लघु उद्योग लगभग आधी औद्योगिक जनसंख्या को रोजगार प्रदान करते हैं तथा इनकी संख्या में कोई गिरावट नहीं आई है। इन उद्योगों की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता का आधार यह है कि ये बड़े पैमाने की विक्रय-व्यवस्था, परिवहन एवं वित्तीय सुविधाओं से लाभ उठाते हैं। जापान के लघु उपक्रम सामान्यत: बड़े कारखानों को कच्चा-माल और सहायक सेवाएँ प्रदान करते हैं अथवा उत्पादन-प्रक्रिया में किसी विशिष्ट कार्य का सम्पादन करते हैं।

जापान की औद्योगिक प्रणाली में छोटे और बड़े उद्योगों के बीच सहयोग का सम्बन्ध पाया है। दूसरे देशों की तरह, यहाँ दोनों तरह के उद्योगों के बीच कोई प्रतिस्पर्धा या विरोध नहीं है। यामनका (Yamnaka) और ताकीजावा

(Takizawa) के शब्दों में, 'जापान में 1900 के बाद वृहद् उपक्रमों के आविर्भाव ने लघु उद्योगों का किसी भी तरह से विस्थापन नहीं किया है। लघु उद्योगों के साथ वृहद् उद्योगों का सह-अस्तित्व प्रतिस्पर्धी सम्बन्धों पर आधारित न होकर अनुपूरक सम्बन्धों पर अर्थात् एक-दूसरे को सहायता पहुंचाने पर आधारित है।''

प्रश्न 2—जापान में लघु-स्तरीय उद्योगों की वर्तमान स्थिति की व्याख्या कीजिए। लघु उद्योगों के प्रति राज्य की नीति क्या है ?

Discuss the present position of small scale industries in Japan. What is the States policy towards small industries ?

उत्तर—मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व यद्यपि जापान की अर्थव्यवस्था मुख्यत: कृषि-प्रधान थी, तथापि जापान में कुटीर एवं लघु उद्योगों का अस्तित्व उस समय भी विद्यमान था। कृषि-जोतों के लघु आकार तथा उससे प्राप्त स्वल्प आय के कारण प्रत्येक ग्रामीण परिवार में कोई न कोई पूरक धन्धा अवश्य होता था। उस समय रेशम उद्योग जापान का प्रमुख उद्योग था, जो कृषि के अभिन्न अंग के रूप में सभी ग्रामीण परिवारों में विद्यमान था। समुद्र-तट के निकटवर्ती गाँवों में रहने वाले किसान पूरक धन्धे के रूप में मछली पकड़ने का कार्य करते थे। शहरी उद्योग सूत और सूतीवस्त्र, तलवार तथा सैनिक सामग्री का उत्पादन (छोटे पैमाने पर) करते थे; उस समय क्योटो कलात्मक दस्तकारियों एवं लघु उद्योगों का प्रमुख केन्द्र था; ओसाका प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था और टोकियो प्रमुख उपभोक्ता केन्द्र था।

मेजी पुनर्संस्थापन ने जापान में पूँजीवादी विकास हेतु आवश्यक वातावरण का सृजन किया तथा आधुनिक उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया। औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था में, जब बड़ी मात्रा में पूँजीगत निवेश तथा उद्यमी योग्यता को जुटा पाना कठिन था, लघु उद्योगों ने जापान को इन स्वल्प साधनों का मितव्ययी प्रयोग करने में समर्थ बनाया। आधुनिक उद्योगों की स्थापना के साथ-साथ जापान के प्राचीन लघु उद्योगों ने अपनी उत्पादन-प्रणाली सुधारी तथा यन्त्रों का आधुनिकीकरण किया। परम्परागत उत्पादन-क्षेत्रों के साथ-साथ उन्होंने नए-नए उत्पादन क्षेत्रों में प्रवेश आरम्भ किया। मेजी सरकार ने बड़े पैमाने के उद्योगों को भी संरक्षण एवं सहायता प्रदान की। फलत: मेजी शासनकाल में जापान के कुटीर एवं लघु उद्योगों का द्रुत गति से विकास हुआ। आधुनिक उद्योगों द्वारा सृजित बड़े पैमाने की मितव्ययताओं का लघु उद्योगों ने भरपूर लाभ उठाया तथा वे आधुनिक उद्योगों के पूरक स्वरूप कार्य करने लगे। 1930 में जापान के 54 प्रतिशत संस्थान एक-व्यक्ति कार्यशालाओं के रूप में थे। 1938 में जापान के 96·2 प्रतिशत औद्योगिक संस्थान लघु एव मध्यम आकार वाले थे, जिनका जापान के निर्यात-मूल्य में 57·1 प्रतिशत तथा निर्यात-मात्रा में 60·6 प्रतिशत अंशदान था।

जापान में लघु उद्योगों की वर्तमान स्थिति—द्वितीय महायुद्ध के समय जापान के वृहद् उद्योगों की तरह लघु उद्योगों को भी कच्चे-माल और श्रमशक्ति के सामान्य अभाव का सामना करना पड़ा। युद्धकाल में जापानी सरकार ने औद्योगिक इकाइयों के संयोजन हेतु पूँजीपतियों को सहायता एव प्रोत्साहन दिया। परिणामत: वृहद्‌ाकार संयोजन लघु उपक्रमों को निगल गए। युद्ध की समाप्ति पर जापान में सैनिक शासन की स्थापना हुई। सैनिक शासन का पहला कार्य औद्योगिक संयोजनों को भंग करना था। इससे जापान में लघु उद्योगों का पुनरुत्थान आरम्भ हुआ। 1952 में सैनिक शासन की समाप्ति के बाद जापान की औद्योगिक संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुए। अधिकांश नया निवेश भारी एवं आधारभूत उद्योगों में लाया गया। दूसरी ओर, लघु उद्योगों की कार्यक्षमता बनाए रखने के लिए विशेष प्रयास नहीं किया गया। रेशम सरीखी वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ह्रास तथा जापानी अर्थव्यवस्था की संरचना में परिवर्तन के कारण लघु उद्योगों की कठिनाइयाँ बढ़ गई। जापान की औद्योगिक सरचना में हल्की उपभोक्ता-वस्तुएं निर्मित करने वाले श्रम-प्रधान लघु उद्योगों के स्थान पर पूँजीगत-वस्तुओं तथा भारी उपभोक्ता-वस्तुएँ निर्मित करने वाले पूँजी-प्रधान वृहद् उद्योगों का महत्व बढ़ने लगा। इस परिवर्तन के बावजूद, उत्पादन एवं रोजगार की दृष्टि से जापान की अर्थव्यवस्था में आज भी लघु उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान है। युएदा (Uyeda) के शब्दों में, "हमारा सामान्य निष्कर्ष यह है कि जापान के लघु उद्योग उसकी आधी औद्योगिक जनसख्या को रोजगार प्रदान करते हैं तथा उनकी संख्या में अभी तक गिरावट नहीं आई।"

जापान में मध्यम एवं लघु उपक्रमों की वर्तमान संख्या 5 लाख से भी अधिक है। जापान के लघु उद्योगों में लगभग 127 लाख व्यक्तियों को रोजगार मिलता है। यद्यपि लघु उद्योगों की उत्पादन-पद्धति एवं उपकरण वृहद् उद्योगों से बिलकुल भिन्न हैं, तथापि इस भिन्नता से लघु उद्योगों की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता में कोई कमी नहीं आई। जिन वस्तुओं के उत्पादन में कम पूंजी-गहन तकनीकों का प्रयोग किया जा सकता है, उन वस्तुओं का उत्पादन लघु उद्योगों द्वारा ही किया जाता है। जापान में लघु उद्योगों के अस्तित्व एवं समृद्धि के पीछे अनेक कारण हैं। सर्वप्रथम, आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में, जबकि जापान में पूँजी का अभाव था और जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी, बढ़ती हुई श्रमशक्ति को उत्पादक रोजगार दिलाने के लिए मुख्यत: लघु उद्योगों का आश्रय लियागया। उपक्रम दूसरे, लघुस्तरीय विभिन्न रुचियों वाले उपभोक्ताओं के लिए तरह-तरह की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। तीसरे, परिवहन एवं संचार-सुविधाओं के विस्तार ने जापान में लघु उद्योगों के लिए कच्चे-माल की प्राप्ति तथा तैयार माल की निकासी सुगम बनाई है। चौथे, सस्ती विद्युत एवं श्रमशक्ति की उपलब्धि ने भी इन श्रम-परक उद्योगों का विकास प्रोत्साहित किया है। पाँचवें, वृहद् उद्योगों के प्रभाव में

आने के बाद से जापान के लघु उद्योग अपनी उत्पादन-पद्धति एवं यन्त्रों को निरन्तर आधुनिक बनाने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। छठे, सरकार ने भी लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास में सहायता प्रदान की है।

लघु उद्योगों के प्रति सरकारी नीति—मेजी सरकार ने लघु उद्योगों के क्षेत्र में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप एवं नियन्त्रण की नीति लागू की। सरकार ने लघु उद्योगों की कार्यक्षमता बढ़ाने पर विशेष बल दिया; क्योंकि उस समय जापान का निर्यात-व्यापार मुख्यतः इन्हीं उद्योगों पर आधारित था। 1884 के बाद लघु उद्यमियों एवं व्यवसाइयों के बीच सहकारिता को प्रोत्साहन दिया गया, ताकि वे उत्तम कोटि की वस्तुओं का उत्पादन एवं निर्यात कर सकें। 1925 में पारित एक अधिनियम द्वारा गिल्ड सरीखी स्वैच्छिक संस्थाओं की स्थापना प्रोत्साहित की गई। इन संस्थाओं पर लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं के गुणात्मक परीक्षण का दायित्व सौंपा गया। इस व्यवस्था के पीछे सरकार का प्रमुख ध्येय निर्यात-वस्तुओं में गुणात्मक सुधार लाना था।

'तीसा' की महामन्दी के समय जापानी सरकार ने लघु उद्योगों की सहायतार्थ अधिक सक्रिय नीति का अनुसरण किया। मन्दी का जापान के रेशम उद्योग पर अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। अतः सरकार ने रेशम उद्योग की समस्त शाखाओं के लिए आर्थिक सहायता (अनुदान के रूप में) देनी आरम्भ की। सरकार ने लघु उत्पादकों को 'निर्माता गिल्ड' और 'निर्यातक गिल्ड' के रूप में संगठित करने का प्रयास किया। इन गिल्डों को सरकार ने ऋणों और अनुदानों के रूप में आर्थिक सहायता प्रदान की, ताकि वे सहकारिता के आधार पर कच्चे माल एवं यन्त्रों का क्रय तथा तैयार माल का विक्रय कर सकें। 1933 में जापानी येन के अवमूल्यन के बाद जब विदेशी बाजारों में जापानी माल के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई; तब सरकार ने निर्माता गिल्डों और निर्यातक गिल्डों को अपने संरक्षण में लघु उद्योगों की निर्यात-मात्रा एवं मूल्य नियन्त्रित करने का अधिकार दिया।

लघु उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित करने के लिए जापानी सरकार ने 'लघु उद्योग बोर्ड' की स्थापना की तथा ग्रामीण पुनर्निर्माण की योजना लागू की, जो ग्रामीण उद्योगों एवं कृषि के सहयोग पर आधारित थी। आजकल लघु उद्योग बोर्ड वाणिज्य मन्त्रालय के तत्वावधान में काम करता है तथा लघु उद्योगों को कच्चा-माल, वित्त एवं तकनीकी सहायता उपलब्ध कराता है। सरकार ने उन समस्त वस्तुओं का उत्पादन लघु उपक्रमों के लिए आरक्षित किया है, जिनका उत्पादन कम पूंजी-गहन तकनीकों के प्रयोग द्वारा सम्भव है। स्पष्टतः सरकारी सहायता एवं प्रोत्साहन जापान में लघु उद्योगों की समृद्ध स्थिति का प्रधान कारण है।

8
जापान में परिवहन का विकास
(Development of Transport in Japan)

प्रश्न 1—जापान में परिवहन के साधनों के विकास का संक्षिप्त विवेचन कीजिये।

Describe in brief the development of transportation in Japan.

उत्तर—मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व जापान की परिवहन-प्रणाली अविकसित थी। रेलों का पूर्णतः अभाव था। सड़कों पर परिवहन का कार्य घोड़ों या बैलगाड़ियों द्वारा किया जाता था। मेजी शासनकाल में परिवहन-सुविधाओं के विकास पर पर्याप्त बल दिया गया। परिवहन-सुविधाओं के विस्तार से उत्पादन एवं वितरण का कार्य मितव्ययी बन गया, घरेलू बाजार का विस्तार हुआ तथा विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई। परिवहन के आधुनिक साधनों ने जापान का द्रुतगति से औद्योगीकरण सम्भव बनाया है।

रेलवे परिवहन—जापान में रेलवे परिवहन की शुरुआत मेजी शासनकाल में में हुई। चूँकि रेलों के निर्माण हेतु भारी मात्रा में पूँजीगत निवेश की आवश्यकता थी, इसलिये मेजी सरकार ने आन्तरिक और बाह्य दोनों स्रोतों से ऋण प्राप्त किया। ब्रिटिश पूँजी और तकनीक की सहायता से टोकियो और याकोहामा के बीच पहली रेलवे लाईन 1872 में बनकर तैयार हुई। 1874 में ओसाका-कौबे लाईन का निर्माण हुआ। तदुपरान्त मेजी सरकार ने निजी कम्पनियों को रेलवे-निर्माण हेतु प्रोत्साहित किया। इसके परिणामस्वरूप 1881 में 'नाहन रेलवे कम्पनी' का गठन हुआ। इस कम्पनी को सरकार ने भूमि की सुविधा प्रदान की, जिसके बदले में सरकार को कम्पनी के प्रबन्ध में हिस्सा लेने तथा निश्चित अवधि के बाद कम्पनी द्वारा निर्मित रेलवे लाईन खरीदने का अधिकार प्राप्त हुआ। नाहन रेलवे कम्पनी की सफलता से प्रोत्साहित होकर जापान में अनेकों नई रेलवे कम्पनियाँ स्थापित हुईं। फलतः जापान में रेलवे लाईन परिवहन का तीव्र गति से विस्तार हुआ। आपसी प्रतियोगिता के कारण कुछ रेलवे अनार्थिक सिद्ध हुई। अतः 1906 में सरकार ने 17 निजी रेलवे लाइनों का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया। निजी कम्पनियों को क्षतिपूर्ति की रकम चुकाने के लिये सरकार ने ऋणपत्र जारी किये। राष्ट्रीयकृत रेलवे लाइनों में अनेक सुधार किए गए तथा कुछ नई रेलवे लाइनों का निर्माण किया गया। राष्ट्रीयकरण की नीति के अन्तर्गत सरकार ने प्रमुख रेलवे लाइनों का नियंत्रण

ही अपने हाथ में लिया था। छोटे-छोटे शहरों को जोड़ने वाली सहायक लाइनों का निर्माण निजी कम्पनियों के लिये छोड़ दिया गया, जिन्हें सरकार तरह-तरह की सहायता प्रदान करती थी। 1908 में जापान की समस्त रेलों को 'रेलवे बोर्ड' के आधीन कर दिया गया।

1913 में सहायक रेलवे लाइनों की कुल 357 कम्पनियाँ थीं, जिनके अधिकार में 5289 किलोमीटर लम्बी रेलवे लाइनें थीं। इस समय राजकीय रेलवे-पथ की लम्बाई 8,396 किलोमीटर थी। 1936 तक कुल रेलवे मार्ग की लम्बाई बढ़कर 24,127 किलोमीटर हो गई, जिसमें से 17,030 किलोमीटर मार्ग पर सरकार का तथा शेष 7,097 किलोमीटर मार्ग पर निजी कम्पनियों का नियन्त्रण था। 1948 में सभी राष्ट्रीयकृत रेलों का नियन्त्रण परिवहन-मन्त्रालय के सुपुर्द कर दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के दौरान जापान की रेलवे-प्रणाली अस्त-व्यस्त हो गई थी। परन्तु युद्धोत्तरकाल में इसकी द्रुत गति से उन्नति हुई तथा शीघ्र ही यह संसार की प्रमुख रेलवे प्रणाली बन गई। इस समय समूचे जापान में रेलों का जाल-सा बिछा हुआ है। यहाँ सरकारी एवं निजी दोनों तरह की रेलें विद्यमान हैं। 'जापान राष्ट्रीय रेलवेज' नामक सार्वजनिक निगम जापान का सबसे बड़ा सार्वजनिक प्रतिष्ठान है। यह राष्ट्रीय-स्तर की रेलवे सेवाओं की व्यवस्था करता है। प्रादेशिक-स्तर की रेलवे सेवायें 160 प्राइवेट कम्पनियाँ संचालित करती हैं। सरकारी रेलें स्थल पर चलने वाले 48·6 प्रतिशत यात्री यातायात तथा 59 प्रतिशत माल यातायात की ढुलाई करती हैं; जबकि निजी कम्पनियों की रेलें स्थल पर चलने वाले 23·6 प्रतिशत यात्री यातायात तथा एक प्रतिशत माल यातायात की ढुलाई करती हैं। 1980 में जापानी रेलवे-मार्ग की कुल लम्बाई 26,889 किलोमीटर (21,307 किलोमीटर सरकारी तथा 5,582 किलोमीटर गैर-सरकारी) थी। द्रुत गति एवं स्वचालित नियन्त्रण-व्यवस्था के विचार से जापानी रेलों का स्तर संसार भर में ऊँचा माना जाता है।

सड़क परिवहन—मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व जापान में सड़क परिवहन की स्थिति भी अच्छी नहीं थी। अधिकांश सड़कें कच्ची थीं, जिन पर घोड़ों और बैल-गाड़ियों द्वारा माल ढोया जाता था। यद्यपि जापान के पश्चिमी और पूर्वी भागों को मुख्य सड़क द्वारा मिलाया गया था, किन्तु जनसाधारण के लिये इस सड़क का प्रयोग वर्जित था। मेजी सरकार ने औद्योगीकरण के उद्देश्य से रेलों के साथ-साथ सड़कों के विकास पर भी बल दिया। सड़कों के निर्माण द्वारा गाँवों को व्यापारिक केन्द्रों से जोड़ा गया। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में सड़कों पर स्वचालित वाहन चलने लगे। जापान में मोटर उद्योग की स्थापना 1907 में छोटे पैमाने पर हुई। 1935 में सरकार ने मोटर उद्योग को संरक्षण प्रदान किया। फलतः मोटर गाड़ियों का वार्षिक उत्पादन 1935 में 500 से बढ़कर 1941 में 42,813 हो गया। तदुपरान्त सवारी गाड़ियों का उत्पादन रोककर उनके स्थान पर वायुयानों का निर्माण किया

जाने लगा। पुनः मोटरगाड़ियों का उत्पादन 1950 में आरम्भ हुआ। आजकल जापान मोटरगाड़ियों का प्रमुख उत्पादक एवं निर्यातक देश है। जापान में सड़कों के माध्यम से स्थल पर चलने वाले 28 प्रतिशत यात्री यातायात तथा 40 प्रतिशत माल यातायात की ढुलाई होती है। यहाँ प्रति एक हजार जनसंख्या के पीछे 207 मोटर गाड़ियाँ हैं।

समुद्री परिवहन—तोकुगावा शासन से पूर्व चीन और दक्षिण एशियाई देशों के साथ जापान के व्यापारिक सम्बन्ध थे। यह व्यापार समुद्री मार्ग से होता था। तोकुगावा शासकों ने लगभग 200 वर्षों तक जापान को शेष विश्व से पृथक् रखने की नीति अपनाई। उन्होंने बड़े जलयानों का निर्माण तथा जापानियों का विदेश भ्रमण प्रतिबन्धित कर दिया। परन्तु जब 1853 में विदेशी बलपूर्वक जापान में घुस आए, तब सरकार को पृथक्करण की नीति का परित्याग करना पड़ा। अपने शासनकाल के अन्तिम चरण में शोगुन ने जहाजरानी के विकास का प्रयास भी किया, किन्तु इसका वास्तविक विकास 1868 में मेजी पुनर्संस्थापन के बाद ही आरम्भ हुआ। 1870 में पारित 'व्यापारिक जहाजी बेड़ा कानून' के अनुसार अनेक छोटी-बड़ी समुद्री-परिवहन कम्पनियाँ स्थापित हुईं। 1894-96 में हुए चीन-जापान युद्ध से जापान के जहाजरानी उद्योग को भारी प्रोत्साहन मिला। 1896 में पारित 'समुद्री परिवहन अनुदान अधिनियम' के अन्तर्गत बड़े-बड़े जलयानों के निर्माताओं को सरकारी सहायता दी जाने लगी। 1904-05 में हुए रूस-जापान युद्ध से भी जापान का जहाजरानी उद्योग प्रोत्साहित हुआ। 1870 में जापान के जहाजी बेड़े में कुल 24,000 टन-भार क्षमता के 36 जहाज थे। 1914 तक उसके जहाज बेड़े में 18,53,425 टन भार क्षमता के 2,321 जहाज हो गये। जापान के निर्यात-व्यापार में उसकी जहाजरानी का हिस्सा 1893 में 7 प्रतिशत से बढ़कर 1913 में 51 प्रतिशत हो गया।

प्रथम महायुद्ध के दौरान जापान के विदेशी व्यापार में तेजी से वृद्धि हुई, जिसका उसके जहाजरानी उद्योग पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। युद्ध की समाप्ति तक समुद्री परिवहन की दृष्टि से जापान का संसार भर में चौथा स्थान हो गया। परन्तु युद्धोत्तरकाल में अनेक कारणों से जापान का जहाजरानी उद्योग हतोत्साहित हुआ, जैसे—ऊँची निर्माण लागत, विदेशी प्रतियोगिता में वृद्धि, जापान के विदेशी व्यापार में उत्पन्न मन्दी की प्रवृत्ति तथा 'तीसा' की संसार व्यापी मन्दी। फलतः जापान में निर्मित जहाजों का कुल टन भार 1919 में 646 हजार टन से घटकर 1929 में 165 हजार टन तथा 1932 में केवल 54 हजार टन रह गया। जहाजरानी उद्योग को मन्दी से उबारने के लिये सरकार ने पुराने जहाजों को समाप्त करके नये जहाज बनाने की योजना (Scrap and Build Plan) आरम्भ की। इस योजना के अन्तर्गत जहाज-निर्माताओं को सरकार ने आर्थिक सहायता भी प्रदान की। इस

योजना का जहाजरानी उद्योग पर अनुकूल प्रभाव पड़ा तथा 1937 तक जापान में निर्मित जहाजों की टन-भार क्षमता बढ़कर 446 हजार टन हो गई।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान जापान का जहाजी बेड़ा पूर्णतया नष्ट हो गया। 1946 में जापान के पास केवल 17 समुद्री जहाज थे। सैनिक शासन के अन्तर्गत जापानियों को केवल तटीय जहाजों के निर्माण की अनुमति थी। सैनिक शासन की समाप्ति के बाद जहाजरानी उद्योग का द्रुत गति से विकास आरम्भ हुआ। 1959 तक जापान के पास 65 लाख टन-भार क्षमता के समुद्री जहाज हो गए, जो दूसरे महायुद्ध से पूर्व के बराबर थे। जहाज-निर्माण के कार्य में तेजी लाने तथा 40 लाख टन भार की अतिरिक्त क्षमता प्राप्त करने के उद्देश्य से सरकार ने 1961 में एक पंचवर्षीय स्कीम तैयार की थी। 30 जून 1980 को जापान के जहाजी बेड़े में 219 लाख टन-भार क्षमता के 8,855 जलयान सम्मिलित थे। आजकल जापान समुद्री जहाजों का सबसे बड़ा निर्माता एवं निर्यातक देश है।

वायु परिवहन—जापान में विमान-निर्माण उद्योग 1911 में स्थापित हुआ। दूसरे महायुद्ध से पूर्व तक इस उद्योग की अच्छी खासी प्रगति हुई, किन्तु युद्ध के दौरान जापान में विमान-निर्माण का कार्य निषिद्ध रहा। सैनिक शासन की समाप्ति के बाद 1953 में 'जापान एयरलाइन्स' की स्थापना हुई, जो अन्तर्राष्ट्रीय वायु परिवहन के क्षेत्र में जापान की एकमात्र कम्पनी है। इस कम्पनी ने सर्वप्रथम 1954 में जापान और सानफ्रांसिसको के बीच वायु सेवा आरम्भ की। आजकल इसके विमान सभी प्रमुख देशों में आते-जाते हैं। आन्तरिक वायु परिवहन की व्यवस्था 4 कम्पनियों द्वारा की जाती है। इनकी वायु-सेवा टोकियो को जापान के समस्त प्रमुख नगरों से जोड़ती है। आजकल संसार की सभी प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों के वायुयान जापान आते-जाते हैं। टोकियो तथा ओसाका में जापान के प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे हैं। 1980 में जापानी वायु कम्पनियों ने घरेलू सेवाओं के अन्तर्गत 371 लाख तथा अन्तर्राष्ट्रीय सेवाओं के अन्तर्गत 44 लाख यात्री ढोये।

———

9

जापानी विदेशी व्यापार का विकास

(Development of Japanese Foreign Trade)

प्रश्न 1—जापान की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार के विकास एवं महत्व की विवेचना कीजिए।

Describe the growth and impotrance of foreigun trade in the economy of Japan.

उत्तर—जापान की अर्थव्यवस्था में उसके विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान है। विदेशी व्यापार ने जापान में औद्योगीकरण की प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य किया है तथा औद्योगिक विकास के साथ-साथ जापान के विदेशी व्यापार की रचना में निरन्तर परिवर्तन आया है।

जापान में विदेशी व्यापार का विकास—तोकुगावा शासकों की जापान को शेष संसार से पृथक् रखने की नीति के कारण 19वीं शताब्दी के मध्य तक जापान का विदेशी व्यापार लगभग नगण्य था। 1868 में मेजी पुनर्स्थापन के पश्चात् जापान ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश किया। लॉकऊड (Lockwood) के शब्दों में, "आधुनिक जापान का कोई भी अंग उतना अधिक नाटकीय नहीं है, जितना कि 1868 के बाद उसके विदेशी व्यापार का क्रान्तिकारी विकास।" 1880 तथा 1913 के बीच जापान के विदेशी व्यापार में आठ गुनी वृद्धि हुई। 19वीं शताब्दी के अन्त तक उसका आयात-निर्यात कुल राष्ट्रीय उत्पादन का 10 प्रतिशत हो गया। अन्तर्महायुद्धकाल में यह बढ़कर राष्ट्रीय आय का 15 से 20 प्रतिशत तक हो गया। जापान के विदेशी व्यापार में द्रुत गति से वृद्धि के लिये बहुत से कारण उत्तरदायी थे। सर्वप्रथम, मेजी सरकार द्वारा पृथक्करण की नीति के परित्याग तथा विदेशों से व्यापारिक सम्बन्धों की स्थापना ने विदेशी व्यापार को अत्यधिक प्रोत्साहित किया। औद्योगिक विकास हेतु जापान विदेशी तकनीक का आयात करने लगा। दूसरे, विदेशी व्यापार के माध्यम से जापान अपने आर्थिक विकास हेतु आवश्यक साधन सुगमतापूर्वक प्राप्त करने लगा तथा बदले में अपना उत्पादन-अतिरेक विदेशों को भेजने लगा। तीसरे, विदेशी व्यापार का जापान की राष्ट्रीय आय, पूँजी-निर्माण तथा उपभोग-व्यय पर अनुकूल प्रभाव उपस्थित हुआ। इस कारण से भी जापानियों द्वारा अपना विदेशी व्यापार बढ़ाने का प्रयास किया

गया। चौथे, जापान में परिवहन एवं संचार-साधनों के विस्तार ने भी उसके विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित किया।

प्रथम महायुद्ध का समय जापानी उद्योगों की तरह, जापान के विदेशी व्यापार के लिये भी स्वर्णिम युग था। प्रतियोगिता की अनुपस्थिति में जापान ने पश्चिमी राष्ट्रों के अनेक विदेशी बाजारों पर अपना कब्जा कर लिया। युद्ध की समाप्ति पर जापान को भीषण विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। 1923 में आए भूकम्प तथा 1927 में उपस्थित वित्तीय संकट का उसके विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। जापानी सरकार ने येन का अवमूल्यन भी किया, किन्तु इसका जापान के निर्यात-व्यापार पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा। 1931 और 1937 के बीच जापानी अर्थव्यवस्था को युद्ध के आधार पर तैयार किया गया। युद्ध-सामग्री के निर्माण पर सरकार ने भारी रकम खर्च की, जिसका जापान के विदेशी व्यापार पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक जापान का विदेशी व्यापार बढ़कर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। निम्न तालिका 1885 और 1939 के जापान के विदेशी व्यापार का विकास दर्शाती है।

(मूल्य लाख येन में)

वार्षिक औसत	आयात	निर्यात	व्यापार-सन्तुलन
1885–89	470	550	80
1900–04	3,080	2,740	—340
1910–14	6,500	6,060	—440
1915–19	14,230	16,630	+2,400
1925–29	28,490	24,940	+[illegible],550
1935–39	38,680	37,720	960

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में जापान को विदेशों से कच्चा-माल प्राप्त करने तथा विदेशों में अपना निर्मित माल बेचने में कोई कठिनाई नहीं हुई। परन्तु 1943 के पश्चात् जब मित्र-राष्ट्रों ने जापान की नाकेबन्दी कर दी, तब जापान का विदेशी व्यापार पतन के गर्त में चला गया। युद्ध की समाप्ति तक जापान के विदेशी व्यापार का ढाँचा पूर्णतः अस्त-व्यस्त हो गया था। सैनिक शासन ने 'विदेशी व्यापार निगम' (1943 में स्थापित) को समाप्त करते हुए 1946 में 'विदेशी व्यापार बोर्ड' की स्थापना की। सैनिक शासन के प्रारम्भिक दो वर्षों में विदेशी व्यापार केवल सरकारी स्तर पर हुआ, किन्तु तीसरे वर्ष (1947) निजी व्यापार भी खोल दिया गया। यद्यपि 1951 में जापान का निर्यात-मूल्य 1949 की अपेक्षा 165 प्रतिशत अधिक हो गया, तथापि अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण हेतु

उसे आयात की आवश्यकता कहीं अधिक बनी रही। 1953 में सरकार द्वारा निर्यात-प्रोत्साहन हेतु मुद्रा का अवमूल्यन किया गया तथा व्यावसायिक फर्मों को इस शर्त पर कुछ वस्तुओं के आयात की अनुमति दी जाने लगी कि वे अपने निर्मित माल का निश्चित प्रतिशत अनिवार्य रूप से निर्यात करेंगी। यद्यपि इन उपायों का जापान के निर्यात-व्यापार पर अनुकूल प्रभाव पड़ा; तथापि 1955 उसका निर्यात-व्यापार 1930 के स्तर पर नहीं पहुँच सका, यद्यपि 1930 की अपेक्षा 1955 में उसका औद्योगिक उत्पादन दुगुने से भी अधिक था। निम्न तालिका 1956 और 1980 के बीच जापान के विदेशी व्यापार में हुई प्रगति दर्शाती है—

(मूल्य करोड़ डॉलर में)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापार-सन्तुलन
1956	250	323	—73
1960	405	449	—44
1965	846	817	+29
1969	1,599	1,502	+97
1974	5,554	6,261	—707
1977	8,050	7,080	+970
1980	12,980	14,052	—1,072

तालिका से स्पष्ट है कि 1956 और 1980 के बीच जापान के आयात और निर्यात व्यापार में लगभग 40 गुनी वृद्धि हुई है। युद्धोत्तरकाल में जापान ने एक ओर, उदार आयात-नीति का अनुसरण किया है तथा दूसरी ओर, निर्यात-उद्योगों की स्पर्धात्मक क्षमता बनाए रखने के लिये सन्यन्त्रों का निरन्तर आधुनिकीकरण किया है।

जापानी अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का महत्व—ग्रेट ब्रिटेन की तरह, जापान की अर्थव्यवस्था में भी विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान है। बढ़ती हुई जनसंख्या, स्वल्प प्राकृतिक संसाधन तथा सीमित भू-क्षेत्र के कारण जापान अपने आर्थिक अस्तित्व के लिए विदेशी व्यापार पर आश्रित है। विदेशी व्यापार जापानी अर्थव्यवस्था की आधारशिला है। उद्योगों के लिए कच्चा-माल जुटाने तथा उद्योगों द्वारा निर्मित माल खपाने के विचार से जापान पर्याप्त अंश तक विदेशी व्यापार पर आश्रित है। जापान को अपनी औद्योगिक आवश्यकता की शत् प्रतिशत कपास, कच्ची ऊन, बाक्साइट और कच्ची रबड़; 99 प्रतिशत खनिज लोहा और खनिज तेल; 90 प्रतिशत ताँबा तथा 76 प्रतिशत कोकिंग कोयला विदेशों से मँगाना पड़ता है; क्योंकि जापान में औद्योगिक विकास हेतु आवश्यक कच्चे-पदार्थों का नितान्त

अभाव है। सीमित कृषि-क्षेत्र का जनसंख्या के अधिक घनत्व के कारण जापान को गेहूँ, चीनी, सोयाबीन, फल, माँस, मक्खन, आदि, कृषि-उत्पादों का भी न्यूनाधिक मात्रा में आयात करना पड़ता है। दूसरी ओर, घरेलू बाजार की सीमितता के कारण जापानी उद्योग अपने निर्मित माल की खपत के लिए मुख्यतः विदेशी बाजार पर आश्रित हैं। जापान तैयार लोहा एवं इस्पात, जहाज, मोटरगाड़ियाँ, रेडियो और टेलिविजन सैट, चाय,सूती-ऊनी और रेशमी वस्त्र का बड़े पैमाने पर निर्यात करता है। युद्धोत्तरकाल में जापान के आयात एवं निर्यात में हुई द्रुतगति से वृद्धि विदेशी व्यापार पर जापानी अर्थव्यवस्था की निरन्तर बढ़ती हुई निर्भरता दर्शाती है। जापान के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में आयात एवं निर्यात का अनुपात उत्तरोत्तर बढ़ता गया है।

लॉकऊड (Lockwood) के अनुसार, जापान के आर्थिक विकास में विदेशी व्यापार ने गतिशील भूमिका निभाई है। अपने विचार के समर्थन में उन्होंने तीन तर्क प्रस्तुत किए हैं–(i) 1859 में विदेशी व्यापार की आरम्भना ने जापानी अर्थ-व्यवस्था के विकास हेतु एक प्रमुख क्षेत्र (उद्योग) उपलब्ध कराया तथा आधुनिक मशीनरी, तकनीकी एवं व्यावसायिक संगठन के प्रयोग हेतु पूर्णतः नई स्फूर्ति प्रदान की। (ii) 1868 तथा 1838 के बीच विदेशी व्यापार ने जापान को बड़े पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण के लाभ अर्जित करने में समर्थ बनाया। (iii) विदेशी व्यापार के माध्यम से जापानी अर्थव्यवस्था विश्व की समृद्धि में उपस्थित उच्चावचनों से जुड़ी रही है। जापानी अर्थव्यवस्था पर विदेशी व्यापार का प्रभाव स्थिरकारी एवं अस्थिरकारी दोनों प्रकार का रहा है।

जापानी अर्थव्यवस्था की विदेशी व्यापार पर अत्यधिक निर्भरता के कारण ही यह कहा जाता है कि 'जापानी अर्थव्यवस्था विदेशी व्यापार के पीछे-पीछे चलती है।' मेजी पुनर्संस्थापन से पूर्व जापान की एकान्तवासी अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार के लिए कोई स्थान नहीं था। उस समय जापानी अर्थव्यवस्था घोर दरिद्रता एवं गतिहीनता की शिकार थी। मेजी पुनर्संस्थापन के पश्चात् जब जापान में विदेशी व्यापार आरम्भ हुआ, तब तक उसकी अर्थव्यवस्था गतिशील बन गई। यद्यपि जापानियों ने अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने तथा अपना रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के उद्देश्य से औद्योगीकरण का निश्चय किया था, तथापि उनके निश्चय को साकार रूप प्रदान करने का श्रेय विदेशी व्यापार को ही जाता है।

प्रश्न 2 —जापान के विदेशी व्यापार की प्रकृति और दिशा में युद्धोत्तर-कालीन परिवर्तनों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

Critically examine the changes in the nature and direction of Japan's foreign trade in the post-war period.

अथवा

"जापान के विदेशी व्यापार में परिवर्तन उसके कृषिजन्य एवं औद्योगिक उत्पादन में परिवर्तन दर्शाते हैं।" व्याख्या कीजिए।

"The changes in Japan's foreign trade reflect very well the changes in her agricultural and industrial production." Discuss.

उत्तर—1868 में मेजी पुनर्संस्थापन के पश्चात् जापान ने विदेशी व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश किया तथा द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक वह संसार का प्रमुख व्यापारिक राष्ट्र बन गया। तथापि द्वितीय महायुद्ध के दौरान उसके विदेशी व्यापार का ढाँचा पूर्णतः अस्त-व्यस्त हो गया था तथापि युद्धोत्तरकाल में औद्योगिक पुनर्निर्माण के पश्चात उसका विदेशी व्यापार पुनः तीव्र गति से बढ़ने लगा। 1956 से लेकर 1980 तक जापानी विदेशी व्यापार के मूल्य में लगभग 40 गुनी वृद्धि हुई। विदेशी व्यापार में वृद्धि के साथ-साथ जापान के विदेशी व्यापार की प्रकृति (रचना) और दिशा में भी परिवर्तन आए हैं। विदेशी व्यापार की रचना में उपस्थित परिवर्तनों को जापान के औद्योगिक एवं कृषिजन्य उत्पादन में उपस्थित परिवर्तनों का प्रतीक माना जा सकता है।

विदेशी व्यापार की रचना में परिवर्तन—मेजी शासन के प्रारम्भिक वर्षों में (1868 से 1891 तक) जापान मुख्य रूप से कृषि-प्रधान देश था। अतः वह कच्चे-पदार्थों का निर्यात तथा निर्मित वस्तुओं का आयात करता था। निर्यात की अपेक्षा आयात की अधिकता के कारण उसका व्यापार-सन्तुलन निरन्तर प्रतिकूल रहता था द्रुत गति से औद्योगीकरण तथा निर्यात-व्यापार के आधार में वृद्धि के कारण 1881 के बाद जापान का व्यापार-सन्तुलन अनुकूल रहने लगा। परन्तु 1894 में चीन के साथ युद्ध छिड़ जाने के कारण जापान के लिए पूँजीगत माल के आयात की आवश्यकता बढ़ गई। फलतः उसका व्यापार-सन्तुलन पुनः प्रतिकूल हो गया। 19वीं शताब्दी के अन्त तक जापान के निर्यात-व्यापार में कच्चे-पदार्थों की तथा आयात-व्यापार से निर्मित पदार्थों की प्रधानता बनी रही।

वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से ही जापान के विदेशी व्यापार की रचना में स्पष्ट परिवर्तन दिखाई देने लगा। आयात में निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा कच्चे-पदार्थों की मात्रा बढ़ने लगी। कच्चे पदार्थों में भी कपास की प्रधानता थी। कृषि-जन्य विकास के कारण खाद्यान्न का आयात घटने लगा। 1900 से लेकर 1913 तक निर्मित वस्तुओं के आयात में भारी गिरावट उपस्थित हुई। दूसरी ओर, सूतीवस्त्र एवं रेशम उद्योगों के विकास कारण के निर्मित माल के निर्यात में भारी वृद्धि हुई। एलन (Allen) के शब्दों में, "विदेशी व्यापार की रचना में उपस्थित परिवर्तन इस

तथ्य के परिचायक थे कि जापान का वस्त्र उद्योग तेजी से विकसित हो रहा था तथा उसके विनिर्माणी उद्योग आगे बढ़ रहे थे।"

प्रथम महायुद्ध के दौरान विदेशी प्रतियोगिता के अभाव में जापानी निर्यात तीव्र गति से बढ़ा तथा व्यापार-सन्तुलन उसके पक्ष में हो गया। युद्धोपरान्त जापान के निर्यात-व्यापार में निर्मित वस्तुओं की प्रधानता रहने लगी। 1929 तक वस्त्र का निर्यात उसके कुल निर्यात का 65 प्रतिशत हो गया। केवल कच्चा रेशम कुल निर्यात का 27 प्रतिशत था। 1931 और 1939 के बीच यद्यपि व्यापार-सन्तुलन जापान के प्रतिकूल रहा, तथापि उसके विदेशी व्यापार की बनावट में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुआ। निर्यात-व्यापार के अन्तर्गत निर्मित वस्तुओं के अनुपात में भारी वृद्धि तथा अर्ध-निर्मित वस्तुओं के अनुपात में भारी गिरावट आई। दूसरी ओर, आयात-व्यापार के अन्तर्गत कच्चे पदार्थों एवं अर्धनिर्मित माल के अनुपात में भारी वृद्धि तथा निर्मित माल के अनुपात में भारी गिरावट आई।

वस्तुतः द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक जापानी अर्थव्यवस्था अत्यधिक लोचपूर्ण थी। अतः जापान अपने विदेशी व्यापार की प्रकृति में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर लेता था। एलन (Allen) के शब्दों में, "जापानी अर्थव्यवस्था की लोचपूर्णता ने जापान को अपने प्रमुख बाजारों और व्यापार की दिशाओं में उपस्थित गिरावट की क्षतिपूर्ति-स्वरूप नये बाजार तथा वैकल्पिक वस्तुयें खोज लेने में समर्थ बनाया।" द्वितीय महायुद्ध के दौरान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में तरह-तरह के प्रतिबन्ध एवं नियन्त्रण उपस्थित हो गये। फलतः जापान (जो उदार व्यापारिक प्रणाली का समर्थक था) को भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। महायुद्ध की समाप्ति तक जापानी उद्योग एवं विदेशी व्यापार की संरचना पूर्णतः अस्त-व्यस्त हो गई। 1952 तक जापान में आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य पूरा हुआ तथा व्यापार-सन्तुलन का घाटा अमेरिकी सहायता द्वारा पाटा गया। यद्यपि 1955 तक जापान का औद्योगिक उत्पादन बढ़कर युद्ध-पूर्व स्तर से भी अधिक हो गया, किन्तु उसका निर्यात-व्यापार युद्ध-पूर्व स्तर तक नहीं पहुँच पाया। इसके अनेक कारण थे। सर्व-प्रथम, 1952 तक जापान को अपने साधनों का प्रयोग अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण में करना पड़ा। दूसरे, अत्यधिक निवेश के कारण उसका आन्तरिक मूल्य-स्तर ऊँचा हो गया। परिणामतः निर्यात-वस्तुओं की स्पर्धात्मक शक्ति घट गई। तीसरे जायबत्सू संस्थाओं के विघटन से जापान की औद्योगिक दक्षता घट गई तथा उसके निर्यात-क्षेत्र का संकुचन हो गया। चौथे, नाइलोन के प्रचलन के कारण जापानी रेशम की माँग घट गई। एशियाई देशों में सूती वस्त्रोद्योग के विकास के कारण जापानी सूती वस्त्र का बाजार संकुचित हो गया।

इन परिस्थितियों का मुकाबला जापान ने दो प्रकार से किया। सर्वप्रथम, उसने अपनी वस्तुओं के लिये नए बाजार तथा आयात के लिये नए स्रोत खोज

निकाले। दूसरे, जापान ने अपने निर्यात-व्यापार की संरचना में परिवर्तन किया। वस्त्रों के निर्यात में आई कमी इन्जीनियरिंग वस्तुओं का निर्यात बढ़ाकर पाटी गई। यद्यपि पैट्रोलियम के आयात में भारी वृद्धि हुई; तथापि जापान के कुल आयात में वस्त्र उद्योगों के लिए कच्चे-माल का अनुपात, जो द्वितीय महायुद्ध से पूर्व 32 प्रतिशत था, 1974 तक घटकर मात्र 3 प्रतिशत रह गया। दूसरी ओर, जापान के कुल निर्यात में धात्विक सामान, मशीनरी तथा रासायनिक पदार्थों का अनुपात, जो द्वितीय महायुद्ध से पूर्व केवल 16 प्रतिशत था, 1974 तक बढ़कर 82·1 प्रतिशत हो गया। इस बीच कुल निर्यात में वस्त्रों का अनुपात 50 प्रतिशत से घटकर 7·3 प्रतिशत रह गया।

आजकल जापान प्रमुख रूप से निर्मित माल (जहाज, मशीनरी, मोटर-गाड़ियाँ, रेडियो, ट्राँजिस्टर, टेलीविजन, टेपरिकार्डर, लोहा एवं इस्पात, रासायनिक उर्वरक, कृत्रिम रेशे एवं सूतीवस्त्र, धातु-निर्मित वस्तुएँ, खिलौने आदि) का निर्यात-कर्त्ता तथा कृषि उत्पादों एवं खनिज पदार्थों (कपास, ऊन, गेहूँ, फल, मक्खन, माँस, लकड़ी, सोयाबीन, खनिज लोहा, पैट्रोलियम, कच्ची रबड़, कोकिंग कोयला, ताँबा, बाक्साइट, आदि) का आयातकर्त्ता है।

विदेशी व्यापार की दिशा में परिवर्तन—प्रथम महायुद्ध से पूर्व जापान के विदेशी व्यापार में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा चीन का स्थान प्रमुख था। जापान का 64 प्रतिशत निर्यात माल इन्हीं देशों में जाता था। प्रथम महायुद्ध के दौरान जापान ने मित्र राष्ट्रों के पूर्वी बाजारों का अधिकांश भाग अपने कब्जे में कर लिया। उसके समुद्री जहाज पूर्वी देशों में बिना किसी खतरे के आ जा सकते थे। 1929 तक जापान के निर्यात-व्यापार में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत का स्थान प्रमुख हो गया। इस बीच उपनिवेशों के साथ भी जापान का व्यापार बढ़ने लगा। 1914 से पहले जापान के विदेशी व्यापार में उपनिवेशों का बहुत कम महत्व था; किन्तु 1929 तक उसके व्यापार में उपनिवेशों का हिस्सा बढ़कर 20 प्रतिशत हो गया है।

दूसरे महायुद्ध से पहले जापानी वस्तुओं का प्रमुख बाजार एशिया था। चीन, भारत और इण्डोनेशिया को जापान से 40 प्रतिशत निर्यात-माल भेजा जाता था। आजकल एशिया, उत्तरी अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप जापानी वस्तुओं के प्रमुख बाजार तथा उसकी आयात-आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रमुख स्रोत हैं। 'संयुक्त राज्य अमेरिका' जापान का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार है। 1974 में जापान के निर्यात-व्यापार में एशिया का हिस्सा 26·8 प्रतिशत, उत्तरी अमेरिका का हिस्सा 25·1 प्रतिशत तथा यूरोप का हिस्सा 15·1 प्रतिशत, रहा, जबकि उसके आयात-व्यापार में एशिया का हिस्सा 22·4 प्रतिशत उत्तरी अमेरिका का 24·7 प्रतिशत

तथा यूरोप का 18·4 प्रतिशत रहा। पूँजीवादी देशों के अतिरिक्त, जापान के व्यापारिक सम्बन्ध समाजवादी देशों के साथ भी है, यद्यपि उसके कुल विदेशी व्यापार में समाजवादी देशों का हिस्सा 7–8 प्रतिशत से अधिक नहीं है। जापान के निर्यात-व्यापार में विकासशील देशों की अपेक्षा विकसित देशों का हिस्सा अधिक है, यद्यपि उसके आयात-व्यापार में विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों का योगदान अधिक रहता है। युद्धोत्तरकाल में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा दक्षिणी-पूर्वी एशियाई देशों के साथ जापान का व्यापार बहुत बढ़ गया है; किन्तु उत्तरी-पूर्वी एशियाई के साथ उसका व्यापार बहुत घट गया है।

10
जापान में श्रमिक-संघवाद

(Trade Unionism in Japan)

प्रश्न 1—जापान में श्रम-संघ आन्दोलन के उद्विकास की व्याख्या कीजिये। इसकी वर्तमान स्थिति क्या है?

Discuss the evolution of trade union movement in Japan. What is its present position?

उत्तर—जापान का श्रम-संघ आन्दोलन अधिक प्राचीन नहीं है तथा आज भी यह अपनी शैशव अवस्था में है। योशीसाका (Yoshisaka) ने जापानी श्रम-संघवाद को 'श्रमिकों के संगठन हेतु आन्दोलन' माना है, संगठित श्रमिकों पर आधारित आन्दोलन नहीं। जी० सी० एलन (G. C. Allen) के शब्दों में, "जापान का आर्थिक ढाँचा, उसकी औद्योगिक-सम्बन्ध प्रणाली तथा प्रबल राजनीतिक प्रभाव श्रम-संघवाद के विकास हेतु प्रमुख विरोधी रहे हैं।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व श्रम-संघवाद का विकास—1868 में मेजी पुन-र्संस्थापन के पश्चात् ही जापान में कारखाना-प्रणाली आरम्भ हुई तथा इसी के साथ श्रमिकों में संगठन की शुरूआत हुई। अतः मेजी शासनकाल को जापान में श्रम-संघों का 'सृष्टि काल' (Formative Period) माना जाता है। सर्वप्रथम 1883 में रिक्शा चालकों का संगठन बना, किन्तु वह अधिक दिनों तक नहीं चल पाया।

गति अत्यन्त धीमी रही। श्रम-संघों की सदस्य-संख्या कुल औद्योगिक श्रमिकों की 5 प्रतिशत से अधिक नहीं हो पाई। श्रम-संघों को सामूहिक सौदेबाजी की शक्ति भी प्राप्त नहीं थी। इस अवधि में श्रम-संघवाद का विकास अनेक कारणों से अवबाधित रहा। सर्वप्रथम, ग्रेट ब्रिटेन की तरह जापान में जनतन्त्रीय भावना का विकास नहीं हो पाया था। एलन (Allen) के शब्दों में, "जापान के पास राजनीतिक जनतन्त्र या उदारतावाद की कोई परम्परा नहीं थी तथा सामाजिक सम्बन्ध पारस्परिक आभारों एवं सामन्ती अतीत से प्राप्त स्वामी-भक्ति की भावना से शासित होते थे।" दूसरे, श्रम-संघ आन्दोलन के प्रति सरकार का दृष्टिकोण अनुदार था। 1900 का सार्वजनिक शान्ति कानून इस तथ्य का जीता-जागता प्रमाण है। तीसरे, जापान में प्रबन्धक एवं श्रमिक के बीच का सम्बन्ध पिता-पुत्र के सम्बन्ध की तरह पवित्र माना जाता था। सरकार भी इस सम्बन्ध को वास्तविक मानती थी। लॉकऊड (Lockwood) के शब्दों में, "संरक्षण एवं अधीनस्थता के पारस्परिक दायित्वों सहित पारिवारिक पैतृकता की प्राचीन प्रणाली को आधुनिक उद्योग में खींच लाया गया था; किन्तु औद्योगिक पूँजीवाद की हृदयहीन गणनाओं के अन्तर्गत इस प्रणाली ने अपनी उदारता एवं मानवीयता खो दी थी।" चौथे, भारतीय श्रमिकों की तरह जापानी श्रमिक भी प्रवासी प्रकृति के थे। फलतः औद्योगिक केन्द्रों में स्थायी श्रम-शक्ति का निर्माण नहीं हो पाया था। श्रमिकों में भी अधिकांश संख्या स्त्रियों की थी, जिन्हें संगठित कर पाना बहुत कठिन था। पाँचवें, तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण जापान में श्रमिकों की पूर्ति उनकी माँग से बहुत अधिक थी। छठे, जायबत्सू सरीखे एकाधिकारी संगठन अपनी शक्ति के आधार पर श्रमिकों के संगठित प्रयासों को निष्फल बना देते थे। सरकार भी इन एकाधिकारी संगठनों का साथ देती थी। सातवें, श्रम-संघों का नेतृत्व बुद्धिजीवियों के हाथ में था, जो रचनात्मक कार्यों की बजाय शुष्क आदर्शवाद को महत्व देते थे।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् श्रम-संघवाद का विकास—दूसरा महायुद्ध शुरू होने पर सरकार ने उन समस्त कानूनों को रद्द कर दिया, जो श्रमिकों को संरक्षण देने वाले थे। 1945 में जब जापान ने मित्र-शक्तियों के समक्ष आत्म-समर्पण किया, उस समय तक जापान में श्रम-संघों का कोई अस्तित्व नहीं रह गया था। युद्ध की समाप्ति पर जापान में सैनिक शासन की स्थापना हुई, जिसने श्रम-संघ आन्दोलन के विकास-मार्ग की समस्त बाधाएँ हटा दीं। युद्धकाल में भाषण की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता तथा संगठन की स्वतन्त्रता पर जो प्रतिबन्ध लगाए थे, वे समाप्त कर दिए गये। दिसम्बर 1945 में निर्मित 'श्रम-संघ कानून' द्वारा श्रमिकों को संगठन बनाने, सामूहिक सौदेबाजी करने तथा हड़ताल आयोजित करने का अधिकार दिया गया। श्रम-संघों को मान्यता प्रदान न करने वाले सेवायोजकों के लिये दण्ड का प्रावधान किया गया। जायबत्सू सरीखे एकाधिकारी संगठनों को विघटित कर दिया

गया, जो श्रम-संघवाद के विकास में प्रमुख रुकावट थे। श्रम-कल्याण को बढ़ावा देने के उद्देश्य से भी कानून बनाये गए। 'जापानी श्रमिकों का सामान्य संघ' पुनर्जीवित किया गया तथा औद्योगिक विवादों के स्वेच्छापूर्वक निपटाने की व्यवस्था की गई। श्रमिकों को संरक्षण देने वाले कानून, जो युद्धकाल में समाप्त कर दिये गए थे, पुनर्जीवित किये गए। इन व्यवस्थाओं का श्रम-संघ आन्दोलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। श्रम-संघों की संख्या 1946 में 11,579 से बढ़कर 1949 में 34,688 हो गई। उनकी सदस्य-संख्या 37·48 लाख से बढ़कर 66·55 लाख हो गई। समस्त औद्योगिक श्रमिकों में संगठित श्रमिकों का अनुपात 40 प्रतिशत से बढ़कर 55·7 प्रतिशत हो गया।

श्रम-संघों की वर्तमान स्थिति—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जापान में श्रम-संघवाद का द्रुत गति से विस्तार हुआ है। जून 1969 में यहाँ श्रम-संघों की संख्या 59 हजार थी, जिनकी सदस्य-संख्या 111 लाख थी। जून 1980 तक श्रम-संघों की संख्या बढ़कर 72,693 हो गई, जिनकी सदस्य-संख्या 122 लाख थी। निस्सन्देह विगत वर्षों में श्रम-संघों की संख्या और सदस्यता तेजी से बढ़ी है, तथापि कुल औद्योगिक श्रमिकों में संगठित श्रमिकों का अनुपात घटा है। 1974 में जापान के 33·8 प्रतिशत औद्योगिक श्रमिक संगठित थे, किन्तु 1980 में संगठित श्रमिकों का अनुपात घटकर मात्र 23 प्रतिशत रह गया। स्पष्टतः जापान में जिस गति से औद्योगिक श्रमिकों की संख्या बढ़ रही है (द्रुत औद्योगीकरण के फलस्वरूप), उस गति से श्रम-संघवाद का विकास नहीं हो पा रहा है। इसका कारण बताते हुए एलन (Allen) ने लिखा है, "जापानी श्रम-संघ आन्दोलन का आर्थिक आधार अब भी कमजोर है। जिन दशाओं ने युद्ध-पूर्व काल में श्रम-संघवाद का विकास अवबाधित किया था, वे पूर्णतया समाप्त नहीं हो पाई हैं, जैसे—लघु संस्थानों का बाहुल्य तथा रोजगार तलाशने वाले श्रमिकों की बढ़ती हुई आपूर्ति।"

11

जापान में श्रम-विधान

(Labour Legislation in Japan)

प्रश्न 1—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जापान में पारित विभिन्न श्रम-सन्नियमों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

Critically examine the various labour legislations passed in Japan after first world war.

उत्तर—जापान में बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगों का विकास 1868 में मेजी पुनर्संस्थापन के साथ आरम्भ हुआ। प्रारम्भ में कारखानों की संख्या कम थी। उनका आकार छोटा था तथा उनमें संलग्न श्रमिकों की संख्या कम थी। फलत: श्रमिकों की समस्याएँ अधिक जटिल नहीं थीं। परन्तु 1890 तक जापान में बड़े आकार वाले कारखानों की संख्या बहुत अधिक हो गई। इसके साथ ही कारखाना-श्रमिकों की संख्या और समस्याएँ भी बढ़ गईं। श्रमिकों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की प्रधानता थी। उन्हें 11 से लेकर 14 घण्टे तक प्रतिदिन काम करना पड़ता था। रोजगार की शर्तें निर्धारित करने वाले नियमों का अभाव था। फलत: मजदूरी का स्तर नीचा था और कार्य की दशाएँ असन्तोषप्रद थीं। इस तरह, मेजी शासनकाल में जापान की आर्थिक प्रगति श्रमिकों के शोषण पर आधारित थी।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व श्रम-सन्नियम—जापान में पहली बार 1892 में कारखाना विधेयक की रूपरेखा तैयार की गई, किन्तु 1911 तक इसे कानून का रूप नहीं दिया जा सका। औद्योगिक श्रमिकों के सम्बन्ध में सर्वप्रथम 1905 में 'खान अधिनियम' तथा 1911 में 'कारखाना अधिनियम' पारित हुआ; किन्तु सेवायोजकों के विरोध के कारण ये दोनों अधिनियम 1916 तक लागू नहीं किए जा सके। जापान में श्रम-विधान के निर्माण एवं क्रियान्विति में विलम्ब का प्रमुख कारण सामन्तवादी विचारों की प्रधानता थी। सेवायोजकों और श्रमिकों के मध्य पिता-पुत्र तुल्य सम्बन्ध माना जाता था। इसलिए श्रमिकों को संरक्षण प्रदान करने या उनकी कार्य-दशाओं का नियमन करने हेतु किसी प्रकार के कानून की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। मेजी सरकार तथा जायबत्सू सरीखे एकाधिकारी संगठनों की श्रमिकों के कल्याण में कोई रुचि नहीं थी। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण औद्योगिक श्रमिकों की पूर्ति उनकी माँग से अधिक रहती थी। इन्हीं सब

कारणों से जापान में श्रम-संघवाद तथा श्रम-विधान का विकास बहुत विलम्ब से आरम्भ हुआ।

1911 का कारखाना अधिनियम—1911 में पारित कारखाना अधिनियम (जो सितम्बर 1916 में लागू किया गया था) की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार थीं—(i) अधिनियम के कार्य-क्षेत्र में उन कारखानों को सम्मिलित किया गया, जिनमें 25 या अधिक श्रमिक काम करते थे। (ii) कारखानों में कार्य करने की न्यूनतम आयु 12 वर्ष निर्धारित की गई, यद्यपि 10 वर्ष से लेकर 12 वर्ष तक की आयु के बच्चों से हल्का कार्य कराया जा सकता था। अधिनियम से अन्तर्गत 16 वर्ष से कम आयु के बच्चों को संरक्षण प्रदान किया गया तथा स्त्री-श्रमिकों की तरह, उनके लिए भी कार्य के दैनिक घण्टे (अधिकतम) 12 निर्धारित किए गए। स्त्रियों और संरक्षित बच्चों को रात्रि 10 बजे से लेकर प्रातः 4 बजे तक काम पर लगाना निषिद्ध ठहराया गया, यद्यपि व्यवहार में यह उपबन्ध 1923 तक लागू नहीं किया जा सका (iii) स्त्री-श्रमिकों एवं बाल श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य, सुरक्षा, अवकाश एवं विश्राम की व्यवस्था की गई। बच्चा पैदा होने के बाद पाँच सप्ताह तक स्त्री-श्रमिकों से काम कराना निषिद्ध ठहराया गया। (iv) कारखाने में काम करते समय चोट लगने पर श्रमिकों को क्षतिपूर्ति मिलने की व्यवस्था की गई। क्षतिपूर्ति के भुगतान का दायित्व सेवायोजकों पर रक्खा गया।

इस अधिनियम की परिधि में 18,931 कारखाने सम्मिलित थे, जिनमें 1,18,077 श्रमिक काम करते थे। इस अधिनियम की व्यवस्थाएँ वस्क पुरुष श्रमिकों पर लागू नहीं होती थीं, यद्यपि यह अधिनियम श्रमिकों के प्रति सरकार के रुख में परिवर्तन का प्रतीक था।

1923 का कारखाना अधिनियम—1919 के अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन तथा वाशिंगटन सम्मेलन की सिफारिशों के आधार पर 1923 में संशोधित कारखाना अधिनियम पारित किया गया। अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार थीं—(i) अधिनियम की परिधि में उन समस्त कारखानों को सम्मिलित किया गया, जिनमें कम से कम 10 श्रमिक कार्य करते थे। (ii) कारखानों में रोजगार की न्यूनतम आयु 12 वर्ष से बढ़ाकर 15 वर्ष कर दी गई। स्त्रियों एवं 16 वर्ष तक की आयु के किशोरों को संरक्षण प्रदान किया गया। उनके लिए काम के दैनिक घण्टे (अधिकतम) 10 निर्धारित किए गए। उनसे रात्रि में 10 बजे के बाद काम लेना निषिद्ध ठहराया गया। (iii) स्त्री-श्रमिकों के लिए दस सप्ताह के मातृत्व अवकाश (चार सप्ताह का अवकाश बच्चा पैदा होने से पहले तथा छः सप्ताह का अवकाश बच्चा पैदा होने से बाद में) की व्यवस्था की गई। (iv) कारखाने में दुर्घटना के कारण घायल हो जाने या मर जाने या बीमार पड़ जाने पर श्रमिकों के लिए क्षतिपूर्ति मिलने की व्यवस्था की गई, जिसके भुगतान का पूरा दायित्व सेवा-

योजकों पर रक्खा गया। (v) यदि सेवायोजक अपनी सुविधानुसार किसी स्त्री या वयस्क पुरुष श्रमिक को कार्य से निकाल देता है, तब ऐसे श्रमिक के लिए कारखाने से घर तक यात्रा-व्यय का भुगतान आवश्यक कर दिया गया। किसी श्रमिक को नौकरी से निकालने की दशा में उसे 15 दिन की पूर्व-सूचना या 14 दिन के अतिरिक्त वेतन का भुगतान देना आवश्यक ठहराया गया।

यह अधिनियम 1926 में लागू किया गया था। इसमें वाशिंगटन सम्मेलन के अधिकांश सुझाव सम्मिलित थे, यद्यपि इसके उपबन्ध वयस्क पुरुष-श्रमिकों पर लागू नहीं होते थे। बाद में चलकर इस अधिनियम को 1931 में संशोधित किया गया तथा इसके उपबन्ध पुरुष-श्रमिकों (वयस्क) पर लागू किए गए।

खनन उद्योग में कार्य की दशाओं के नियमन हेतु सर्वप्रथम 1905 में 'खान अधिनियम' पारित किया गया था, जो सेवायोजकों के विरोध के कारण 1916 से पूर्व लागू नहीं हो पाया। यह अधिनियम 1926, 1928, 1930 और 1933 में संशोधित किया गया। सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था हेतु सर्वप्रथम 1922 में 'स्वास्थ्य-बीमा अधिनियम' पारित किया गया। अधिनियम की व्यवस्थाएँ (जनवरी 1927 से) उन समस्त औद्योगिक श्रमिकों पर लागू की गईं जो खानअधिनियम एवं कारखाना अधिनियम की परिधि में सम्मिलित थे। 1936 में पारित 'बेरोजगारी बीमा अधिनियम' उन समस्त खानों और कारखानों पर लागू किया गया, जिनमें कम से कम 50 श्रमिक काम करते थे। अधिनियम की परिधि में केवल मजदूरी-अर्जक ही आते थे, वेतनभोगी नहीं। 1941 के 'रोजगार विनिमालय अधिनियम' तथा 1922 के 'नाविक रोजगार विनिमालय अधिनियम' के अन्तर्गत देशभर में रोजगार कार्यालयों की स्थापना की गई थी।

द्वितीय महायुद्ध के बाद श्रम-सन्नियम · द्वितीय महायुद्ध से पहले जापान में औद्योगिक श्रमिकों को संरक्षण प्रदान करने से सम्बन्धित (विशेषकर उनकी मजदूरी एवं कार्यदशाओं के नियमन से सम्बन्धित) जो कानून विद्यमान थे; उनका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था; उनके द्वारा निर्धारित संरक्षण का स्तर अत्यन्त नीचा था तथा उन्हें लागू करने में कड़ाई नहीं बरती जाती थी। द्वितीय महायुद्ध के दौरान समस्त श्रम-सन्नियम समाप्त कर दिए गए तथा श्रमिकों पर कठोर नियन्त्रण लगाया गया। सेवायोजक की अनुमति के बिना श्रमिक अपना काम छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकते थे। श्रमिकों के काम के घन्टे भी बढ़ा दिए गए। इस तरह, महायुद्ध काल में श्रमिकों की स्थिति अत्यन्त दमनीय हो गई थी। लॉकऊड (Lockwood) के शब्दों में, "युद्धकालीन आवश्यकताओं से उत्पन्न राजनीतिक प्रतिक्रिया ने श्रम-संरक्षण के अधिकांश ढाँचे को छिन्न-भिन्न कर दिया था।"

1945 में आत्म-समर्पण करने के बाद जापान में सैनिक शासन की स्थापना हुई। सैनिक शासन ने जापानी व्यवस्था को जनतान्त्रिक बनाने के उद्देश्य से श्रम-संघवाद को पुनर्जीवित किया। श्रमिकों को संघ बनाने, सामूहिक सौदेबाजी करने तथा हड़तालें आयोजित करने का अधिकार दिया गया। श्रमिकों को संरक्षण प्रदान करने के लिए सैनिक शासन ने निम्न श्रम-सन्नियम निर्मित किए—

(1) **श्रम संघ अधिनियम**—दिसम्बर 1945 में पारित यह अधिनियम गैर-सरकारी उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों को संगठन बनाने, सामूहिक सौदेबाजी करने

तथा हड़ताल करने का अधिकार प्रदान करता है। इस सम्बन्ध में आवश्यक नियमावली भी निर्धारित की गई है।

(2) **श्रम-संघ समायोजन अधिनियम**—1946 में पारित यह अधिनियम गैर-सरकारी उद्योगों में समझौता (Conciliation), मध्यस्थता (Mediation) एवं विवाचन (Arbitration) की प्रक्रिया निर्धारित करता है अर्थात् विवादों के निपटारे की कानूनी व्यवस्था करता है।

(3) **लोक निगम श्रम-सम्बन्ध कानून**—1948 में निर्मित यह कानून सरकारी नियमों एवं राष्ट्रीय रेलों में कार्यरत श्रमिकों को संगठन बनाने तथा सामूहिक सौदेबाजी करने का अधिकार देता है, किन्तु हड़ताल करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगता है। हड़ताल के बदले में यह विवाद के निपटारे हेतु अनिवार्य विवाचन की व्यवस्था करता है।

(4) **राष्ट्रीय लोक सेवा कानून**—1947 में निर्मित इस कानून की व्यवस्थाएँ सरकारी निगमों तथा राष्ट्रीय रेलों में संलग्न श्रमिकों के अलावा दूसरे सरकारी कर्मचारियों पर लागू होता है। यह कानून राष्ट्रीय लोक सेवाओं में संलग्न कर्मचारियों को संगठन बनाने का अधिकार तो देता है, किन्तु सामूहिक सौदेबाजी करने एवं हड़ताल करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाता है।

(5) **स्थानीय लोक सेवा कानून**—1947 में निर्मित यह कानून सभी प्रकार के अनिच्छापूर्ण दासत्व का उन्मूलन करता है तथा रोजगार की शर्तें निर्धारित करता है। अधिनियम के अनुसार, औद्योगिक श्रमिकों से प्रतिदिन 8 घण्टे और प्रति सप्ताह 48 घण्टे (अधिकतम) काम लिया जा सकता है। अधिनियम में श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा, सवैतनिक अवकाश तथा स्त्रियों एवं बच्चों के रोजगार से सम्बन्धित व्यवस्थाएँ भी सम्मिलित हैं।

(6) **रोजगार सुरक्षा कानून**—1947 में निर्मित यह कानून रोजगार कार्यालयों की स्थापना, व्यावसायिक मार्गदर्शन एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है। यह श्रमिकों की भर्ती में अलोकतान्त्रिक तरीकों के प्रयोग पर रोक लगाता है।

(7) **बेरोजगारी बीमा कानून**—1949 में निर्मित इस कानून के अन्तर्गत जापान में बेरोजगारी बीमा योजना लागू की गई है। योजना का लाभ उन श्रमिकों को मिलता है, जो विगत 12 महीनों में बीमान्वित श्रमिक के रूप में कम से कम 6 महीने किसी संस्थान में कार्य कर चुके हों; वर्तमान में बेरोजगार हों, यद्यपि काम करने के लिए तत्पर हों।

(8) **श्रमिक दुर्घटना क्षतिपूर्ति कानून**—1947 में निर्मित यह कानून खतरनाक व्यवसायों में संलग्न श्रमिकों पर लागू होता है। अधिनियम के अन्तर्गत व्यावसायिक रोग या दुर्घटना से ग्रस्त श्रमिकों के लिए क्षतिपूर्ति मिलने की व्यवस्था है। क्षतिपूर्ति के भुगतान का पूर्ण दायित्व सेवायोजकों पर है।

जापानी श्रम-सन्नियमों में निर्धारित श्रम-मानक (Labour Standards) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन की सिफारिशों के अनुरूप हैं। श्रम-सन्नियमों का जापानी अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक लाभदायक प्रभाव पड़ा है। विगत वर्षों में जापान की सम्पूर्ण जनसंख्या को सामाजिक बीमा एवं सामाजिक सुरक्षा की व्यापक व्यवस्था के अन्तर्गत लाया गया है।

12

युद्धोत्तरकालीन जापानी अर्थव्यवस्था

(Japanese Economy: Post-war Period)

प्रश्न 1—युद्धोत्तरकाल में जापानी अर्थव्यवस्था की प्रगति की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। इस प्रगति का भविष्य क्या है ?

Discuss in brief the progress of Japanese economy in post-war period. What is the future of this progress ?

उत्तर—1868 में मेजी पुनर्सस्थापन से पूर्व जापान आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ देश था। जापान की कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था 'गतिहीनता' एवं 'दरिद्रता' का शिकार थी। जापानी किसानों की स्थिति अमेरिकी दासों से भी बदतर थी। आधुनिक किस्म के उद्योगों का नितान्त अभाव था। शासकों की एकान्त-वासी नीति के कारण जापान का विदेशी व्यापार नहीं के बराबर था। परिवहन एवं संचार की व्यवस्था पिछड़ी हुई थी। समाज में आय एवं सम्पत्ति का वितरण अत्यधिक विषम था। ऊँची जन्म-दर एवं ऊँची मृत्यु-दर के कारण जनसंख्या लगभग स्थिर बनी हुई थी। मेजी पुनर्सस्थापन के पश्चात् जापानी अर्थव्यवस्था का विकास आरम्भ हुआ तथा बहुत थोड़े समय में जापान ने इतनी अधिक उन्नति कर ली, जितनी उन्नति करने में पश्चिमी देशों को शताब्दियों का समय लगा था। अधिकांश विद्वानों की राय में जापान की आर्थिक उपलब्धियाँ इतनी विलक्षण लगती हैं कि उनकी तार्किक व्याख्या अत्यन्त कठिन है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जापान की आर्थिक प्रगति—दूसरे महायुद्ध से पहले आर्थिक प्रगति के क्षेत्र में जापान पश्चिमी देशों से किसी भी तरह कम नहीं था। उसका औद्योगिक उत्पादन, उसका विदेशी व्यापार, उसकी परिवहन एवं संचार व्यवस्था, उसकी राष्ट्रीय आय एवं प्रतिव्यक्ति औसत आय उन्नति के शिखर पर थीं। परन्तु द्वितीय महायुद्ध जापानी अर्थव्यवस्था के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। युद्ध में पराजय के साथ-साथ जापान के अधिकांश औद्योगिक एवं वाणिज्यिक संस्थान नष्ट हो गए; बड़े-बड़े नगर वीरान हो गए; जहाजरानी पूर्णतः नष्ट हो गई तथा निर्यात-व्यापार लगभग समाप्त हो गया। 1945 में आत्म-समर्पण के पश्चात् जापान पर मित्र-राष्ट्रों का सैनिक शासन स्थापित हुआ। जापान के सभी उपनिवेश समाप्त हो गए। उत्पादन की सुविधाओं में भारी कमी हो गई। खाद्य-पदार्थों की पूर्ति घटकर न्यूनतम स्तर पर आ गई तथा औद्योगीकरण के फलस्वरूप एकत्रित राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक-तिहाई भाग समाप्त हो गया। 1935 की अपेक्षा 1946 में जापान का औद्योगिक उत्पादन 27·6 प्रतिशत कम था।

युद्धोत्तरकाल में जापान का द्रुत गति से आर्थिक विकास आरम्भ हुआ। 1951 तक जापान का औद्योगिक उत्पादन बढ़कर युद्ध-स्तर पर आ गया। 1955 में यह युद्ध-पूर्व स्तर का 153·6 प्रतिशत तथा 1960 में 349·6 प्रतिशत हो गया। स्थिर कीमतों के आधार पर जापान के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में 1953-60 के दौरान 9·1 प्रतिशत तथा 1960-64 के दौरान 10·8 प्रतिशत वार्षिक दर (औसतन) से वृद्धि हुई। अकेले वर्ष 1967 में यह 13·7 प्रतिशत की दर से बढ़ा। इसके विपरीत, मेजी शासनकाल से लेकर द्वितीय महायुद्ध तक जापान के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में 4·5 प्रतिशत वार्षिक दर (औसतन) से वृद्धि हुई थी। 1960-80

के दौरान जापान का सकल राष्ट्रीय उत्पाद 7·1 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ा। निम्न तालिका युद्धोत्तरकाल में जापान के सकल राष्ट्रीय उत्पादन एवं प्रति व्यक्ति आय की वृद्धिशील प्रवृत्ति दर्शाती है—

वर्ष	सकल राष्ट्रीय उत्पाद (मिलियन अमेरिकी डॉलर)	प्रतिव्यक्ति आय (अमेरिकी डॉलर)
1950	109	123
1956	240	198
1960	430	356
1965	884	707
1960	1,992	1,646
1974	4.517	3,594
1980	10,308	8,810

अग्र तालिका से संसार के प्रमुख देशों की तुलना में जापान की युद्धोत्तर-कालीन आर्थिक प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है—

देश	जनसंख्या मिलियन में (1980)	प्रतिव्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद अमेरिकी डॉलर में (1984)	औसत वार्षिक वृद्धि-दर (1960-84)	औसत जीवन-अवधि वर्षों में (1980)
यू० एम० ए०	228	16,400	2·2	74
ग्रेट ब्रिटेन	56	9,550	2·0	73
पश्चिमी जर्मनी	61	10,940	3·1	75
सोवियत संघ	266	6,550	4·0	71
जापान	117	11,330	6·1	76
भारत	673	250	1·3	57

युद्धोत्तरकाल में जापानी अर्थव्यवस्था का परिवर्तित व्यावसयिक ढाँचा तथा राष्ट्रीय आय में विभिन्न क्षेत्रों का परिवर्तित अंशदान इसकी द्रुत प्रगति के प्रतीक है। 1960 में जापान की 33 प्रतिशत श्रम शक्ति कृषि-क्षेत्र में, 30 प्रतिशत श्रमशक्ति औद्योगिक क्षेत्र में तथा 37 प्रतिशत श्रमशक्ति सेवा-क्षेत्र में संलग्न थी। 1984 तक कृषि-क्षेत्र में संलग्न श्रमशक्ति का अनुपात घटकर 12 प्रतिशत रह गया, किन्तु औद्योगिक क्षेत्र एवं सेवा-क्षेत्र में संलग्न श्रमशक्ति का अनुपात बढ़कर क्रमशः 39 प्रतिशत और 49 प्रतिशत हो गया। इस वर्ष जापान के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में कृषि-क्षेत्र, उद्योग-क्षेत्र एव सेवा-क्षेत्र का अंशदान क्रमशः 4 प्रतिशत 42 प्रतिशत और 54 प्रतिशत रहा। व्यावसायिक ढाँचे में उपस्थित इस परिवर्तन का प्रतिव्यक्ति आय पर अनुकूल प्रभाव पड़ा है। यद्यपि 1960 और 1984 के बीच जापानी जनसंख्या 96 मिलियन से बढ़कर 120 मिलियन हो गई, तथापि यहाँ प्रतिव्यक्ति आय 420 अमेरिकी डॉलर से बढ़कर 11,330 अमेरिकी डॉलर हो गई। स्वास्थ्य-सुविधाओं एवं खान-पान के ऊँचे स्तर के कारण जापान में औसत जीवन-अवधि सबसे अधिक तथा मृत्यु दर एवं बाल-मृत्यु दर सबसे नीची हैं।

युद्धोत्तरकाल में जापानी औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की दर संसार के अधिकांश देशों से अधिक रही है। 1953-60 के बीच जापान के औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की औसत वार्षिक दर 10·9 प्रतिशत रही; जबकि पश्चिमी जर्मनी में 8·5 प्रतिशत, फ्रांस में 7·9 प्रतिशत, ग्रेट ब्रिटेन में 2·7 प्रतिशत, सोवियत रूस में 11·7 प्रतिशत तथा यूगोस्लाविया में 16·7 प्रतिशत रही। संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट के अनुसार, 1858-67 के बीच (10 वर्षों में) जहाँ जापान के औद्योगिक उत्पादन में 245 प्रतिशत की वृद्धि हुई; वहीं सोवियत रूस, इटली, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन के औद्योगिक उत्पादन में क्रमश: 121 प्रतिशत, 113 प्रतिशत, 17 प्रतिशत तथा 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1960-70 के बीच जापान का औद्योगिक उत्पादन 10·9 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ा; जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और सोवियत संघ का औद्योगिक उत्पादन क्रमश: 4·9 प्रतिशत, 3·2 प्रतिशत तथा 4·4 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ पाया। 1970-80 के बीच जापान में औद्योगिक विकास की वार्षिक दर 5·5 रही; जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में 1·2 प्रतिशत, ग्रेट ब्रिटेन में 0·7 प्रतिशत तथा सोवियत संघ में 3·5 प्रतिशत वार्षिक रही। जापान में टिकाऊ उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन भी तेजी से बढ़ा है, जिससे जापानियों का रहन-सहन का स्तर उन्नत हुआ है। आजकल समुद्री जहाजों, रेडियो एवं टेलिविजन के उत्पादन में जापान का संसारभर में प्रथम स्थान है, मोटरवाहन एवं रबड़ की वस्तुओं के उत्पादन में दूसरा स्थान है तथा सीमेन्ट, लोहा एवं सीमेन्ट के उत्पादन में तीसरा स्थान है। आश्चर्य की बात यह है कि जापान का औद्योगीकरण प्राकृतिक संसाधनों की न्यूनता के बावजूद, सम्भव हुआ है।

कृषि-उत्पादन के क्षेत्र में भी जापान की प्रगति उत्साहवर्द्धक रही है। 1960-70 के बीच जापान में कृषि-उत्पादन 4 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ा; जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में 0·3 प्रतिशत तथा पश्चिमी जर्मनी में 1·5 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ पाया। कृषि-योग्य भूमि की स्वल्पता के कारण यद्यपि जापान में कृषि-जोतों का औसत आकार बहुत छोटा है, किन्तु भूमि की उत्पादकता का स्तर (प्रति हैक्टेयर उत्पादन) बहुत ऊँचा है। इसका प्रमुख कारण कृषि का अत्यधिक यन्त्रीकरण तथा सघन कृषि-पद्धति का प्रयोग है। जापान के 80 प्रतिशत किसान अपनी जोत के आकार के अनुसार छोटे-छोटे आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग करते हैं। जापानी धान की खेती विश्व-प्रसिद्ध है तथा जापान में प्रति हैक्टेयर चावल का उत्पादन संसारभर में अधिक है।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान जापान का निर्यात-व्यापार लगभग समाप्त हो गया था, किन्तु युद्धोत्तरकाल में उसका निर्यात-व्यापार तेजी से बढ़ा है। 1956 में जापानी निर्यात-व्यापार का मूल्य 250 अमेरिकी डॉलर के तुल्य था, जो 1980 में बढ़कर 12,920 अमेरिकी डॉलर के तुल्य हो गया अर्थात् 40 गुनी वृद्धि हुई। डॉ० ओकिता (Okita) के अनुसार, 1965 तक जापान और भारत के निर्यात-व्यापार मूल्य की दृष्टि से लगभग समान थे, किन्तु 1966 से लेकर 1977 तक जहाँ भारत की निर्यात-आय में केवल 40 प्रतिशत की वृद्धि हो पाई, वहीं जापान की निर्यात आय में 600 प्रतिशत की वृद्धि हुई। सम्पूर्ण विश्व-व्यापार में युद्धोत्तर-कालीन जापान का हिस्सा निरन्तर बढ़ रहा है।

इलैक्ट्रॉनिक वस्तुओं का सबसे बड़ा उत्पादन राष्ट्र बन चुकने के बाद जापान अब प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी तेजी से आगे बढ़ता जा रहा है। द्रुत आर्थिक विकास के बावजूद, अन्य देशों की अपेक्षा जापान में मुद्रा-स्फीति की दर अधिक नीची रही है अर्थात् कीमतें अधिक स्थिर रही हैं। अमेरिकी लेखक एजरा बोगेल (Ezra vogel) की राय में जापानी व्यक्ति, जो सम्पूर्ण विश्व की जनसख्या के मात्र 3 प्रतिशत हैं तथा सम्पूर्ण विश्व के मात्र 0·3 प्रतिशत भू-क्षेत्र में निवास करते हैं, संसार की 10 प्रतिशत आर्थिक क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि जापानी सफलता की गाथा उस द्वीप के निवासियों द्वारा पूर्ण की गई है, जिसके पास व्यावहारिक दृष्टि मे कोई भी प्राकृतिक संसाधन नहीं है।

जापान की आर्थिक प्रगति का भविष्य—यदि जापान में आर्थिक प्रगति की की वर्तमान दर जारी रहती है, तब कोई आश्चर्य नहीं कि कुछ ही समय के भीतर जापान आर्थिक प्रगति का नया कीर्तिमान स्थापित करते हुए, संयुक्त राज्य अमेरिकी से भी आगे निकल जाए। अमेरिकी अर्थशास्त्री हरमैन काहन (Herman Kahn) के अनुसार, "21 वीं शताब्दी 'जापान की शताब्दी' होगी।" नावोकी तानका (Naoki Tanaka) के शब्दों में, "जापान का भविष्य सूक्ष्य कम्प्यूटरों में निहित है। रोबोट के निर्माण में यह पहले ही अगुवाई कर चुका है।"

जापान के सकल राष्ट्रीय उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हो रही है। यदि विदेशी बाजारों में जापान अपनी प्रतियोगात्मक शक्ति बढ़ा लेता है, तब निकट भविष्य में उसके विकास की गति धीमी पड़ने की कोई सम्भावना नहीं है। कुछ विद्वानों की राय है कि जब जापान प्रौद्योगिकी के सम्बन्ध में पश्चिमी देशों की बराबरी कर लेगा, तब उसके विकास की गति निश्चय ही धीमी पड़ जाएगी। भविष्य में कच्चे-माल एवं ऊर्जा की कमी हो जाने से भी विकास की गति मन्द पड़ जाने की सम्भावना व्यक्त की जा रही है। नार्मन मैकरे ने इन सम्भावनाओं को मिथ्या ठहराते हुए बिल्कुल नई सम्भावना व्यक्त की है। उनका अनुमान है कि यदि कभी जापान में साम्यवादी दल की सरकार बनती है, तब निश्चय ही उच्च विकास की दर मन्द पड़ जाएगी।

प्रश्न 2—युद्धोत्तरकाल में जापान के द्रुत आर्थिक विकास के पीछे कारण क्या हैं ?

What are the factors behind Japan's rapid economic growth in the post-war period ?

अथवा

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आर्थिक शक्ति के रूप में जापान के उदय के कारणों का परीक्षण कीजिए।

Examine the causes of the rise of Japan as economic power after second world war.

उत्तर—दूसरे महायुद्ध के दौरान जापान की पराजय के साथ-साथ उसकी अर्थव्यवस्था भी पूर्णतः ध्वस्त हो गई थी। युद्धोत्तरकाल में जापान का द्रुत गति

से आर्थिक विकास आरम्भ हुआ तथा बहुत थोड़े समय में वह संसार का समृद्धिशाली राष्ट्र बन गया। जापान की अपनी कमजोरियाँ (भूमि की कमी, कच्चे-माल का अभाव, जनसंख्या की अधिकता, आदि) ही छिपे रूप में उसके लिए वरदान सिद्ध हुईं। जापान की द्रुतगति से आर्थिक प्रगति के लिए उत्तरदायी कारणों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(अ) युद्धोत्तरकालीन कारण तथा (ब) दीर्घकालीन कारण।

(अ) **युद्धोत्तरकालीन कारण**—यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् लगभग सभी प्रमुख देशों में विकास की तीव्र रही, किन्तु विकास की दर उन देशों में सर्वाधिक थी, जिनका उत्पादन युद्ध के परिणामस्वरूप अत्यधिक घट गया था। जापान के साथ भी यही बात लागू हुई। निम्न युद्धोत्तरकालीन परिस्थितियाँ जापान के द्रुत आर्थिक विकास हेतु उत्तरदायी बनीं—

(1) **पुनर्वास-सम्बन्धी कारण**—द्वितीय महायुद्ध के दौरान जापान के अधिकांश औद्योगिक एवं वाणिज्यिक प्रतिष्ठान नष्ट हो गए थे। अतः युद्धोत्तरकाल में औद्योगिक पुनर्निर्माण पहला आवश्यक कार्य बन गया, जो 1952 तक पूरा कर लिया गया।

(2) **सैनिक व्यय में भारी कमी**—युद्धोत्तरकाल में लागू नए संविधान के अनुसार जापान को सेना रखने की अनुमति नहीं थी। केवल आत्म-रक्षा के लिए थोड़ी-बहुत सेना रक्खी जा सकती थी। इससे जापान के सैनिक व्यय में भारी गिरावट आई। कुल सरकारी व्यय में सैनिक व्यय का अनुपात जहाँ 1940 में 63·8 प्रतिशत था, वह 1960 में घटकर केवल 5·9 प्रतिशत रह गया अर्थात् 1952 में विदेशी शासन की समाप्ति के बाद भी जापान में प्रतिरक्षा-व्यय का अनुपात नीचा बना रहा। प्रतिरक्षा-व्यय घट जाने के कारण विकास कार्यों में निवेश हेतु अधिक साधन उपलब्ध हुए, जो विकास की गति तीव्र बनाने में सहायक हुए।

(3) **श्रम-संघवाद, भूमि-सुधार एवं मुद्रा-स्फीति की भूमिका**—युद्धोत्तरकालीन जापान में सैनिक शासन ने अपनी आर्थिक जनतन्त्रीकरण की नीति के अन्तर्गत जायबत्सू सरीखे एकाधिकारी संगठन विघटित कर दिए; भूमि-सुधार का व्यापक कार्यक्रम लागू किया तथा श्रम-संघों को पुनर्जीवन प्रदान किया। भूमि-सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत लगभग 50 लाख एकड़ भूमि अनुपस्थित भूस्वामियों से छीनकर वास्तविक रूप से खेती करने वाले व्यक्तियों के बीच बाँटी गई। जमींदारों के अधिकार की लगभग तीन-चौथाई भूमि काश्तकारों को दे दी गई। भूमि पर स्वामित्व का अधिकार मिल जाने से किसानों को अधिक परिश्रम करने की प्रेरणा प्राप्त हुई, जिसका कृषि-उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। श्रम-संघों को पुनर्जीवन प्राप्त होने से जापान में प्रतियोगिता पर आधारित अर्थव्यवस्था विकसित हुई, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को विकास-कार्य में भागीदार बनने का अवसर प्राप्त हुआ। श्रम-कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्थाओं से श्रम की उत्पादकता में वृद्धि हुई।

श्रमिकों और किसानों की आय बढ़ने से जापान के घरेलू बाजार का विस्तार हुआ, जिससे युद्धोत्तरकालीन पुनर्निर्माण को पर्याप्त बल मिला। प्रारम्भिक वर्षों में एक ओर विनियोग के विस्तार तथा दूसरी ओर वस्तुओं की न्यूनता के कारण कीमत-वृद्धि (मुद्रा-स्फीति) की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई, किन्तु इस प्रवृत्ति ने परोक्ष रूप से

आर्थिक [illegible] वस्तुओं की न्यूनता एवं मौद्रिक आय की अधिकता [illegible] पूंजी-निर्माण का गति प्रदान की। यद्यपि 1949 से सैनिक शासन द्वारा स्फीति-विरोधी नीति का अनुकरण किया जाने लगा था, किन्तु कोरियाई युद्ध के चलते 1951 तक जापान में मुद्रा-स्फीति की दशा बनी रही।

(4) **तकनीकी प्रगति**—1955 से लेकर 1959 तक जापान में तकनीकी नवप्रवर्त्तन का युग रहा। औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में नई-नई तकनीकी अपनाई गईं। जायबत्सू नामक संस्थाओं के विघटन तथा एकाधिकार-विरोधी कानूनों से तकनीकी प्रगति को विशेष बल मिला। तकनीकी प्रगति के फलस्वरूप जापान के सभी प्रमुख उद्योगों (लोहा एवं इस्पात, मशीनरी, सूतीवस्त्र, पैट्रो-रसायन तथा विद्युत का सामान) की उल्लेखनीय प्रगति हुई।

(5) **श्रम-शक्ति में वृद्धि**—युद्ध-पूर्व काल की अपेक्षा युद्धोत्तरकाल में जापान की श्रम-शक्ति अधिक तीव्र गति से बढ़ी। युद्ध-पूर्व काल में कृषि-पर आश्रित जन-संख्या लगभग स्थिर थी, किन्तु युद्धोत्तरकाल में वह निरन्तर घटने लगी। जापान में कृषकों की कुल संख्या 1950 में 151 लाख से घटकर 1955 में 149 लाख तथा 1960 में 132 लाख रह गई। कृषि-क्षेत्र की फालतू श्रमशक्ति औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश करने लगी, जिससे औद्योगिक विस्तार में सहायता प्राप्त हुई। प्राथमिक क्षेत्र में संलग्न श्रमशक्ति का अनुपात 1955 में 40·2 प्रतिशत से घटकर 1980 में मात्र 12 प्रतिशत रह गया। इसके विपरीत, द्वितीयक क्षेत्र में संलग्न श्रमशक्ति का अनुपात 24 प्रतिशत से बढ़कर 39 प्रतिशत हो गया तथा तृतीयक क्षेत्र में संलग्न श्रम-शक्ति का अनुपात 35·8 प्रतिशत से बढ़कर 49 प्रतिशत हो गया। व्यावसायिक ढाँचे में उपस्थित इस परिवर्तन का राष्ट्रीय उत्पादन एवं प्रतिव्यक्ति औसत आय पर अनुकूल प्रभाव पड़ा है।

(6) **सरकारी सहायता**—युद्धोत्तरकालीन जापान के आर्थिक विकास में सरकारी सहायता का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। 1947 में सैनिक शासन ने 'पुनर्निर्माण वित्त बैंक' की स्थापना की, जिसने 1947 और 1948 के दो वर्षों में कोयला, विद्युतशक्ति एवं जहाजरानी उद्योगों को 132 बिलियन येन की ऋण-सहायता प्रदान की (1949 में इस बैंक ने काम करना स्थगित कर दिया था)। इसके अतिरिक्त, जून 1951 तक अमेरिकी सरकार ने जापान को 2 बिलियन डालर की सहायता प्रदान की, जिससे जापानी अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण एवं विकास को गति मिली युद्धोत्तरकाल में जापानी सरकार ने अपनी कराधान नीति द्वारा भी आर्थिक विकास को प्रोत्साहन प्रदान किया। इस दिशा में सरकार ने कई महत्वपूर्ण उपाय किये, जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(i) **परिसम्पत्तियों का पुनर्मूल्यन**—अत्यधिक मुद्रा-स्फीति के कारण, स्थायी आदेयों के मूल्यों को अपरिवर्तित छोड़ देने पर, उद्योगपतियों के लाभ एवं घिसावट-व्यय का निबल मूल्य घट जाने की आशंका थी। अतः 1950-51 और 1952-53 में सरकार ने आदेयों के पुनर्मूल्यन की व्यवस्था की।

(ii) **असाधारण घिसावट की व्यवस्था**—औद्योगिक उपक्रमों में आधुनिकीकरण एवं निवेश-वृद्धि को बढ़ावा देने के उद्देश्य से व्यवसाइयों को अपने स्थायी आदेयों, जैसे—कारखाने की मशीनों एवं समुद्री जहाजों के लिये तीन वर्ष तक 50 प्रतिशत घिसावट-व्यय के आयोजन की सुविधा दी गई।